आधुनिक समीक्षा

डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र
एम० ए०, पीएच० डी०
रीडर एवं अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग; आगरा कॉलेज आगरा

साहित्यसदन, देहरादून

प्रकाशक :
साहित्यसदन
देहरादून

प्रथम संस्करण :
१९७२

मूल्य :
सजिल्द : बीस रुपये
छात्र संस्करण : बारह रुपये पचास पैसे

मुद्रक :
साहित्यसदन मुद्रणालय
४१, मालवीय रोड,
देहरादून

आधुनिक समीक्षा

क्रम

दो शब्द

पिछले दो दशकों में हिन्दी-समीक्षा ने विभिन्न दिशाओं में पर्याप्त प्रगति कर ली है। उसमें समीक्षा के नये दृष्टिकोणों एवं शैलियों का विकास हुआ है। समीक्षा के क्षेत्र में नई प्रतिभाओं ने पदार्पण किया है। 'नई समीक्षा' के नाम से एक नवीन समीक्षा-सम्प्रदाय तथा नई चिन्ताधारा का उन्मेष और विकास हुआ है। सौष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी पूर्ववर्ती समीक्षा-सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों एवं समीक्षा-शैलियों में पर्याप्त उदारता तथा विस्तार के दर्शन होने लगे हैं। इन सम्प्रदायों के पुराने समीक्षकों तथा नये आलोचकों के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ इन दो दशकों में सामने आये हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विशद, व्यापक, वैज्ञानिक और तलस्पर्शी हो गई है। पारस्परिक मतभेदों तथा पूर्वाग्रहों को कम करके एक सर्वमान्य मानदण्ड की प्रतिष्ठा के लिए सभी सम्प्रदायों के समीक्षक इन दो दशकों में पर्याप्त सचेष्ट रहे। समीक्षा के एक व्यापक मानदण्ड की प्रतिष्ठा को काफी गति और सफलता मिली है। समीक्षा-शैली में स्तुत्य निखार आया है।

हिन्दी-समीक्षा को सुपुष्ट आधार एवं वैज्ञानिक शैली सर्वप्रथम शुक्लजी से ही प्राप्त हुए, अत: एक प्रकार से हिन्दी-समीक्षा के व्यवस्थित इतिहास का प्रारम्भ शुक्लजी से ही मान लेना भी असमीचीन नहीं। इस युग को समीक्षा तथा उसके मूल्यांकन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। अध्ययन की दृष्टि से इसकी उपादेयता भी अपेक्षाकृत अधिक ही है। 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास'

के प्राय: आधे भाग में इसी युग का मूल्यांकन है। अतः उपादेयता एवं अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पाठकों तथा मित्रों का इस भाग को पृथक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर देने का सुझाव पिछले दो-एक वर्षों से चल रहा था। इसी सुझाव और आग्रह का परिणाम है—'आधुनिक समीक्षा'।

आशा है सुधी पाठक इसका हृदय से स्वागत करेंगे।

—भगवत्स्वरूप मिश्र

रीडर-अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
आगरा कालेज, आगरा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जिस आलोचना-पद्धति का जन्म ईसा की वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था, शुक्ल जी के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही वह अपने जीवन-काल के प्राय: बीस-पच्चीस वर्ष बिता चुकी थी। इस बीच में मासिक, दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में आलोचना के पर्याप्त प्रयास हुए। 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' जैसे बृहद्काय ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए और 'वेणी-संहार की आलोचना' जैसी छोटी पुस्तिका भी। कई-एक कवियों के तुलनात्मक अध्ययन भी हुए। पर इन सब आलोचना-पद्धतियों में विकास के तत्वों का अभाव था। आलोचक अन्धकार में आलोचना का मार्ग खोज रहा था, इसलिए वह कभी प्रशंसा को आलोचना समझता था तो कभी दोष-दर्शन को। उसने कवियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेक बार प्रौढ़ सहृदयता का भी परिचय दिया, पर ऐसे किसी मार्ग का वह अवलम्बन नहीं कर सका जो उसे तथा परवर्ती आलोचकों को बहुत दूर तक ले जा सकता। अंग्रेजी के विद्वानों ने विभिन्न कालों और परिस्थितियों में किए गए आलोचना के अर्थों का निर्देश किया है। इनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—१. दोष-दर्शन, २. गुण-कथन, ३. निर्णय, तथा ४ तुलना। आलोचना के इन अर्थों में कोई विशेष काल-क्रम तो नहीं स्थापित किया जा सकता, पर आलोचना के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। यह क्रमिक विकास एक आलोचक में भी हो सकता है और किसी भाषा के सम्पूर्ण समीक्षा साहित्य का भी इस विकास की दृष्टि से अध्ययन हो सकता है। वैसे समीक्षा के उपर्युक्त अर्थ कुछ ऐसे व्यापक हैं कि किसी भी काल, आलोचक और साहित्य में इनका नितान्त अभाव नहीं पाया जाता। विश्लेषणात्मक आलोचक भी कभी-कभी प्रसंगवश, प्रशंसा, दोष-दर्शन अथवा तुलना आदि पद्धतियों का उपयोग करने लग

जाता है। कई शताब्दियों के विकास के उपरान्त भी भाषाओं के समीक्षा-साहित्य में इन तत्वों के दर्शन हो जाते हैं। इस प्रकार इन अर्थों में निश्चित काल-क्रम का निर्धारण समीचीन नहीं। फिर भी प्रत्येक आलोचक अथवा सम्पूर्ण साहित्य के विकास में एक ऐसी अवस्था, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में, आती है जब इनमें से किसी एक अर्थ को ही आलोचना का वास्तविक स्वरूप समझा जाता है। उस समय दृष्टिकोण वहीं तक सीमित रहता है। इस दृष्टि से ये अर्थ समीक्षा के विकास में मनोवैज्ञानिक स्तर (Psychological stage) भी माने जा सकते हैं। कभी-कभी विकास की ये अवस्थाएं अत्यन्त स्पष्ट और पर्याप्त लम्बी होती हैं और उस समय इनमें काल-क्रम का निर्धारण भी संभव है। शुक्लजी के पूर्व तक हिन्दी-आलोचना का विकास इन्हीं अर्थों को आलोचना का प्रकृत स्वरूप मानकर चलता रहा। ये हिन्दी-आलोचक के मानसिक विकास तथा हिन्दी-समीक्षा के विकास की विभिन्न अवस्थाएं मानी जा सकती हैं। आलोचना का जो वास्तविक और आधुनिकतम अर्थ-विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction) हैं, जिनमें आलोचक की तटस्थता का तत्व भी अन्तर्भूत है, उस समय अज्ञात था। इन अर्थों के साथ हिन्दी-साहित्य में पदार्पण करके समीक्षा की निश्चित पद्धति को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही है। इनके पूर्व 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इसकी कभी-कभी झलक मिल जाया करती थी, लेकिन इसको समर्थ आलोचक के रूप में आश्रय देने वाले प्रथम आलोचक आचार्य शुक्ल ही हुए हैं।

पहले जिन आलोचना-पद्धतियों के सम्बन्ध में विचार हुआ है, उससे स्पष्ट है कि अभी तक हिन्दी-समीक्षा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थी। उसमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य था। आलोचक अपनी आलोच्य वस्तुओं के गुण-दोषों का निर्देश भर कर देते थे। उसकी प्रशंसा करने में अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का उपयोग करते थे जिसमें चिन्तन की गम्भीरता और प्रौढ तर्क का नितान्त अभाव था। अब तक रस तथा अलंकार आदि तत्वों के आधार पर ही काव्यों का विवेचन हुआ था। काव्य के ये तत्व भारतीय साहित्य-चिन्तन की अमूल्य देन हैं। ये सर्वकालीन और सार्वदेशिक मान के तत्वों के रूप में स्वीकृत होने के लिए पूर्णतः उपयुक्त हैं। आज भी ये तत्व हिन्दी के ही नहीं, अपितु सभी भारतीय भाषाओं में साहित्य-समीक्षा के मूल आधार हैं। हिन्दी-साहित्य की आधुनिकतम समीक्षा भी इन प्राचीन तत्वों से मुक्त नहीं है, पर शुक्लजी के पूर्व तक इन तत्वों का स्थूल रूप ही ग्राह्य हुआ। इन तत्वों के बाह्य स्वरूप से ही तत्कालीन समालोचक परिचय प्राप्त कर सका था। इनकी

आत्मा से वह अनभिज्ञ ही था। इसलिए ये मान जड़ (Rigid) हो गए और इनके आधार पर की गई आलोचना केवल परम्पराभुक्त और निर्णयात्मक ही रह गई। इन आलोचकों ने इस प्रतिमान का अपनी आलोच्य वस्तु पर आरोपमात्र कर दिया। अमुक छन्द में शृङ्गार रस है और अमुक छन्द में इतने अलंकार हैं,' केवल इसी प्रकार की आलोचना हुई। जिस छन्द में अधिक-से-अधिक इन काव्यांगों का, उक्ति-चमत्कार के विभिन्न स्वरूपों का निर्देश किया जा सकता था, वह छन्द उतना ही श्रेष्ठ माना जाता था। आलोचक का ध्यान काव्य की आत्मा की ओर तो बिलकुल भी नहीं था। उस भाव-सौंदर्य को देखने का प्रयत्न आलोचकों ने कभी नहीं किया, जिसके कारण कोई छन्द सहृदयजन-श्लाघ्य बन जाता है। जिस तत्त्व की उपस्थिति से अलंकार आदि तत्त्वों का महत्त्व था, उसकी खोज इन आलोचकों ने नहीं की। यही कारण है कि शुक्ल जी ने हिन्दी के आधुनिक गद्य-साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल तक की आलोचना को रूढ़िगत (Conventional) कहा है।[1] उनका कहना है कि इसमें कवि की विशेषताओं और अन्तःप्रवृत्ति की छान-बीन की ओर ध्यान नहीं दिया गया।[2] शुक्ल जी इन तत्त्वों को समीक्षा में बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने रस, अलंकार आदि की नवीन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके तथा उनको साहित्य-समीक्षा के आधुनिक मान (Standard) में स्थान देकर इन तत्त्वों का जीर्णोद्धार कर दिया, इन तत्त्वों में नवीन स्फूर्ति और नवजीवन फूंक दिया। शुक्ल जी ने इस नवीन व्याख्या में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित कर दिया और 'रस' के अनुभूति-पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी सूक्ष्म विवेचन किया। इस प्रकार उन्होंने उसे नवीन रूप देते हुए भी अभारतीय नहीं होने दिया।

साहित्य और जीवन का कोई गम्भीर सम्बन्ध न माने जाने के कारण काव्य की परिभाषा में उक्ति-चमत्कार का ही प्राधान्य मान्य था। द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक रूप में इसका विरोध भी किया। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में रीतिकालीन इस मनोवृत्ति की स्पष्ट प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो गई। पर आलोचना में इस सिद्धान्त का व्यवहारिक रूप सामने नहीं आया। द्विवेदी जी ने अपने आपको अधिकांशतः भाषा-सुधार तक ही सीमित रखा है। शेष आलोचना को बिहारी और देव का काव्य ही उत्कृष्ट

१—शुक्लजी : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ५८८।
२—शुक्लजी : वही, पृ० ६२३।

जंचा। सूर और तुलसी में भक्ति-धारा तो मान्य थी पर काव्योत्कर्ष नहीं। ये कवि एक प्रकार से धर्म-ग्रन्थ-प्रणेता की दृष्टि से देखे जाने रहे हैं। यही कारण है कि देव, बिहारी, मतिराम आदि चमत्कारवादी, और मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानने वाले कवि भी, सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि सांस्कृतिक कवियों के समकक्ष रखे गए अथवा बहुत स्थानों पर उनकी श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन हुआ। देव और बिहारी तक ही आलोचना के सीमित हो जाने से तत्कालीन साहित्यिक रुचि का स्पष्ट संकेत मिलता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' उन कवियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक परिचय निकालती रहती थी, जिनमें भारतीय संस्कृति की प्रेरणा है, और जिनके कारण हिन्दी भी विश्व-साहित्य के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा करके चल सकती है। ग्रियर्सन ने तुलसी के 'रामचरितमानस' के काव्यगत महत्व की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पर साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्पष्ट कर देने वाली आलोचना तो शुक्ल जी द्वारा सम्पादित 'तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका से ही प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व के प्रयास हिन्दी के आलोचकों की रुचि को व्यापक रूप से प्रभावित नहीं कर सके। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का ध्येय अनुसन्धानात्मक था। शुक्ल जी का उसमें पूरा सहयोग था। वे प्रारम्भ से ही इस पत्रिका के माध्यम से हिन्दी-आलोचना को सुपथ पर लाने का कार्य कर रहे थे। उन्होंने 'राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र' नामक निबन्ध प्रकाशित कराया था, जिसमें उनकी आलोचना-शैली का प्रारम्भिक रूप मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब तक 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थों का आदर विशेषतः धर्म-ग्रन्थों के रूप में ही था, पर शुक्ल जी ने उन्हीं को काव्य के आदर्श ग्रन्थ मानकर उक्ति-चमत्कार द्वारा मनोरंजन ही नहीं अपितु रसास्वाद द्वारा लोकमंगल, हृदय-प्रसार और परिष्कार को काव्य का उद्देश्य माना। तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' का प्रभाव शुक्ल जी के प्रतिमान पर तो बहुत अधिक पड़ा, उसको मानसमय कहना ही समीचीन है। इसके साथ ही हिन्दी आलोचना भी साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलने लगी। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना द्वारा नवीन प्रतिमान ही नहीं दिया, अपितु व्याख्यात्मक और निगमनात्मक समीक्षा (Inductive criticism) का भी श्रीगणेश कर दिया। इस शैली के आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि विभिन्न आलोचना-पद्धतियों के पथों का अनुसरण किया। इस प्रकार शुक्ल जी की आलोचना ने युगान्तरकारी कार्य किया, हिन्दी-साहित्य में एक नवीन युग का आरम्भ कर दिया। आगे के विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायगा कि आलोचना का आधुनिकतम विकास शुक्ल जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन

करने से ही हो सका है।

हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी ही प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक समालोचना को मिला दिया है। इन्होंने इन दोनों रूपों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है कि आलोचना के ये दोनों रूप एक दूसरे के विकास में सहायक हुए हैं। शुक्लजी ने जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मानदण्ड हो गया और वे इन सिद्धान्तों तक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना द्वारा ही पहुंचे हैं। तुलसी, सूर आदि के काव्य ग्रन्थों से ही उन्हें ये सिद्धान्त प्राप्त हुए। इस प्रकार शुक्लजी ने आलोचना की निगमनात्मक शैली का सूत्रपात किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी शुक्लजी के समकालीन ही थे। ये दोनों एक ही क्षेत्र में प्रारम्भ से कार्य करते रहे हैं। बाबू जी ने आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनकी आलोचना-पद्धति मोटे रूप से शुक्ल जी से बहुत अधिक भिन्न भी नहीं मानी जा सकती। आगे हम इस पर विचार करेंगे। यहाँ पर तो हमें यह कहना है कि यद्यपि बाबू जी ने सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक—दोनों क्षेत्रों में ही कार्य किया है, पर वे शुक्ल जी की तरह समन्वय नहीं कर सके। उनमें से दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से प्रायः पृथक ही रहे। उनके सारे समालोचना-सिद्धान्तों ने उनकी आलोचना-पद्धति को प्रभावित किया हो अथवा वे सब उन्हें अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही मिले हों, ये दोनों बातें ही बाबू जी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकतीं। इतना ही नहीं इन दोनों रूपों के सामंजस्य का जो रूप शुक्ल जी में है, वह अन्यत्र कहीं भी मिलना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। लेकिन शुक्ल जी की यह पद्धति कुछ इतनी प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय हुई कि उनके परवर्ती और समकालीन प्रायः सभी आलोचकों ने इसका थोड़ा-बहुत अनुसरण किया है। इन दोनों रूपों का यह सामंजस्य, जिसके दर्शन हमें शुक्ल जी में होते हैं, निगमनात्मक (Inductive) आलोचना की प्रधान विशेषता भी है। इस आलोचना में प्रतिमान आलोच्य-ग्रन्थ के आधार पर निर्मित होता है, 'बाहर से आरोपित नहीं किया जाता' का तात्पर्य ही यह है। शुक्लजी में इस पद्धति के आदर्श-रूप के दर्शन होते हैं। शुक्ल जी की आलोचना के मान भारतीय होते हुए भी उपज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने उनकी मौलिक व्याख्या की है और स्वयं उन निर्णयों पर पहुँचे हैं वे सिद्धान्त उन्हें अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही प्राप्त हुए हैं। आगे हम यथावसर इस बात पर विचार करेंगे कि शुक्ल जी का यह प्रतिमान क्या वैयक्तिक और आरोपित भी कहा जा सकता है?

शुक्लजी के काव्य-सम्बन्धी विचार भारतीय हैं। उन्होंने अपने सैद्धान्तिक विवेचन के लिए भारतीय अलकार-शास्त्र को ही उपजीव्य बनाया है। कहीं-कहीं पर पाश्चात्य विचारधारा का भी उपयोग किया है। लेकिन शुक्लजी ने कहीं पर भी इन दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया है। उनके गम्भीर और मौलिक चिन्तन की छाप सर्वत्र ही स्पष्ट है।[१] उन्होंने दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को अपने गम्भीर अध्ययन, गूढ़ चिन्तन और तर्क द्वारा आत्मसात् कर लिया है। वे सब उनके अपने हो गये हैं। जहाँ पर आचार्यों में ऐकमत्य नहीं है, उसका निरूपण भी उन्होंने निर्भीकता पूर्वक किया है। इस प्रकार उनका सैद्धान्तिक निरूपण मौलिक ही है। हाँ, उनमें से अधिकांश सिद्धान्तों को भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों का समर्थन भी प्राप्त है। पाश्चात्य सिद्धान्तों का उपयोग तो अधिकांशत: अपने मत की पुष्टि के लिए ही हुआ है, पर भारतीय सिद्धान्तों की व्याख्या हुई है, इसलिये उन्हीं को उपजीव्य कहना चाहिए, पाश्चात्य को नहीं। पाश्चात्य सिद्धान्तों का उपयोग करते हुये भी उन्होंने अपनी भारतीय प्रकृति की अवहेलना नहीं की है। जो सिद्धान्त हमारी परम्परा के अनुकूल हैं, उन्हींको शुक्लजी ने अपनाया है, शेष की तो उन्होंने आलोचना की है। शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के मौलिक अन्तर को खूब समझा है। इसलिए वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों की तरह वादों का समर्थन नहीं कर सके। वे कविता और आलोचना को वादों में घसीट ले जाना अनुचित समझते हैं। वे ब्रेडले आदि कलावादियों और प्रभाव वादियों के विचारों से सहमत नहीं हो सके। लेकिन मूल्यवादी रिचर्ड्स के विचारों को उनका समर्थन प्राप्त है। अनेक स्थानों पर अबरक्रोम्बे की विचारधारा भी शुक्ल जी के चिन्तन के अनुरूप प्रतीत होती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि पाश्चात्य आचार्यों में कुछ व्यक्तियों के चिन्तन में थोड़ी बहुत भारतीय विचारों की झलक है। शुक्ल जी ने ऐसे कुछ आलोचकों के मत अपनी मान्यताओं के समर्थन में उद्धृत किये हैं। केवल इसीके आधार पर पाश्चात्य अनुकरण का आरोप अनुचित है।

इधर युरोप में 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का बहुत जोर रहा है। इसके कारण काव्य और आलोचना नवीन दिशाओं में प्रेरित हुए। उनका जीवन के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। शुक्ल जी इसी बात का निरूपण करते हुए कहते हैं: "इस प्रवाह के कारण जीवन और जगत की बहुत-सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि ये तो इतर वस्तुएं हैं, शुद्ध कला-क्षेत्र के

बाहर की व्यवस्थाएं हैं।" शुक्ल जी ने इस वाद का विशद निरूपण ब्रेडले के शब्दों का अनुवाद करके किया है : ब्रेडले ने इस सिद्धान्त का बहुत स्पष्ट निरूपण किया है।[1] यह वाद, कला का उद्देश्य—तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव मानता है। धर्म, शिष्टाचार की शिक्षा अथवा लोकोपयोगी विधान तो कला की दृष्टि से बाह्य मूल्य हैं। इन मूल्यों की ओर ध्यान रहने से कला का मूल्य घट जाता है। यह (काव्य-सौंदर्य-सम्बन्धी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है, इसका अपना निराला मूल्य है। रिचर्ड्स ने भी अपनी Principles of Criticism नामक पुस्तिका में ब्रेडले का यह उद्धरण दिया है और इसकी आलोचना भी की है। रिचर्डस काव्यानुभूति को जीवन से पृथक् नहीं मानना चाहते। ब्रेडले जिस लगाव को भीतर-ही-भीतर मानते हैं। वही इनके अनुसार और स्पष्ट है।[2] रिचर्ड्स काव्य को मनोरंजन का साधन-भर नहीं मानते हैं। वे मूल्यवादी हैं। शुक्लजी ने इनके विचारों को केवल यह दिखलाने के लिए उद्धृत किया है कि 'कला, कला के लिए' वाला सिद्धान्त पाश्चात्य जगत् में भी अपना प्रभाव खो चुका है। शुक्लजी को तो वह बिलकुल मान्य ही नहीं है। उसे वे भारतीय परम्परा के विरुद्ध मानते हैं। यहां पर तो काव्य के प्रयोजनों का विशद विवेचन हुआ है : "अब हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र की छान-

1. ...this experience is an end itself...is worth having on its own account, has an intrinsic value... Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction or soften the passions or furthers a good cause...but its ulterior worth neither is nor an directly determined its poetic worth as a satisfying imaginative experience and this is to be judged entirely from within...The consideration of ulterior end...tends lower Poetic value.' Ibid (Page 75.)

2. Dr. Bradley goes on to insists—an "underground" connection but this "underground" connection is all important. Whatever there is in the poetic experience has come through it. The world of poetry has innosence any different reality from the rest of the world and it has no special laws and no other wordly peculiarities."

Ibid Page 78.

बीन कर जाइए, उसके भीतर के जीवन के अनेक पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्र का मत लीजिए तो जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी है।[1] शुक्लजी ने कला कला के लिए वाला सिद्धान्त का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है।[2] वे काव्य को मनोरंजन का साधन नहीं मानते। उनके मत में यह तो काव्य के गौरव को कम कर देना मात्र है।[3] शुक्ल जी काव्य के उद्देश्य पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं। वे पाठक या सहृदय की अवहेलना करके 'स्वान्तः सुखाय' रचना करने के समर्थक नहीं हैं। ऊपर के विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि काव्य और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। शुक्लजी काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति के अलौकिकत्व का तात्पर्य भी वैयक्तिक राग-द्वेष और योग-क्षेम से ऊपर उठा हुआ ही मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काव्य कोई दूसरे लोक की वस्तु नहीं है। वे काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियों से विचार करते हैं। पहला है—काव्य का मानव-समाज पर प्रभाव, और दूसरा है उसकी समवेदनीयता या प्रेषणीयता (Communicability)। इन दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रम सम्बन्ध है। काव्य का जन-साधारण के लिए प्रभावोत्पादक एवं प्रेषणीय होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रभाव का माध्यम काव्य है और इसी से काव्य के विधान में प्रेषणीयता का तत्व अनिवार्य है। "एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।"[4]

काव्य में प्रेषणीयता के तत्व को अनिवार्य मानना कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका तो काव्य की मूल प्रकृति से ही अभिन्न सम्बन्ध है। प्राचीन आचार्यों ने कवि और सहृदय को तथा कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा को समान महत्व प्रदान करके स्पष्टतः इस सिद्धांत को अंगीकार किया है। कवि और भावक के समान-महत्व के सिद्धांत में काव्य में अपेक्षित लोक-हित का तत्व अन्तर्हित है। प्रेषणीयता के सिद्धान्त के मानने वाले आचार्यों का आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल्यवादी हो जाता है—यह बात शुक्लजी की ही तरह रिचर्ड्स के लिए भी सत्य है। पश्चिम

१—देखिये—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६३३।
२—देखिये—इंदौर का भाषण, पृ० ३७ : ४०।
३—देखिये—चिन्तामणि, प्र०भा० पृ० २२३।
४. देखिए—'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ १०४।

के आधुनिक समालोचक अबर-क्राम्बे काव्य में प्रेषणीयता के तत्व को अनिवार्य मानने वाले हैं। यही बात शुक्लजी ने भी कही है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के दो पक्षों को अलग-अलग बाँटकर विचार किया है। पहला तत्व है—अनुभूति, जिसका प्रेषण होता है, और दूसरा है—भाषा एवं शैली, जिसके माध्यम से प्रेषण कार्य किया जाता है। पहले हम शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित अनुभूति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

शुक्लजी कवि की अनुभूति को सारे विश्व में व्याप्त समझते हैं। सारा जड़ और चेतन जगत् कवि का वर्ण्य-विषय हो सकता है। उन्होंने काव्य पर वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विचार करते हुए मानवेत्तर जगत् के पशु, पक्षी, प्रकृति आदि सभी को ग्रहण कर लिया है।[1] इस प्रकार कवि की अनुभूति का शुक्लजी ने बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है : "प्राप्त-प्रसंग के गोचर और अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को प्राप्त करके उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।[2] शुक्लजी काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति मानते हैं: "कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है,""जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है।"[3] और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति हैं : 'कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।"[4] शुक्लजी ने एक स्थान पर मानव के प्रत्येक भाव के लिए आलम्बन खोज निकालना ही कवि-कर्म बताया है।[5] स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि से यह सारा व्यापक विश्व ही काव्य का विषय है, कवि का अपना कल्पित लोक नहीं। कवि इस लौकिक अनुभूति को ही काव्य का स्वरूप देता है। उसको अलौकिक कहकर वे कवि को ऐसे कल्पना-लोक में विचरण करने की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करना चाहते जिससे उसकी अनुभूति सहृदय जन-श्लाध्य न रह जाय।

अनुभूति को सहृदयजन-श्लाध्य बनाने के लिए कवि को उसे लोक-सामान्य भाव भूमि पर अधिष्ठित करना पड़ता है। साधारण- न की लौकिक अनुभूति और कवि-

१. काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०४।
२. 'तुलसीदास', पृष्ठ १०२ : १०३।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ११।
४. 'तुलसीदास', पृष्ठ ९३।
५. 'चिन्तामणि', 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध।

हृदय की अनुभूति में यही मुख्य अन्तर है। काव्य में व्यक्ति के राग-द्वेष और योग-क्षेम के लिए स्थान नहीं है। इसे प्रेषणीय बनाने के लिए यह विभाजन-व्यापार अत्यन्त आवश्यक है। इसी को साधारणीकरण भी कहा गया है। शुक्लजी भी साधारणीकरण का यही अर्थ ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं: "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[1] शुक्लजी अपने 'काव्य में रहस्य वाद' नामक निबन्ध में भी अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए उसका लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाना आवश्यक बतलाते हैं: "एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुंचाना यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं— भाव पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोकमान्य भाव-भूमि पर प्राप्त होना।"[2]

शुक्लजी का मत है कि वस्तु कवि के जिस भाव का आलम्बन होती है, सहृदय के भी उसी भाव के आलम्बन होने की क्षमता उसके सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य रूप में ही है। उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियां, कार्य और मनोभाव गिनाये भी हैं, जिनमें भाव जाग्रत करने की अधिक क्षमता है। उनका विचार है कि मानव ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है, त्यों-त्यों उसका जीवन कृत्रिम होता जाता है। उसमें भावानुभूति जाग्रत करने के लिए कृत्रिमता के मारे आवरण हटाना अनिवार्य हो जाता है। प्रकृति के प्रति मानव में सहज अनुराग होने का एक कारण यह भी है कि मानव से उसका साहचर्य आदिम है। नैसर्गिक दृश्य उसके भावों के स्वाभाविक आलम्बन हैं। सभ्यता की कृत्रिमता के आवरण को हटाकर कुछ कार्यों और मनोविकारों का चित्रण आवश्यक है। सर्वसामान्य की भावभूमि पर लाने के लिए व्यापार-शोधन बहुत आवश्यक है। जीवन की 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाली अनुकृति काव्योपयोगी नहीं है। उसमें कुछ तथ्यों का निर्वाचन आवश्यक हो जाता है। शुक्लजी काव्य के वर्ण्य-विषय को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए व्यापार-शोधन भी अनिवार्य समझते हैं। वे उसका विधान करते हुए कहते हैं: "कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं उसी प्रकार अधिक मर्म-स्पर्शी और प्रभावो-

१. चिन्तामणि प्रथम भाग।
२. वही।

त्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में से जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है, या हो सकता है अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होता है और वह व्यापार उपलक्षण-मात्र होता है। और कहीं-कहीं चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है, जैसे अन्योक्ति।"[1] व्यापार-शोधन के अतिरिक्त कवि को कल्पना का भी पूरा सहयोग लेना पड़ता है। काव्य में कल्पना की मात्रा शुक्लजी को भी स्वीकृत है। प्रतिभा के दोनों स्वरूप कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। काव्य में प्रभावोत्पादन के लिए कल्पना की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—"गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब कल्पना मूर्त्त विधान में और हृदय भाव संचार में प्रवृत होते हैं तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है"[2] महाकाव्य में मार्मिक स्थलों का नियोजन भी व्यापार-शोधन और कल्पना द्वारा ही संभव है। रहस्यवाद और छाया-वाद की कविताओं की शुक्लजी द्वारा कटु आलोचना का बहुत-कुछ कारण यही है कि उनमें जिन मानव-व्यापारों, भाव-दशाओं और प्रतीकों का वर्णन होता है उनमें सर्वसामान्य के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता बहुत कम रह जाती है। उसमें हृदय की तल्लीनता के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्लजी—कबीर आदि रहस्यवादी कवियों की वाद-ग्रस्त उक्तियों की अपेक्षा सर्वसम्मत रूप-योजना वाली उक्तियों को काव्य के अधिक उपयुक्त मानते हैं: "इन मूर्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूप-योजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूप-योजना, जो किसी सर्व-स्वीकृत सर्वानुभूत तथ्य को भाव-क्षेत्र में लाने के लिए की गई है, वह अधिक मर्मस्पर्शिणी है।"[3]

शुक्लजी असाधारण वस्तु-योजना और ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती नहीं हैं। कवि साधारण-असाधारण सभी प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करता है : पर

१. 'तुलसीदास', पृष्ठ ११२-११३।
२. 'शेष स्मृतियाँ', प्रवेशिका पृष्ठ १४।
३. काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ३०।

उसका कार्य उनको लोक-सम्मत रूप प्रदान कर देना है, तभी वे काव्य के उपयुक्त हो सकते हैं। काव्य का प्रस्तुत वस्तु या तथ्य-विचार—अनुभव-सिद्ध लोक स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है।"[1] "भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण-से-साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है।"[2] दर्शन अथवा अन्य शास्त्रों के वादों का निरूपण करने वाले को शुक्लजी साम्प्रदायिक कवि मानते हैं: 'भारतीय काव्य-परम्परा में इनका ग्रहण नहीं हुआ है। फिर इन वादों और ज्ञानातीत दशाओं का चित्रण लोक-सम्मत नहीं कहा जा सकता। इन दशाओं का अनुभव सर्वसाधारण को नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार की वस्तु-योजना काव्य नहीं मानी जा सकती। यहां पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत दशा से, चाहे वह कोई दशा हो, या न हो, काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[3]

शुक्लजी कवि में अनुभूति, भावुकता और कल्पना—तीनों ही को आवश्यक मानते हैं। भावुकता तो कवि की अनुभूति का आधार ही है। कल्पना कवि-कर्म में सहायक शक्ति है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं। "भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है।"[4] भावुकता के कारण जिसका अन्तःकरण विशाल हो जाता है, जिसमें चराचर की कल्पना से ही देखने की क्षमता आ जाती है, वही वास्तव में कवि हैं[5] यही उसके विशाल हृदय की परख हैं। कवि अपने-आपको किसी भी मानव स्थिति में डालकर उससे अपने हृदय को तदाकार कर लेता है।[1] यही उसकी भावुकता है, इसीसे सच्चे कवि को

१. वही, पृष्ठ २९-३०।
२. काव्य में प्राकृतिक दृश्य।
३. काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ३६।
४. वही, पृष्ठ ७९।
५—प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी भी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।
'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १७२-७६।

लोक-हृदय की पूरी पहचान होती है। वह सब प्रकार की विचित्रताओं में लोक-सामान्य हृदय को देख सकता है। भावुक कवि की आँखें प्रकृति के नाना विचित्र रूपों को देखने के लिए हमेशा खुली रहती हैं। उसमें हमेशा ही प्रकृति के मृदु संगीत सुनने की क्षमता रहती है।[१] शुक्लजी भावुकता को यही परख मानते हैं। ऊपर जिस भावुकता का संकेत शुक्ल जी ने किया है, वही काव्य की अनुभूति का आधार है। इतने उत्कृष्ट भावुक व्यक्ति ही कवि पद के अधिकारी हैं। इन्हीं कवियों की अनुभूति काव्य का प्रकृत विषय है. कल्पना तो इनकी अभिव्यक्ति में केवल सहायक-मात्र है। शुक्लजी अनुभूतिहीन निरी कल्पना को काव्य का खिलवाड़ मानते हैं। केवल भाव-प्रेरित काव्य विधायनी कल्पना ही काव्य के लिए उपादेय है, वही काव्य की अनुभूति की सहयोगिनी है।[२]

शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं, वे काव्य का उद्देश्य चमत्कार और मनोरंजन नहीं, अपितु सहृदय को सहानुभूति में तल्लीन कर देना ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। वे काव्य और सूक्ति में अन्तर मानते हैं। "ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।[४] काव्य और सूक्ति के अन्तर को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं: "जो उक्ति हृदय में कोई

६—वहीं, पृ० ९३।

१—चिन्तामणि, प्र० भा०, पृ० ३०८-०९।

२—अतएव काव्य-विधायनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो, अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में अनुभूति अंगी है, मूल रूप अंग-प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।

'इन्दौर वाला भाषण', पृ० ३३।

३—प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिए कवि की आँखें खुली रहनी चाहियें, उसका मृदु संगीत सुनने के लिए उसके कान खुले रहने चाहिएँ और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिए उसका हृदय खुला रहना चाहिए।

'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १०४।

४—'चिन्तामणि', पृ० २३३।

भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत करे, वह है सूक्ति।[1] 'जायसी ग्रन्था-वली' की भूमिका में उन्होंने काव्य के तीन भेदों का निरूपण किया है—१ जिसमें केवल वैलक्षण्य या चमत्कार हो। २ जिसमें केवल रस या भावुकता हो। ३ जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।[2] शुक्लजी द्वितीय प्रकार को ही काव्य का प्रकृत स्वरूप मानते हैं। प्रथम प्रकार का काव्य तो उनकी दृष्टि से केवल काव्याभास-मात्र है। सूक्तियों का उद्देश्य चमत्कार और बौद्धिक प्रयास द्वारा कोई ऐसी नवीन उद्-भावना करना है, जो पाठक या श्रोता के लिये नवीन हो, जिसमें वस्तु या भाव का लोक-सामान्य स्वरूप न हो इस प्रकार की उद्भावना पाठक को केवल कुतूहल का आनन्द प्रदान कर सकती है। उसमें पाठक के हृदय को तल्लीन करके आनन्दानुभूति जाग्रत करने की क्षमता नहीं होती। ऐसे काव्य क्षणिक मनोरंजन के साधन भर माने जा सकते हैं, प्रकृत-काव्य के उदाहरण नहीं। शुक्ल जी ने बिहारी और रीति-कालीन अधिकांश कवियों की रचनाओं को ऐसे उक्ति-चमत्कार, अनूठेपन के कारण सूक्ति अथवा काव्याभास-मात्र माना है। केशव में कवित्व का अभाव बताने का भी यही कारण है। सूर और तुलसी को कवियों के आदर्श मानने में भी शुक्ल जी का यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है।

संस्कृत के आलोचना-शास्त्र में "चमत्कार" और "वक्रता"—दोनों शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते जा रहे हैं। वक्रता अथवा "वक्रोक्ति" तो काव्य की आत्मा भी मानी गई है। कुन्तक का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' का सिद्धान्त एक पृथक सम्प्रदाय के रूप में मान्य हुआ और उसने काव्य-सम्बन्धी धारणाओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। "चमत्कार" शब्द का प्रयोग भी संस्कृत-साहित्य में काव्य के एक विशिष्ट आनन्द के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार काव्य के गुण, अलंकारादि सभी इस आनन्द के साधन थे। रस की तरह चमत्कार भी काव्य का एक पृथक दृष्टिकोण था। इस दृष्टि से काव्य के सभी अंगों पर विचार करने की प्रवृत्ति थी। राजशेखर ने चमत्कार के दस प्रकार माने हैं, उनमें से एक में रस का भी अन्तर्भाव कर दिया है। हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' में चमत्कार को काव्य की आत्मा कहा है। पण्डितराज ने भी

१—वही, पृ० २३४।
२—'चिन्तामणि', पृ० २२०।

चमत्कार को लोकोत्तर आह्लाद मानकर काव्य की आत्मा के स्थान पर ही प्रतिष्ठित कर दिया है; 'लोकोत्तराचाह्लादगत: चमत्कारपरपर्याय: ।"[1] पर शुक्ल जी ने चमत्कार शब्द को इस व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं किया है। उन्होंने "चमत्कार" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है : 'चमत्कार" से हमारा तात्पर्य उक्ति चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता, (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगिमा (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दुरारूढ़ कल्पना (उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।[2] इस प्रकार शुक्ल जी चमत्कार से केवल उक्ति-वैचित्र्य का ही भाव ग्रहण करते हैं। यही उनका वक्रता से तात्पर्य है।[3] 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में भी उन्होंने वैचित्र्य का यही स्वरूप माना है। इस उक्ति-वैचित्र्य को शुक्ल जी काव्य का सहायक तत्व-मात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह गौण वस्तु है। "अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है, एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है, और होती है।"[4] "भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।"[5] शुक्लजी वक्रता के प्रयोजनीय रूप के अतिरिक्त इसके उस स्वरूप की भी अवहेलना नहीं करते हैं जो काव्य की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है। काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न होती है। काव्य की उक्ति में साधारण उक्ति से अन्तर रहता है, इस सत्य को संस्कृत के प्राचीन आचार्य बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके थे। भामह की वक्रोक्ति और कुन्तक का वक्रोक्तिवाद इसी पर अधिष्ठित है। ध्वनिकार भी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहकर इस उक्ति-वैचित्र्य का समर्थन कर रहे हैं। उनके परवर्ती एक भी आचार्य इस सामान्य विच्छित्ति को अस्वीकार

१—डा० राघवन—'सम कॉनसेप्टस ऑफ अलंकार-शास्त्र, पृ० २७१।
२—'चिन्तामणि', पृ० २९-३०।
३—'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १८१।
४—'काव्य में रहस्यवाद,' पृ० ४१।
५—'इन्दौर वाला भाषण', पृ० ८६।

नहीं कर सके।[1] छायावाद की आधार-भूमि भी यही है। इतना ही नहीं पश्चिम के आचार्य क्रोचे, एवर क्राम्बे आदि भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। एवर क्राम्बे काव्य की परिभाषा में "व्यंजकता" को आवश्यक तत्व मानते हैं। शुक्ल जी भी काव्य के ऐसे महत्वपूर्ण अंग की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। अगर एक तरफ केवल बौद्धिक चमत्कार वाली उक्तियों के काव्यत्व को वे अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं कि "उमड़ते हुये भाव की प्रेरणा से अक्पर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रेरणा के भीतर रहती है।"[2] कवि अपने हृदय की भावानुभूति पाठक में भी उत्पन्न करना चाहता है, इसलिए उसे इस वक्रता का उपयोग करना ही पड़ता है।[3] इससे काव्य में मार्मिकता की वृद्धि होती है। भावुक कवि भी अपनी अनुभूति को तीव्र करने के लिए वक्रता का उपयोग करते हैं। यह उपयोग इनके लिए आवश्यक भी हो जाता है। "जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और मात्रा में उनकी व्यंजना के लिए प्राय: कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।"[4] उनके मत में भाव और वस्तु—दोनों की व्यन्जना में अनूठापन संभव है। शुक्लजी ने इन्हीं को क्रमश: भाव पक्ष और विभाव पक्ष का अनूठापन कहा है।[5] शुक्लजी का विवेचन तो और भी विशद है। चमत्कार या उक्ति वैचित्र्य के कारण काव्य में मार्मिकता आ जाती है, उसमें आकर्षण-शक्ति आ जाती है। "मेरा अभिप्राय कथन के उस ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है।"[6] आपातत: प्रतीयमान विरोध के मूल में शुक्लजी के विचारों की समन्वयवादी धारा अत्यन्त स्पष्ट है। उनके चमत्कार या वक्रता सम्बन्धी विचारों में भी रस दृष्टि से पूर्ण सामजस्य है। शुक्लजी रस की दृष्टि से ही वक्रता के औचित्य पर विचार करते हैं। वचन की जो वक्रता भाव प्रेरित होती है वहीं

१—'संस्कृत साहित्य में समीक्षा' : प्रस्तुत निबन्ध का दूसरा अध्याय।
२—'चिन्तामणि,' पृ० २३६।
३—'जायसी ग्रन्थावली,' पृ० २२०।
४—'चिन्तामणि', पृ० २३०।
५—काव्य में रहस्यवाद,' पृ० ७१।
६—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८१।

काव्य होती है।"[1] ऐसी वस्तु-व्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो चाहे कितनी ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्तिमात्र होगी।"[2] शुक्लजी ने बिहारी के विभाव पक्ष में कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का उल्लंघन माना है। "पत्रा ही तिथि पाइये" जैसी उक्तियों का शुक्लजी काव्य की दृष्टि से बहुत कम महत्व मानते हैं।[3] वे कहते हैं "ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा, व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु पर्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का।"[4] उन्होंने शब्द-शक्ति और अलंकार—दोनों ही को उक्ति-चमत्कार के साधन कहा है। इस प्रकार वक्रता या चमत्कार-सम्बन्धी शुक्लजी के विचारों में समन्वय है।

शुक्लजी ने वर्णन के विशेष प्रकार को ही अलंकार माना है।[5] "मैं अलंकार को वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अन्तर्गत किसी-किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं है।"[6] वे इनका उपयोग भी भाव सौन्दर्य की सृष्टि करने में ही मानते हैं: "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है।"[7] शुक्ल जी इनको साधन मानते हैं, साध्य नहीं: "ये प्रस्तुत वस्तु या भाव के उत्कर्ष करने के साधन मात्र हैं।"[8] कविता में अलंकारों को साध्य मानने से उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। शुक्लजी के अनुसार "पुरानी कविता में ऐसा ही हुआ है।"[9] केशव का काव्य इसका प्रमाण है: "है शोणित कलित कपाल

१—भ्रमरगीतसार की भूमिका पृ० ७०।

२—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७२।

३—शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६।

४—'गोस्वामी तुलसीदास,' पृ० १८१।

५—'चिन्तामणि', पृ० २४७। 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १६१।

६—'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'

७—गोस्वामी तुलसीदास,' पृ० १६१।

८—'चिन्तामणि, पृ० २४८।

९—'चिन्तामणि', पृ० २४७।

यह किंवा कापालिक काल को।" या "मनहुँ क्रमेलक पीठि पै धर्यो गोल घंटा लसत" में प्रस्तुत सौन्दर्य की वृद्धि करने के लिए कुछ भी नहीं है। यह केवल दूर की सूझ है।"[1] शुक्ल जी ने अपनी अलंकार सम्बन्धी मान्यता को पूर्णत स्पष्ट करने तथा अलंकारवादियों से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए 'रमणीयता' और 'चमत्कार' शब्दों का उपयोग किया है। भावों के उत्कर्षक अलंकारों में वे रमणीयता मानते हैं और कौतुक तथा विलक्षणता के हेतु अलंकारों में चमत्कार। शुक्लजी पहले प्रकार के अलंकारों के समर्थक हैं। वे कहते हैं: "अलंकारों में रमणीयता होनी चाहिए, चमत्कार न कह कर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। भावानुभाव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।"[2]

अलंकार सुन्दर वस्तु या भाव की ही सौन्दर्य-वृद्धि कर सकते हैं, असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकते। इसमें भी वे आचार्यों का अनुकरण करते हैं। "जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। आचार्यों ने अलंकारों को "काव्य शोभाकर" 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को "अलमर्थमलंकर्तुं" ही कहते हैं। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं।'[3] शुक्लजी उक्ति के विभिन्न प्रकारों को अलंकार मानकर इनकी अनेकता स्वीकार करते हैं। वे अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। इनमें से बहुत-से प्रकारों के नामकरण न भी हुए हों, तब भी वे अलकार तो हैं ही।[4] उन्हें अलंकारों के नामकरण में चिरतन विकास का सिद्धान्त मान्य है। शुक्लजी प्रकृति पर किये गए आरोपों को भी अलंकार ही मानते हैं। "प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत

१—वही, पृ० २४७।

२—'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १६२।

३—'चिन्तामणि', पृ० २५१।

४—वही, पृ० २५२।

अर्थात् अलंकार-मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बंधे साँचे में ढालें या न ढालें।"[1] उपमानों की तरह कलाकार अभिव्यक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रतीकों का भी प्रयोग करता है। शुक्लजी इन दोनों के सूक्ष्म अन्तर के द्वारा अलंकार और अभिव्यंजना-शैली के तात्त्विक भेद का निरूपण कर रहे हैं। प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहां के काव्य में बहुत-कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते। पर जो प्रतीक भी होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।[2] लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैली के तत्व मानने में शुक्लजी ने इसी सूक्ष्म दृष्टि और विवेचन का परिचय दिया है। अलंकार-सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्लजी अलंकारों के विरोधी तो नहीं हैं पर वे केवल शाब्दिक खिलवाड़ और चमत्कार के पक्षपाती भी नहीं हैं। वे रसानुकूल अलंकारों का प्रयोग ही काव्य के लिए अपेक्षित मानते हैं। इससे शब्द-साम्य की झड़ी लगाना वे प्रकृत-काव्य के बाहर समझते हैं। केशव आदि रीतिकालीन आचार्यों की कटु आलोचना का मूल कारण भी यही है।

शुक्लजी प्रस्तुत और अप्रस्तुत द्वारा अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट करते हैं। वस्तु का जो असली स्वरूप है वह तो आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आता है और उस पर आरोपित वस्तुयें अलंकार में। इसी आधार पर वे स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति के अलंकारत्व को अस्वीकार करते हैं। शुक्ल जी ने "स्वभावोक्ति" पर भामह राजानक, रुय्यक और दण्डी के मत उद्धृत किये हैं। उनका कहना है कि वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत होगा। बालक की चेष्टाओं का वर्णन प्रस्तुत है, इसलिए वे अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य हैं। ये विभाव क्षेत्र की वस्तुएं हैं, इन पर अलंकारों का आरोप होता है। ये रस-क्षेत्र की वस्तुएं हैं, अलंकार की नहीं। "प्रस्तुत वस्तु के रूप, क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते।"[3]

१—चिन्तामणि,' पृ० २५० । काव्य में प्राकृतिक दृश्य ।

२—'काव्य में रहस्यवाद,' पृ० २५-२६ ।

३—'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ८८ ।

कुन्तक भी स्वाभावोक्ति अलंकार का खण्डन अलंकार्य कह कर ही करते हैं। शुक्लजी का स्वभावोक्ति-सम्बन्धी मत वक्रोक्ति से बहुत-कुछ साम्य रखता है।

काव्य-विधान या शैली के अन्य तत्वों पर भी शुक्लजी ने विचार किया है। ऊपर हमने देखा है कि वे काव्य की भाषा को साधारण बोल-चाल अथवा शास्त्र की भाषा से भिन्न मानते हैं। शास्त्र का उद्देश्य अर्थ-ग्रहण-मात्र है, पर काव्य का उद्देश्य वस्तु या बिम्ब-ग्रहण भी करवाना है। काव्य के अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है।[1] प्रकृति-चित्रण में कवि के उद्देश्य और सफलता पर विचार करते हुए शुक्लजी कहते हैं: "उसमें कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।" आचार्य शुक्ल अभिधा-शक्ति में वस्तु के अर्थ और बिम्ब—दोनों को ग्रहण कराने की क्षमता का निर्देश करते हैं। अन्तःकरण में वस्तु का चित्र उपस्थित होना ही बिम्ब-ग्रहण है। काव्य में इसी की उपादेयता है, अर्थ-ग्रहण की नहीं। आचार्य ने 'कमल' के उदाहरण द्वारा अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुओं की गणना मात्र से बिम्ब-ग्रहण नहीं होता, उसके लिए वस्तु के संश्लिष्ट और सांगोपांग वर्णन की आवश्यकता है। 'प्रकृति-दर्शन में जो संश्लिष्टता है, वैसा ही संश्लिष्ट चित्र शब्दों द्वारा पाठक के हृदय में उपस्थित करना कवि का उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की सफलता बिम्ब-ग्रहण पर ही आश्रित है।'[2] काव्य में केवल मूर्त्त पदार्थों का ही बिम्ब-ग्रहण नहीं होता है अपितु अमूर्त भावनाओं का भी सजीव चित्र खड़ा करना पड़ता है। स्थूल और मूर्त्त पदार्थों के सौन्दर्य के लिए कभी-कभी सूक्ष्म और अमूर्त्त विधान करना पड़ता है। कभी सूक्ष्म का स्पष्टीकरण भी स्थूल का आधार लेकर होता है। "अगोचर बातों या भावनाओं को भी जहां तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्त विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसन्द करेगी।"[3] भावों को अधिक से अधिक

१—'चिन्तामणि', पृ० १९८।
२—काव्य में प्राकृतिक दृश्य।
३—'चिन्तामणि पृ० २३८।

प्रेषणीय बनाने के लिए तथा उनका मूर्त्त रूप खड़ा करने के लिए कवियों को कभी वस्तुवाचक शब्दों के स्थान पर भाववाचक और भाववाचक के स्थान पर वस्तुवाचक का प्रयोग करना पड़ता है। यह उपचार वक्रता अभिव्यन्जना को अधिक सुन्दर और सजीव बनाने का साधन है। इस प्रकार जो तथ्य लाक्षणिक वक्रता का आश्रय लेकर रखे जाते हैं, वे बहुत भव्य, विशाल और गम्भीर होकर सामने आते हैं।[1] लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य को शुक्लजी काव्य-शैली के आवश्यक तत्व मानते हैं। जाति संकेतवाचक अथवा व्यापक अर्थ संकेतों के स्थान पर मर्मस्पर्शी वस्तुओं और व्यापारों का चित्र उपस्थित करने वाले शब्दों का प्रयोग काव्य के उपयुक्त है। इनसे काव्य में सजीवता आजाती है। शुक्लजी की प्रौढ़ शैली का यही स्वरूप मान्य है। वे इस सिद्धान्त का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में भी करते हैं। इस शैली के आश्रय से कवि काव्य में चित्र कला के समान मूर्ति-विधान करने में समर्थ होता है। कवि प्रेषणीयता के लिए संगीत-तत्व का भी उपयोग करता है। इस तत्व से काव्य की आयु बढ़ती है। यह काव्य का सहायक अंग है। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं।[2] शुक्लजी छन्द, नाद, या लय को उपयोगी तत्व समझते हैं, अनिवार्य नहीं। वे कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता को इस प्रकार के जटिल और जड़ नियमों से बांधना नहीं चाहते। यही कारण है कि शुक्लजी गद्य-काव्य की ममस्पर्शिता और काव्यत्व की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं। गद्य और पद्य का अंतर कोई महत्वपूर्ण नहीं है। वे दोनों काव्यों को समकक्ष समझते हैं—"काव्यात्मक गद्य, प्रबन्ध या लेख, छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना-भेद से उसमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है।"[3]

शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है—काव्य-विधान और प्रभाव। वे दोनों एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। काव्य का जीवन की गति से गहरा सम्बन्ध है, उसका इस गति-विधि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, इसी में उसकी प्रेषणीयता अन्तर्भूत है, यह हम पहले कह चुके हैं। अब तक काव्य-विधान पर जो विशद विचार हुआ है उसका संक्षिप्त सारांश स्पष्टता के लिए दिया

१—'शेष स्मृतियां, की 'प्रवेशिका'।
२—'चिन्तामणि', पृ० २४५।
३—'इन्दौर वाला भाषण', पृ० ६८।

जाता है। इसमें काव्य के भाव और कला—दोनों पक्षों का, समाहार हो जाता है। कवि की अनुभूति को सहृदय तक पहुँचाना ही कवि कर्म है। इसके लिये लौकिक और वैयक्तिक अनुभूति को लोक-सामान्य और साधारणीकृत रूप देना पड़ता है। व्यापार शोधन में भावुकता की अपेक्षा है। कवि की अनुभूति को सहृदय-साध्य बनाने के लिये उसमें संवेदनीयता लाने के लिए कल्पना का भी पर्याप्त प्रयोग करना पड़ता है। प्रेषण की माध्यम भाषा में भी उन तत्वों की प्रधानता हो जाती है जो उसे साधारण भाषा से भिन्न स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें शब्द की लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों का प्रयोग अधिक होता है। उसमें हृदय स्पर्शिता लाने के लिए अलंकार वक्रता और नाद-सौन्दर्य का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी तत्वों का उपयोग रमणीयता की दृष्टि से किया जाता है। उपयुक्त सभी पक्षों पर शुक्लजी के विचारों का विशद निरूपण हो चुका है। शुक्लजी ने कल्पना या भावना के विधायक और ग्राहक—दोनों रूपों को, समान महत्व प्रदान करके कवि और सहृदय के कृत्रिम अन्तर को भी अस्वीकार कर दिया है।

शुक्लजी मनोरंजन अथवा आनन्द को काव्य का परम लक्ष्य मानने के विरोधी हैं—'किस्से-कहानियों में मनोरंजन की क्षमता है, पर कविता को किस्से कहानी के बराबर मानना समीचीन नहीं है। मनोरंजन अथवा आनन्द को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानना उसे केवल विलास की सामग्री की तरह तुच्छ कहना है। मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुंचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य मान लिया जाए तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।[1] शुक्लजी रस सिद्धान्त के मानने वाले हैं, पर काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए उन्होंने इसके अनुभूति-पक्ष की अपेक्षा हृदय और बुद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर ही अधिक ध्यान रखा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 'रस' आनन्द दशा है और शुक्लजी भी इसे अस्वीकार नहीं करते हैं। पर उसके आनन्द-पक्ष को ही अत्यधिक महत्व देने के कारण काव्य का जीवन से सम्बन्ध, उसका व्यक्ति और समाज पर पड़ने वाला प्रभाव प्रायः उपेक्षित हो गया। प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के अन्य प्रयोजन सहृदय समाज और कवियों द्वारा भुला दिये गए। केवल 'सद्यः पर निर्वृत्तये' ही काव्य का एकांगी प्रयोजन माना जाने लगा। शुक्लजी ने काव्य के प्रयोजन पर जो दृष्टि डाली है, वह आचार्य-सम्मत होते हुए भी मौलिक है। इसने काव्य के महत्व को फिर से प्रतिपादित कर दिया है।

१—'चिन्तामणि,' पृ० २२३

शुक्लजी रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहते हैं और इसे ज्ञान-दशा के समकक्ष मानते हैं। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इसी साधना को हम भाव-योग कहते हैं और इसको कर्म योग और ज्ञान योग का समकक्ष मानते हैं। जीवन की अन्य साधनाओं से जिनका सम्बन्ध दर्शन से है, मानव जिन उच्च अवस्थाओं को पहुँचता है, उन्हीं के समकक्ष भावयोग और हृदय की मुक्तावस्था को रखकर शुक्लजी ने काव्य को भी उपनिषद् आदि के समान ही महत्व प्रदान कर दिया है। उन शास्त्रों की तरह यह भी जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इन साधनाओं से मानव व्यक्तित्व के संकुचित घेरे से ऊपर उठ जाता है। उसमें अपना वैयक्तिक राग-द्वेष और योगक्षेम गौण हो जाते हैं अथवा उनका नितान्त अभाव हो जाता है। दर्शन इस कार्य को ज्ञान और कर्म द्वारा सम्पन्न कराता है और काव्य भाव और अनुभूति द्वारा; बस केवल इतना ही अन्तर है। ज्ञान, कर्म और भाव—इन तीनों का चिर साहचर्य है। कविता का क्षेत्र प्रधानतया हृदय ही है, पर यह बुद्धि और कर्म में भी संकुचित व्यक्तित्व का परिहार करने का साधन है। व्यक्ति का परिहार, संकुचित स्वार्थ सम्बन्धों से ऊपर उठना, अपनी पृथक सत्ता को लोक-सत्ता में लीन कर देना आदि विचार तो शुक्लजी के काव्य-विवेचन के प्राण ही हैं। उन्होंने सर्वत्र इन्हीं का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि से यह ही काव्य का परम लक्ष्य है। "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है।···इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है।"[1] शुक्लजी ने काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर का भी यही आधार माना है। लौकिक अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थों से बद्ध रहती है और काव्यानुभूति उनसे मुक्त।

जीव और ब्रह्म के ऐक्य की प्रत्यक्ष अनुभूति स्वरूप—मुक्ति में विशुद्ध अनुभूति-मात्र है। उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अन्तर नहीं रह जाता है। वह अवस्था केवल ज्ञान-मात्र है। इसी को ज्ञान-दशा कहते हैं। शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था की उसी से समता कर रहे हैं। रस-दशा की मुक्ति से तुलना कोई नवीन नहीं है। रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। शुक्लजी भी इसी पद्धति और परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। ब्रह्मानन्द में जिस प्रकार अहंकार का नितान्त अभाव होता है,

१. चिन्तामणि, पृ० १९३।

अन्तःकरण पूर्णतः विलीन हो जाता है, वही अवस्था रसानुभूति में नहीं होती। तल्लीनता के कारण यद्यपि भोक्ता को अपनी पृथक सत्ता का अनुभव तो नहीं रह जाता है, पर यह कहना कि उसके अहम् का सर्वथा अभाव हो जाता है, समीचीन नहीं है। रति आदि उसके अहंकार के ही विकार हैं, इसलिए रति आदि की अनुभूति अहम् की सत्ता के प्रमाण हैं। रस दशा में अहम् लोक सत्ता में लीन हो जाता है, पर उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। यही कारण है कि रस-दशा मुक्तावस्था की तरह विशुद्ध अनुभूति नहीं कही जा सकती। इसीलिए काव्य में विशुद्ध अनुभूति का तात्पर्य केवल वैयक्तिक राग द्वेष और योगक्षेम का लोक-सामान्य हो जाना है। यही कारण है कि शुक्ल जी "लोक सामान्य भाव-भूमि पर लाना," "सर्वभूत का आत्मभूत हो जाना" वाक्यांशों को इतना महत्व देते हैं। ज्ञान-दशा से रसानुभूति की तुलना करने का तात्पर्य केवल उसकी निर्वैयक्तिकता का स्पष्टीकरण-मात्र है, दोनों का स्वरूप साम्य नहीं। इस प्रकार के साम्य की ओर शुक्ल जी ने अन्यत्र कहीं भी संकेत नहीं किया है। काव्यानुभूति की अलौकिकता का तात्पर्य भी उन्होंने "पृथक सत्ता की भावना का परिहार" ही बताया है। वे रस को कोई स्वर्गीय अनुभूति नहीं मानते। अगर उनका यही तात्पर्य होता तो वे प्रत्यक्ष और स्मृति की कतिपय लौकिक अनुभूतियों में इसी लोक-सामान्य भाव-भूमि का प्रतिपादन नहीं करते। लौकिक आलम्बनों को साधारणीकृत न कहते। इस प्रकार काव्य की निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य भी एक तरह से वैयक्तिकता ही है, इसमें व्यष्टि के संकुचित स्वार्थ योग-क्षेम तो नहीं रहते पर समष्टि के अवश्य रहते हैं। यह समष्टि भी व्यापक अर्थ में व्यष्टि ही है। रति, क्रोध, उत्साह, अनुराग, विराग, घृणा, ग्लानि आदि सभी भाव और वासनाएं हृदय में रहती हैं। उनके आलम्बनों का साधारणीकरण हो जाता है। बस, वे मानव-मात्र से सम्बधित रहती हैं। वे आलम्बन लोक-सामान्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शुक्लजी का पृथक सत्ता के परिहार तथा हृदय की मुक्तावस्था से यही तात्पर्य है। शुक्लजी को रस की अलौकिकता मान्य नहीं है। वे रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं मानते। उनका रस-विवेचन भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही है।

व्यक्तित्व का अहम् के संकुचित घेरे से निकल कर विस्तीर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाना, यही शील का विकास है। अहम् का विकास, सर्वभूत का आत्मभूत में अन्तर्भाव—ही, दूसरे शब्दों में चरित्र का विकास है। इसी की अन्तिम अवस्था मुक्ति है। कर्म-

योग अनासक्ति आदि का भी यही तात्पर्य है। कर्म करते हुए फल की आकांक्षा न करने का अर्थ ही अपने कर्मों में ममत्व बुद्धि का परिहार है। कर्म में फलाशक्ति और कर्तृत्व बुद्धि न रहने पर भी कर्मयोगी में लोक-कल्याण की भावना रहती है। उसकी सभी वासनाओं के अन्तस्तल में लोक-हित की आकांक्षा प्रवाहित रहती है। वासनाओं के संस्कारों का विलय नहीं होता, अपितु सारी सृष्टि से उनका सम्बन्ध हो जाता है। काव्य भी मानव में ऐसी ही शुद्ध बुद्धि को जाग्रत करता है। उसका यह कार्य भावों द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिए उसे शुक्लजी भाव-योग कहते हैं। कविता व्यक्ति को इसी अर्थ से सदाचारी बनाती है, उसके शील का विकास करती है यही उसका उद्देश्य है। "कला कला के लिए', मानने वाले काव्य का सदाचार से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। शुक्लजी उनका खंडन करते हैं। उनका कहना है कि हमारे प्राचीन आचार्य "रस" की परिभाषा में 'सत्वोद्रेकात्" का प्रयोग करते हैं। सत्वाविष्ट अन्तःकरण के कार्य ही सदाचार हैं। सतोगुण का सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध है। दुराचार, रजोगुण और तमोगुण के ही धर्म हैं। शुक्ल जी नीतिवादी हैं। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि कवि की उपदेशात्मक वृत्ति की वे प्रशंसा करते हैं। सूक्ति को वे उत्कृष्ट कोटि का काव्य नहीं मानते हैं—यह पहले कहा जा चुका है। कुछ लोग उन्हें स्थूल नैतिकता का समर्थक मानते हैं पर यह ठीक नहीं। उनका नैतिक दृष्टिकोण कुछ बँधी हुई परम्परा अथवा रीतियों तक ही सीमित नहीं है। काव्य में वे आदर्शवाद के ही समर्थक हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी की काव्य-सम्बन्धी धारणा को समझ लेने के बाद आदर्श और यथार्थ का कोई झगड़ा ही नहीं रह जाता है। न उन्होंने इसमें पड़ना उचित समझा है। आलम्बन के साधारणीकरण और अनुभूति के लोक-सामान्य रूप के सिद्धान्त को मान लेने के बाद यथार्थ और आदर्श का भेद कृत्रिम प्रतीत होने लगता है। शुक्ल जी हृदय-प्रसार तथा तज्जन्य शील-विकास को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं। ज्ञान-योग और कर्मयोग में क्रमशः व्यक्ति की पृथक सत्ता तथा वैयक्तिक योगक्षेम एवं फलाशक्ति का सर्वथा लोप हो जाता है, पर भाव-योग में यह लोप केवल कुछ काल तक के लिए ही होता है। भाव-योग से व्यक्ति की पृथक् सत्ता का कुछ देर के लिए लोक सत्ता में विलय हो जाता है, और लोक के योगक्षेम उसके योगक्षेम हो जाते हैं। "इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता है। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।'[1] व्यक्तित्व का क्षणिक विलय

१. 'चिन्तामणि', पृ० १६३।

भी मानव के चरित्र-विकास का हेतु है। उनका अन्तःकरण सत्वाविष्ट होने का अभ्यस्त हो जाता है, इसलिए जब जीवन में ऐसा अवसर आता है, उस समय भी उसका संकुचित स्वार्थ दूर हो जाता है। वह मानव मात्र के कल्याण की दृष्टि से सोचता है और कार्य भी करता है। इस प्रकार क्षणिक होते हुए भी व्यक्ति के अन्तः-करण पर इस भाव-योग का स्थायी प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ और संयत हो जाता है। शुक्लजी इसे ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं।

शुक्ल जी कविता को शेष सृष्टि के साथ व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाला साधन मानते हैं। इससे उसके हृदय का इतना प्रसार होता है कि सारा विश्व उसके भीतर समा जाता है। वह विश्व-हृदय हो जाता है। शुक्ल जी इसी को मनुष्यत्व की उच्च भूमि मानते हैं—"कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भाव-योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है उसकी अश्रु-धारा में जगत की अश्रु-धारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"[1] हृदय-प्रसार द्वारा काव्य उन मानसिक रोगियों की चिकित्सा करता है, जो अपने स्वार्थों के घेरे में अत्यधिक बद्ध हैं, जिनका हृदय दीन-दुखियों को देखकर द्रवित नहीं होता है, प्रकृति के सौन्दर्य पर कभी मुग्ध नहीं होता, अपमानसूचक शब्दों को सुनकर जो क्षुब्ध नहीं होता और मानव को पीड़क शक्तियों का दमन करने के लिए जिनकी भुजाएं फड़क नहीं उठतीं। कविता मानव को अवसर के उपयुक्त, भाव के अनुभव की क्षमता प्रदान करती है। वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर अवसर के अनुकूल भाव की अनुभूति करना तथा व्यक्तिगत योगक्षेम को लोकहित में विलीन कर देना ही शुक्लजी की दृष्टि से सच्ची मानवता है। काव्य मानव को इसी सच्चे अर्थ में मानव बनाता है। शुक्ल जी ने अर्थ पिशाच के उदाहरण द्वारा स्वार्थबद्ध मानव का चित्र स्पष्ट किया है। ऐसे मानवों को भी काव्य हृदय-प्रसार द्वारा मानवता की उच्च भूमि पर ले जाता है। स्वार्थ-संकुचित हृदय का काव्य के द्वारा जो प्रसार होता है, उससे उसमें विश्व-हृदय की उदारता और व्यापकता आ जाती है। भगवान के लोक-रक्षक और लोकरंजक हृदय से व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित हो जाता

१. 'चिन्तामणि', पृ० २१६

है। उस समय उनकी आकांक्षाएं मंगलमय हो जाती हैं। उनकी इच्छाओं में विश्व-भर का कल्याण निहित रहता है। शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य को इतना व्यापक रूप दे दिया है। इस अवस्था में मानव-हृदय में पूर्ण सामंजस्य रहता है—"काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उससे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्त्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-ऊंचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है।"[1]

काव्य कल्पना-जगत् की वस्तु है। इससे वह मानव को कल्पनाशील और अकर्मण्य बना देता है। कवि और कविता-प्रेमी जीवन से पलायनवादी हो जाते हैं। प्लेटो ने काव्य को जीवन का सच्चा स्वरूप नहीं माना है। वे इसे अनुकृति की अनुकृति मानते हैं। प्लैटो के अनुसार राष्ट्र का नागरिक सत्य का अनुसरण करता है, पर कला क्षेत्र मिथ्या, कल्पना और भ्रान्ति का। इसीलिए कवि राष्ट्र का सच्चा नागरिक नहीं हो सकता। अत्यधिक कल्पनाशील होने के कारण उसे राष्ट्र का उत्तरदायी व्यक्ति नहीं माना जा सकता। यह विचार-धारा पाश्चात्य है। भारतीय विचार-परम्परा में जीवन और काव्य में ऐसा कोई विरोध नहीं है। शुक्लजी काव्य सम्बन्धी इस धारणा का कि काव्य मानव को अकर्मण्य बनाने वाला है, खण्डन करते हैं। उनकी मान्यता है कि कर्म की प्रेरक शक्ति बुद्धि नहीं, अपितु भावना है। "शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है।··· मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है।"[2] भाव ही काव्य की मूल भित्ति है. इसलिए काव्य को अकर्मण्य बनाने वाला मानना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। शुक्लजी तो यह मानते हैं कि काव्य भाव-प्रसार के द्वारा मानव के अर्थ-जगत् का भी प्रसार करता है। "कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है"[3]

१. इंदौर वाला भाषण, पृ० ५०-५१
२. चिन्तामणि, पृष्ठ २१४-२१५।
३. वही, पृष्ठ १६।

काव्य मानव की व्यापक भाव-राशि के लिए आलम्बनों का नियोजन करता है। वह उसको कर्म-जगत् में प्रवृत्त होने की अधिक स्वस्थ प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है। काव्य के द्वारा सारे विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और काव्य मानव के कर्म-क्षेत्र को विश्व-व्यापी कर देता है। काव्य से मानव में उत्तरदायित्व के बोझ को संभालने की क्षमता और भी बढ़ जाती है। काव्य के अनुशीलन से हृदय-प्रसार होता है और मानव कर्मयोगी हो जाता है। उसमें ममत्व और संकुचित स्वार्थों का नितान्त अभाव हो जाने के कारण सारे विश्व के कल्याण में ही वह अपना कल्याण निहित समझता है। उसमें लोक-रंजन और लोक-मंगल की भावना बद्धमूल हो जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह कार्य करता है। इस प्रकार काव्य तो मानव को वस्तुतः कर्मण्य बनाता है। काव्य से मानव में सुख दुःख में विवेक और धैर्य रखने की क्षमता आती है। शुक्लजी के अनुसार ऐसा ही काव्य श्रेष्ठ है। उनके लिए काव्य की उत्तमता का यही मापदण्ड है।

कविता के द्वारा मानव के मनोविकारों का परिष्कार हो जाता है। संकुचित स्वार्थ परायणता से मुक्त होकर जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मानवोचित भावों का अनुभव शुक्लजी की दृष्टि में मनोविकारों का परिष्कार है। इन मनोविकारों के मूल में तुच्छ स्वार्थवृत्ति नहीं, अपितु लोक-मंगल की भावना रहती है। इन परिष्कृत भावनाओं द्वारा मानव अपना शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है।[1] इतना ही नहीं काव्य द्वारा मानव की, स्वय की, विरोधी वृत्तियों तथा बाह्य और उसके अन्तर में सामंजस्य स्थापित हो जाता है।[2] वस्तुतः बाह्य और आभ्यन्तर अथवा अपने ही अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों में जो विरोध है, वह केवल प्रतीति-मात्र है। इस विरोध का कारण वैयक्तिकता, स्वार्थ-संकोच और सीमित योगक्षेम की भावना है। व्यक्ति सारी सृष्टि को अपने ही सकुचित राग-द्वेष के आवरण में देखता है, इसीलिए उसे कुछ वस्तुएं विरोधी प्रतीत होती हैं। जिसके हृदय का प्रसार हो जाता है, जो विश्व-हृदय बन जाता है, उसके लिए कहीं कोई विरोध रह ही नहीं जाता। लोक-रक्षक और लोकरंजक रूप धारण कर लेने के अनन्तर इस विश्व की प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक मानव में, मंगलमय आत्मा के दर्शन होने लगते हैं, इसीलिए किसी प्रकार के विरोध के लिए स्थान नहीं रह जाता। इन वृत्तियों अथवा भावों का लोक मंगल के साथ सम्बन्ध साध्य-साधक का हो जाता है। क्रोध, घृणा आदि

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ १९३।
२. वही, पृ० १९९।

में भी सौन्दर्य और मंगल की आभा के दर्शन का यही रहस्य है। शुक्लजी का लोक-मंगल की साधनावस्था के सौन्दर्य से यही तात्पर्य है। उनकी मान्यता है कि मंगल की आभा के विस्तार में जो प्रयत्न अपेक्षित हैं, उसमें अधिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। सिद्धावस्था का सौन्दर्य भोग-पक्ष का है, इसलिए उसमें शैथिल्य है। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल-सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को संकुचित करना है।[1] शुक्लजी कर्म-सौन्दर्य के समर्थक हैं।

ऊपर काव्य के उद्देश्य का जो शुक्लजी की दृष्टि से निरूपण हुआ है, उसको एक शब्द में शील-विकास कह सकते हैं। काव्य व्यक्ति के शील-विकास का एक महत्वपूर्ण और सर्वांगीण साधन है। उसके द्वारा बुद्धि, हृदय और कर्म-शक्ति—तीनों का विकास होता है। इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य ही शील विकास की चरम अवस्था है। काव्य मनोविकारों की अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा उनमें सन्तुलन भी स्थापित करता है। उनके अनावश्यक दमन से शील का विकास भी सम्भव नहीं है। सामंजस्य ही शील का मूल मन्त्र है। यही कारण है कि शुक्लजी ने सामंजस्य पर जोर दिया है। शुक्लजी की शील सम्बन्धी धारणा बहुत व्यापक है। उसमें शील, शक्ति और सौन्दर्य—तीनों का समन्वय है। उनके शील का आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम हैं। सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों ने जीवन की शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का सन्देश तो दिया, पर वे कृष्ण-चरित्र से कर्म के सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सके। शुक्लजी लोक-संग्रह में ही धर्म का सौन्दर्य देखते हैं। कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता को ही प्रोत्साहन दिया है। उनके अध्ययन द्वारा शील-विकास की प्रेरणा नहीं मिलती। कृष्ण का कर्मयोगी रूप इस कार्य के लिए उपयुक्त था, पर इन कृष्ण-भक्त कवियों ने उस रूप को ग्रहण नहीं किया। इन कविताओं का चरम लक्ष्य प्रेम और भक्ति का रसास्वादन है; पर शुक्लजी रसास्वाद द्वारा व्यक्ति के हृदय को विश्व-हृदय में तल्लीन कर देना, उसमें लोकरंजन तथा लोक-मंगल की भावना बद्धमूल कर देना ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं। लोक-हित की भावना का प्रसार ही काव्य का चरम लक्ष्य है। आनन्दानुभूति इसका साधन है। इसीलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि शुक्लजी रस के आस्वाद पक्ष को नहीं, अपितु प्रभाव-पक्ष को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं। जिन

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ४।

भावों के मूल में लोक-मंगल, मानवता अथवा अंगी धर्म की प्रेरणा रस रूप में परिणत हो वे ही आस्वाद्यता प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा उनके रसाभास की कोटि में ही आपत्ति है। इनमें ही सहृदय श्लाघत्व और आनन्दानुभूति है।

शुक्लजी ने लोक-धर्म को ही व्यापक धर्म अथवा पूर्ण अंगी धर्म कहा है। शेष सारे गृह-धर्म कुल धर्म आदि इसके अंग हैं विभिन्न धर्मों का सामंजस्य इसी लोक-धर्म में है। "धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य, जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें यदि पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।[1]" इस धर्म से समाज का संचालन होता है, लोक की रक्षा होती है। इसको धारण करने वाला लोक-रक्षक और लोक-व्यवस्थापक के गौरवको प्राप्त करता है। उसमें विश्व के सभी महान् गुणों की प्रतिष्टा होती है। इस धर्म का विकास केवल दया, नम्रता उदारता आदि में ही नही होता अपितु क्रोध, घृणा, विनाश, ध्वंश आदि में भी होता है इन भावों में मंगल की आभा झलकती है। भगवान राम के चरित्र में इन सभी विरोधी भावों का सामंजस्य है। अत्याचार और अत्याचारी का उपदेशों द्वारा विरोध करना, सद्भावना के द्वारा अत्याचारी का हृदय-परिवर्तन लोक-धर्म नहीं है। इसे शुक्लजी व्यक्ति की साधना मानते हैं। अत्याचार के दुर्दमन में क्रोध और ध्वन्स का आश्रय लेकर लोक-मंगल का प्रसार करना इस धर्म का मूल तत्व है। यह जनता की प्रवृत्तियों का औसत रूप है। यह धर्म का जीवन-व्यापी स्वरूप है, इसमें मानव-मात्र का कल्याण निहित है। समाज और व्यक्ति व्यष्टि और समष्टि प्रेम और कर्त्तव्य, विलास और संयम, क्रोध और करुणा आदि आपातत: विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का इसमें सामंजस्य है। इस धर्म से व्यष्टि और समष्टि—दोनों की स्थिति रक्षा होती है। भगवान राम ही ऐसे धर्म के आश्रय हैं। उनके इसी लोक-रक्षक रूप पर जनता मुग्ध हो गई। इन चिर-कालीन आदर्शों की स्थापना के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम शाश्वत आश्रय हैं। "लोक-विदित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिए, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार को फिर से खड़ा करने के लिए उन्होंने राम-चरित्र का आश्रय लिया, जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुये।[2] धर्म की रसात्मक

१. गोस्वामी 'तुलसीदास', पृ० २९
२. 'चिन्तामणि' पृ० २२५

अनुभूति को शुक्लजी भक्ति मानते हैं।[1] धर्म के जिस स्वरूप का ऊपर विवेचन हुआ है, उसका ही आश्रय राम हैं। इस प्रकार शुक्लजी राम-भक्ति को ही भक्ति का चरम आदर्श रूप मानते हैं। राम के जीवन का व्यवहार पक्ष मानव-मात्र के लिए आदर्श है। उसमें सब धर्मों का समन्वय है, इसलिए वही जीवन का सर्वांगीण और विरोध-शून्य स्वरूप है। उ के जीवन से व्यक्ति और समा '—दोनों ही अपना आदर्श ग्रहण करते है। शुक्लजी के लोक-धर्म में व्यक्ति और समाज का समन्वय है। व्यक्ति के स्वातंत्र्य का अपहरण लोकधर्म नहीं है। समाज के अन्य व्यक्तियों की जीवन-धारा को स्वच्छन्द गति में लेश-मात्र भी बाधा न पहुंचाने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी इस लोक-धर्म का एक अनिवार्य तत्व है। यह तभी सभव है जब इन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो। शुक्लजी लोकवाद का स्वरूप तुलसीदास जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए निरूपित करते हैं, पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं चाहता जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम, श्रम शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। शुक्लजी व्यक्ति के आचरण पर इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक सम्बन्धों का सामंजस्य बना रहे।[2]

ऊपर जिस लोक-धर्म का निरूपण हुआ है उसका व्यक्ति और समाज—दोनों से सम्बन्ध है। शुक्लजी ने मानव और उसकी समाज व्यवस्था को दो प्रधान भेदों में विभक्त किया है। वे हैं—राम और रावण। वे समाज और देश में राम-व्यवस्था के समर्थक हैं और व्यक्ति के लिए राम को ही आदर्श मानते हैं। शुक्लजी ने समाज के आदर्श रूप की कल्पना "रामचरित मानस" तथा विशेषतः चित्रकूट पर 'भरत-मिलाप' के प्रसंग के आधार पर की है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करे, उसके संबंध से उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों में कैसी भाव-संवेदना हो, इसी को शुक्लजी समाज के रूप संघटन का मूल आधार मानते हैं। भारतीय आदर्श तथा वर्णाश्रम धर्म के अनुरूप तुलसी ने समाज की इस कल्पना को प्रस्तुत किया है। शुक्लजी को भी यही आदर्श मान्य है। इस विराट आदर्श का आधार भी व्यक्ति का शील ही है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन में व्यक्ति और समाज—दोनों का निर्माण अन्तर्भूत है। पर वे इस निर्माण के लिए किसी समाज-पद्धति अथवा वाद के बौद्धिक

१. 'गोस्वामी 'तुलसीदास', पृ० ५४
२. 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ०

निरूपण के पक्षपाती नहीं हैं। उन्हें इन वादों में विश्वास नहीं है। वे समाज-निर्माण भी व्यक्ति के शील विकास द्वारा ही संभव मानते हैं। दूसरे, वे काव्य में बुद्धि-तत्व को गौण मानते हैं उनकी दृष्टि से समाज को कोई विचारधारा प्रदान करके निर्माण करने की अपेक्षा काव्य हृदय या भाव-प्रसार का आश्रय अधिक लेता है। यही कारण है कि शुक्लजी ने काव्य की बौद्धिक प्रेरणा को इतना महत्व नहीं दिया। काव्य जीवन के लिए नवीन विचारधारा, जीवन का नवीन मान प्रदान करता है। पर इस कार्य का सम्पादन भी भावात्मकता और संवेदनीयता के माध्यम से करने में ही शुक्ल जी काव्य का उत्कर्ष मानते हैं। इस प्रकार शुक्लजी व्यक्ति के शील के विकास को ही महत्व देते हैं। वे उनके रागात्मक सम्बन्ध को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्टित करके उसको संकुचित स्वार्थ-परायणता एवं व्यक्तिगत योगक्षेम मात्र से मुक्त हृदय एवं अनुभूति मात्र बना देने तथा निर्वैयक्तिकता प्रदान करने में ही व्यक्ति का निर्माण समझते हैं। इसी में उसका कल्याण निहित है। इसी से वह भाव-योग का आश्रय लेकर कर्मयोगी बन जाता है। व्यक्ति के शील-विकास द्वारा ही वे समाज के आदर्श-रूप का निर्माण करना चाहते हैं। इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि से व्यक्ति का शील-विकास प्रधान, तथा आदर्श-समाज का निर्माण गौण और परोक्ष काव्य प्रयोजन माना जा सकता है।

काव्य के प्राचीन सम्प्रदायों की दृष्टि से शुक्लजी रसवादी कहे जा सकते हैं। शुक्लजी रसानुभूति को ही प्रेषणीय मानते हैं। उन्हें अलंकार, तथा अन्य प्रकार के चमत्कारों का औचित्य रस की दृष्टि से ही मान्य है। कवि की अनुभूति और उसके प्रेषण का माध्यम—इन सभी पर रसवाद की दृष्टि से ही विचार हुआ है। शुक्लजी के द्वारा मान्य काव्य के प्रभावों का सम्बन्ध भी रस-सिद्धान्त से ही है। रस निष्पति के लिए सत्वोद्रेक अत्यन्त आवश्यक है। हृदय-प्रसार वैयक्तिक योग क्षेम और स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर आ जाना सत्वगुण का ही स्वाभाविक परिणाम है। ये रसनिष्पत्ति के अनिवार्य तत्व हैं। शुक्लजी रस-निष्पत्ति वाले स्थलों को ही काव्य मानते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है। इन रस-व्यंजक स्थलों में वे प्रभाव की दृष्टि से उत्तमता का विचार करते हैं। जो काव्य शील-विकास एवं हृदय-प्रसार का साधन है और कर्म-सौन्दर्य का व्यंजक है—उसी को शुक्लजी उत्तम काव्य कहते हैं। प्राचीन काल में रस-सिद्धान्त की व्यापकता नैतिकता के मानदंड से सीमित नहीं हुई है। जीवन का स्वच्छन्द और मांसल अनुभव भी रस-सिद्धान्त के अनुसार तो उत्तम काव्य हो आ जाता है। "शून्यं वासगृहम विलोक्य" तथा "त्वं मुग्धाक्षी" जैसे श्लोक

भी रस-सिद्धान्त की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य माने जा सकते हैं, यद्यपि उनमें नीति के उपदेश के लिए स्थान नहीं है। वैसे रसानुभूति अश्लीलता और अनैतिकता से कहीं ऊपर है। पर फिर भी शुक्लजी शील विकास को रस के उपभोग पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। काव्य की उत्कृष्टता का वही मानदण्ड उन्हें मान्य है। शुक्लजी ने काव्य के "सद्यः परनिर्वृतये" तथा "शिवेतरक्षतये" दोनों प्रयोजनों में सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन्हीं के समन्वित रूप को वे काव्य का उद्देश्य मानते हैं। पर शिवेतरक्षतये की ओर उनका अधिक झुकाव है, यही उनके मूल्यांकन का मानदण्ड है। शुक्लजी का मर्यादावाद इसी पर प्रतिष्ठित है। पर प्राचीन आचार्यों ने प्रथम को 'सकलप्रयोजन-मौलिभूतम्" कहकर काव्य की व्यापकता को अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार का मर्यादावाद काव्य की आह्लादकता तथा जीवन-व्यापी स्वरूप का बाधक है। क्रोध और करुणा के सामजस्य के आधार पर जिस कर्म सौन्दर्य की कल्पना शुक्लजी ने की है, उसी के चित्रण को काव्य की श्रेष्ठता का आधार मानना सीमित दृष्टि है। शुक्लजी ने लोक मंगल को काव्य का मूल आधार माना है यह समीचीन है पर काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड लोक मंगल की साधनावस्था अथवा कर्म-सौन्दर्य मात्र को मान लेना सीमित दृष्टिकोण है। सूर और जयदेव के काव्य क्रोध, और करुणा का सामंजस्य तो नहीं स्थापित करते, उनमें शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित कर्म-सौंदर्य नहीं है, पर उनका मर्यादावाद से शून्य शृङ्गार और भक्ति का समन्वय काव्य की दृष्टि से कभी हेय नहीं कहा जा सकता है। कृष्ण और गोपियों के जीवन की साधारण क्रियाओं पर भक्ति का जो सुन्दर आवरण कवि दे सके हैं, जिस प्रकार शृंगार और वात्सल्य की परिणति भक्ति में हुई है, वह पाठक के हृदय में कम सत्वोद्रेक करने वाली नहीं है। उनके द्वारा भी पाठक का हृदय लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। यह चित्र भी मानव हृदय का परिष्कार करता है। यह अलौकिक सौन्दर्यानुभूति भी मानवता की उच्च भूमि ही है। यह परम मंगलमय स्थिति है। पर शुक्लजी का कर्म-सौन्दर्य वाला सिद्धान्त इस काव्य को निम्न कहता है। इस काव्य का भी अपना महत्व है और उस मर्यादावाद के साहित्य से कम नहीं। राम और कृष्ण-काव्य में इतना अन्तर देखने का कारण शुक्लजी का यही मर्यादावाद है। जयदेव, विद्यापति और सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य स्थूल नैतिकता के मापदंड पर खरे नहीं उतर सकते, पर उनको सर्वथा अनैतिक कहकर हेय कोटि में रखना भी समीचीनता नहीं है। इस प्रकार यह कहना कुछ अंश तक ठीक है कि शुक्लजी के नीतिवादी दृष्टि-कोण से सूर के काव्य के महत्व को पूरा नहीं आंका जा सकता है।

सम्पूर्ण मर्यादाओं का आकलन करते हुये भी भगवान राम का मर्यादावादी रूप है जिसमें तुलसी का मन रचा है। उस स्वरूप के साक्षात्कार एवं मूल्यांकन में भी

शुक्लजी का यह मर्यादावादी दृष्टिकोण प्रायः अक्षय ही रहा है। हां, शुक्लजी का मर्यादावाद भक्ति के नाम पर विलासिता के अस्वस्थ प्रवाह को रोकने का शक्तिशाली साधन अवश्य है। इसमें काव्य और जीवन के समुचित सम्बन्ध और संतुलन को बनाये रखने की दृढ़ता है। जीवन पर काव्य के समष्टिगत प्रभाव की दृष्टि से शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित काव्य का प्रयोजन ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि इसमें सामान्य व्यक्ति और उनके समाज के जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रेरणा है।

भक्ति और सहृदयता के उस स्तर के व्यक्तियों के लिए विलासिता और अमर्यादा में बह जाने का भय ही नहीं रहता है, यह उपर्युक्त कार्य प्रबन्ध-काव्य द्वारा ही अधिक संभव है इसीलिए शुक्लजी मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को उत्कृष्ट कहते हैं। लेकिन मुक्तक में भी हृदय को तल्लीन करके उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाने की क्षमता है। उसके द्वारा भी हृदय का परिष्कार होता है। जगत् से मानव के रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना और रक्षा इसमें भी होती है। इसीलिए यह भी उपेक्षणीय नहीं है। शुक्लजी भी इसकी नितांत उपेक्षा तो नहीं करते हैं। सूर के मुक्तक पदों के काव्य-सौंदर्य की वे मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं पर इस विधा के साथ पूरा न्याय कर पाये हैं, यह नहीं कहा जा सकता है।

शुक्लजी समालोचना के सिद्धान्तों पर कोई पृथक् ग्रन्थ लिखना चाहते थे, पर यह कार्य पूरा नहीं कर पाये।[1] कवियों की आलोचना करने अथवा काव्य की विभिन्न परम्पराओं और धाराओं का निरूपण करते हुए उन्हें साहित्य के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करने की आवश्यकता हुई है। इन अवसरों का शुक्लजी ने पूर्ण उपयोग किया है। लेकिन इनमें साहित्य का क्रमानुसार और सर्वांगीण विवेचन संभव नहीं था। शुक्लजी ने समालोचना के सिद्धान्तों पर कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। इनमें काव्य-सिद्धान्तों के कई पक्षों पर प्रसंगानुसार पर्याप्त विवेचन हुआ है। इनमें ग्रन्थ की अपेक्षित पूर्णता और क्रम का अभाव है, जो स्वाभाविक है। क्रमबद्ध और ग्रन्थाकार विवेचन न होने पर भी शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन सर्वांगीण और पूर्ण कहा जा सकता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का निरूपण शुक्लजी ने कहीं-न-कहीं कर दिया है। इतिहास में उन्हें काव्य की सभी विधाओं का

१—'रस-मीमांसा' नामक यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो गया है। इसमें शुक्लजी के कुछ पूर्व प्रकाशित निबन्धों के परिष्कृत रूप तथा कुछ नवीन निबन्ध हैं। 'चिन्तामणि' के उद्धरणों से जिन सिद्धान्तों का समर्थन हुआ है और उनकी संक्षिप्त रूप-रेखायें हैं, उन्हीं का प्रतिपादन 'रस-मीमांसा' में भी है। कई-एक स्थानों पर तो दोनों की भाषा ही एक है।

सैद्धान्तिक निरूपण करना पड़ा है। उन्होंने रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि प्राचीन तथा अनुभूति, कल्पना, राग, बुद्धि, अभिव्यंजना, आदर्श-यथार्थ आदि आधुनिक काव्य-तत्वों पर विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने इन दोनों परम्पराओं के काव्य-सिद्धान्तों में सामंजस्य भी स्थापित किया है। उनकी काव्य-सम्बन्धी अपनी एक मौलिक धारणा है। इस धारणा का कलेवर और आत्मा—दोनों प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा की सामग्री से निर्मित हैं। पर उनकी विवेचन पद्धति आधुनिक है। अथवा यों कह सकते हैं कि यह पाश्चात्य प्रभाव से निर्मित पद्धति है। शुक्लजी में काव्य-दर्शन की एक निष्ठा है, एक धारणा है, जो मूलतः भारतीय है, पर वह भारतीय परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। उसी का विकास है। पर उसका साक्षात्कार शुक्लजी ने किया है। उसको हृदय से अनुभव किया है, अतः वह वस्तुतः मौलिक है। रस, लोकमंगल एवं नीति उसके सहायक तत्व हैं। इस कसौटी के आधार पर आधुनिक पद्धति से उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन सभी काव्य-सिद्धान्तों का परीक्षण किया है। इस कसौटी पर जो सिद्धान्त खरे उतरे हैं, वे ही उन्हें मान्य हैं। इस पद्धति से उन्हें भारतीय सिद्धान्तों की समीचीनता पर दृढ़ विश्वास हुआ है। वे पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में वाग्जाल और भ्रामक तत्व ही अधिक पाते हैं। उपर्युक्त तीनों संघटकों से निर्मित काव्य चेतना से सामंजस्य कर सकने की सामर्थ्य का शुक्ल जी जिस पद्धति से विश्लेषण करते हैं, उस पद्धति को "मनोवैज्ञानिक" कह सकते हैं। शुक्लजी ने काव्य के सभी तत्वों और वादों को इसी पद्धति से रस की कसौटी पर कसकर देखा है। जो खरे उतरे हैं, उनको उन्होंने देशी और विदेशी के भेद-भाव से शून्य होकर ग्रहण किया हैं। आवश्यकतानुसार इनका संस्कार कर लेना भी शुक्लजी अनुचित नहीं समझते हैं। उन्होंने प्राचीन रस का भी संस्कार किया है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उसको नया रूप दिया है। इसको निजी योगक्षेम से मुक्त अवस्था की अनुभूति मात्र मानकर उसके साथ लोकमंगल एवं नीति को जोड़कर तथा प्रत्यक्ष स्मृति आदि में निजत्व से ऊपर उठने पर रस मानना उनकी कुछ नयी व्याख्या है। यही उनकी मौलिकता है। अन्य सारी मौलिकताएं इसी सिद्धान्त में अन्तर्भूत हैं।

शुक्लजी ने रस को व्यक्ति के योगक्षेम-भावना से रहित मुक्त हृदय की भावानुभूति कहा है। एक व्यक्ति की अनुभूति जब लोक-सामान्य की अनुभूति हो जाती है, जिसका आलंबन सर्वसाधारण का आलंबन हो जाता है, जो अनुभूति निर्विशेष और विशुद्ध होती है उसी को शुक्लजी रसानुभूति मानते हैं। इसमें वे काव्य अथवा जगत् का अन्तर नहीं करते। ऐसी अनुभूति जगत् में भी होती है और शुक्लजी उसको भी रसानुभूति ही मानते हैं। रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य जी लिखते हैं, "तात्पर्य यह है कि

रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते हैं ।"[1] काव्य की अनुभूति को जगत् से भिन्न करने वाली क्रिया शुक्लजी के अनुसार "साधारणीकरण" है । उनकी मान्यता है कि भारतीय प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों अनुभूतियों का अन्तर इसी आधार पर माना है । साधारणीकरण से शुक्लजी का तात्पर्य आलम्बन और भावानुभूति दोनों का लोक-सामान्य हो जाना है ।[2] शुक्ल जी के अनुसार कवि, काव्य-सामग्री, विभावादिक तथा सहृदय तीनों का साधारणीकरण होता है ।[3] जब व्यक्ति किसी विषय या वस्तु में सामान्य लोक-धर्मों के दर्शन करके उन्हीं के अनुरूप भाव को ग्रहण करता है तब वह कवि होता है । यही कवि का साधारणीकृत होना है । यह साधारणीकृत कवि, वस्तु या विभाव में लोकधर्मों को प्रतिष्ठापित करता है । यही आलम्बन का साधारणीकरण है । पाठक में विभाव आदि साधारणीकृत रूप को ग्रहण करने की क्षमता तभी जागती है जब निजमोह संकट से ऊपर उठता है । यही सहृदय का साधारणीकरण है । शुक्ल जी को ये तीनों अवस्थायें मान्य हैं । उन्होंने काव्यानुभूति को अनेक स्थानों पर लोक हृदय की अनुभूति, लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित अनुभूति आदि कहा है । अपने विवेचन में वे एक ही तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं, और वह है, अनुभूति की विशुद्धता और निर्वैयक्तिकता । रस-निष्पत्ति के लिए साधारणी-करण अपरिहार्य है, यह माना जा सकता है । रसनिष्पत्ति के पूर्व की अवस्था साधारणीकरण है । दोनों एक भूमि नहीं हैं ।

केवल काव्य और कल्पना की ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष, स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि जगत की विभिन्न अनुभूतियों की निर्विशेषता भी शुक्ल जी को मान्य है ।[4] इसलिए शुक्ल जी रसात्मक बोध के विविध रूपों का निरूपण करते हैं । उन्हें रस का अलौ-किकत्व भी मान्य नहीं है ।[5] "अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूतिय नहीं है ।" उन्होंने रस की अलौकिकता से भी उसका निर्विशेष होना ही माना है । प्राचीन आचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर, लोकोत्तर आदि कहा है, पर शुक्ल जी ने इनका प्रयोग केवल अर्थवाद के रूप में माना है ।

१—चिन्तामणि, पृष्ठ ३३६ । २—वही, पृ० ३३६ ।
३—रस-मीमाँसा, पृ० ६६ ।
४—काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७—८ ।
५— रस मीमाँसा पृ० २५९-२६९ ।

काव्यानुभूति का जगत् अथवा प्रयक्ष अनुभूति से कोई सम्बन्ध न मानना शुक्लजी की दृष्टि से गलत सिद्धान्त है ।[1] वे उसे जीवन की अनुभूति कहते हैं ।[2] प्रत्यक्ष अनुभूति से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए वे रसानुभूति के लिए उदात्त और अवदात्त विशेषण का प्रयोग करते हैं । "उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का उदात्त और अवदात्त स्वरूप है ।"[3] इन दो विशेषणों में ही प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य लोकोत्तरत्व तथा शुक्लजी की विशेषता अन्तर्भूत हैं। वे लोकोत्तरत्व से भी निर्वैयक्तिकता का ही अर्थ लेना चाहते हैं। 'मन का किसी भाव में लीन हो नाही'—रमणीयता और रसानुभूति है । हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है ।[4] इस प्रकार शुक्लजी मन की किसी भाव में तल्लीनता तथा उसकी तदाकार परिणति को रसानुभूति मानते हैं । शुक्लजी ने सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे उसको रसानुभूति से पृथक नहीं अपितु उसी में अन्तर्भूत मानते हैं । अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को ही सौंदर्यानुभूति मानते हैं। "कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है । और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । हमारी सारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है ।[5] इसमें भी वे पृथक सत्ता का विसर्जन मानते हैं। इसीलिए इसको भी वे दिव्य विभूति कहते हैं ।[6] इस विवेचन से स्पष्ट होगया कि शुक्ल जी रसानुभूति और सौंदर्यानुभूति का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में करते हैं। अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति, तल्लीनता, व्यक्तिगत योगक्षेम का परिहार, लोक-सामान्य भावभूमि, हृदय की मुक्तावस्था, पृथक सत्ता का लोक-सत्ता में विलय आदि पदावली का प्रयोग इन दोनों के लिए करते हैं। शुक्लजी के अनुसार "रस" के ये ही प्रधान तत्त्व हैं, जो वस्तुतः एक ही बात को प्रकट करने के भिन्न भिन्न प्रकार मात्र हैं । ये मूलतः एक ही हैं। शुक्ल जी ने रस पर अनुभूति के प्रकार एवं स्तर की दृष्टि से विचार नहीं किया है। इसीलिये ऐसा प्रतीत होता

१—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७–८
२—वही पृ०, ८१–८२ ।
३ - चिन्तामणि पृ० ३४४ ।
४—काव्य में रहस्यवाद पृ० ५१ ।
५— चिन्तामणि पृ० २२४–२२५ ।
६— वही, पृ० २२६ ।

है कि सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति प्राय: एक ही है। वस्तुत: 'रस' सौंदर्यानुभूति है, सौन्दर्य और रमणीय के माध्यम से आनन्दानुभूति है। प्रत्येक सौंदर्यानुभूति रस का माध्यम बन सकती है। इससे उसमें विशद अर्थ में रसत्व है।

ऊपर अनुभूति की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे ही रस के प्रधान तत्त्व हैं। ये प्रत्यक्ष, स्मृति आदि के कुछ रूपों में भी मिलते हैं, इसलिये शुक्लजी इनको भी रस के समकक्ष ही मानते हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना—तीनों में ही व्यक्तित्व का परिहार और तल्लीनता है, इसलिए ये सभी रसानुभूति हैं। जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है....साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है, अत: इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।[1] किसी प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अथवा रूपवती स्त्री के प्रत्यक्ष दर्शन, पूर्वानुभूत मधुर अथवा क्रूर वस्तु का स्मरण, अतीत की स्मृति, उनकी सजीव कल्पना आदि लौकिक अनुभूतियाँ भी रस ही हैं। रति, अभिलाषा, हास, उत्साह आदि की प्रत्यक्ष अनुभूति में गहरी तल्लीनता है। उनकी अनुभूति के समय भी व्यक्ति अपने आपको भूला हुआ रहता है। "हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि अनेक संचारियों का अनुभव वह बीच-बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है।"[2] जहाँ अभिलाषा और उत्साह का अपने व्यक्तित्व से जितना अधिक सम्पर्क होगा, उनकी अनुभूति उतनी ही रसकोटि के बाहर होगी। अत्याचारी और लोक-पीड़न के प्रति जागृत क्रोध, पीड़ित व्यक्तियों की वेदना से जागृत करुणा की प्रत्यक्ष अनुभूति भी रसकोटि की ही होती है। अपनी निज की हानि या अनिष्ट-प्राप्ति शोक की वस्तु है। इसकी अनुभूति रस-कोटि के बाहर की वस्तु है। पर दूसरे प्राणियों की व्यथा को देखकर करुणा ही जाग्रत होती है। यह भाव सर्वथा रस-कोटि में ही होता है। प्रकृति के समक्ष मधुर भावना का अनुभव भी रसात्मक ही होगा। प्रकृति के रमणीय क्षेत्र में पहुँचकर स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और नीरसता से हमारा मन कोसों दूर हो जाता है और यह अनुभूति रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रिय का स्मरण, बाल्य-काल के अतीत जीवन का स्मरण, रति, हास और

१—चिन्तामणि, पृ० ३३७।
२—वही, पृ० ३३६

करुणा से सम्बद्ध कोई भी स्मरण रस की कोटि में ही आते हैं। किसी अपने पुराने साथी अथवा पुराने प्राकृतिक दृश्य, जिसके साथ कभी हमारा सम्बन्ध रहा हो, बहुत दिनों बाद अपने समक्ष देखकर मानव जिस मधुर भावना का अनुभव करता है, वह रस-कोटि का ही है। ऐतिहासिक खंडहरों में जाकर जो कल्पना जाग्रत होती है, उसके फलस्वरूप अतीत का एक सजीव चित्र हमारी आंखों के सामने नाचने लगता है, यह भी रसात्मक ही होता है। इस प्रकार शुक्लजी ने प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना—तीनों में रसानुभूति मानी है। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद क्रूर वस्तु का स्मरण भी मधुर हो जाता है। क्रूर की कल्पना और स्मृति तो रस-क्षेत्र में ही है, पर वे प्रत्यक्ष रूप में प्रायः रस-कोटि के बाहर ही रहते हैं। उसकी उग्रता निजी स्वार्थ-हानि को तुरन्त जाग्रत कर देती है। शुक्लजी प्रत्येक भाव के निजत्व से उठे हुए आलंबन में रसानुभूति कराने की क्षमता मानते हैं : "पर वहीं, जहां हम सहृदय द्रष्टा के रूप में रहते हैं अर्थात् जहां आलम्बन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से सम्बद्ध नहीं, सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से सम्बद्ध होते हैं।[1]"

प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक मानने में भय, जुगुप्सा आदि भावों का जगत् में "प्रतिकूल वेदनीय" होना बाधक है। रस आनन्दानुभूति है। उसे प्राचीन आचार्यों ने ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। उसे लोकोत्तर मानने का एक यह भी कारण है कि शोक, भय आदि की दुःखात्मक अनुभूति काव्य में आनन्द में परिणत हो जाती है। शुक्लजी का यहां पर भी प्राचीन आचार्यों से मतैक्य नहीं है। वे कहते हैं कि करुणा के आंसुओं को आनन्दाश्रु कहना बात टालना-मात्र है—उनका मत है कि जगत की तरह काव्य में भी यह अनुभूति दुःखात्मक ही है। पर निर्वैयक्तिक होने के कारण जगत से भिन्न है : "हृदय की मुक्त दशा होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[2] शुक्लजी ने यहां पर 'रसात्मक' शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया है। आनन्द को सुखानुभूति से भिन्न मानना तो ठीक है, क्योंकि सुख का सम्बन्ध व्यक्तिगत योगक्षेम से है और रसानुभूति मुक्त हृदय की अनुभूति है। पर यह अनुभूति सर्वदा ही आनन्द स्वरूप है अथवा कभी-कभी दुःखमय भी होती है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसे आनन्दानुभूति मानने में ही है। नाट्यदर्पणकार "सुखदुःखात्मको रसः" कहते हैं और कुछ रसों को स्पष्टतः दुःख स्वरूप मानते हैं। उन्हें इस अनुभूति का अभिनय के कौशल के कारण रसात्मक हो जाना मान्य है। यह कौशल ही सहृदय की उन भावों में तल्लीनता का कारण है। आनन्द तो आत्मा का

१— चिन्तामणि पृ० ३४७-३४८
२—वही, पृ० ३४२

स्वरूप है। तम के आवरण तथा रज के विक्षेप से शून्य, निर्मल शुद्ध और सात्विक अवस्था के अन्तःकरण में जब तटस्थ का स्वरूप स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है, उसी अवस्था को आनन्दानुभूति कहते हैं। आनन्द सर्वदा ही जीव की उसके अपने स्वरूप में स्थिति करता है। रति, शोक आदि भावों की चर्वणा अथवा उनके माध्यम से चैतन्य के आनन्द-स्वरूप की अभिव्यक्ति रस है। अतः वह हमेशा आनन्द-स्वरूप ही रहता है। 'सुख दुःखात्मको रसः' में सुख और दुख उस आनन्द की उपाधि रूप है। अतः रस तो आनन्द रूप ही है। काव्य में विभावन-व्यापार के कारण प्रतिकूल वेदनीय भावों में भी हृदय सतोगुण-सम्पन्न हो जाता है, इसलिए वे भाव भी आनन्द-ज्योति का अवरोध नहीं करते अपितु उससे प्रकाशित होकर आनन्दमय प्रतीत होने लगते हैं। रंगीन प्रकाश के कारण जैसे भिन्न रंग वाली वस्तुएँ भी प्रकाशक रंग की प्रतीत होती हैं, वैसे ही शोकादि प्रतिकूल वेदनीय भाव भी आनन्दमय प्रतीत होते हैं। ये भाव अपनी प्रकृति बदलते नहीं हैं, केवल इस परिवर्तन की भ्रान्ति-भर होती है।[1] शुक्लजी का भी उन्हें रसात्मक कहने का यही तात्पर्य है।

लौकिक, प्रत्यक्ष, स्मृति आदि में प्राचीन आचार्यों को रस मान्य नहीं। शुक्ल जी इनको भी रस मानकर केवल दो बातें स्पष्ट कर रहे हैं—पहली कवि सृजन समय रजोन्मुख होता है और दूसरी काव्य और जगत का अच्छेद्य सम्बंध है। काव्य जगत से ही अपनी सारी सामग्री एकत्र करता है। वह जगत की कुछ वस्तुओं में कल्पना के द्वारा मार्मिकता की वृद्धि कर देता है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र की आनन्दानुभूति जगत् के आनन्द का ही परिवर्द्धित और कुछ परिवर्तित रूप है। प्राचीन आचार्यों को रस शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही मान्य है। लेकिन शुक्लजी ने उन अनुभूतियों को भी 'रस' के नाम से अभिहित किया है, जो प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से रस का उपादान कही जा सकती हैं। लौकिक जीवन की इन अनुभूतियों में निजत्वशून्य आनन्द के तत्व वर्तमान रहते हैं। अर्थात् इन लौकिक स्तर की अनुभूतियों में भी व्यक्ति को मुक्त हृदय करने अथवा लोक-सामान्य भावभूमि पर लाने की क्षमता है। और कवि-कर्म-कौशल इसी में है कि वह इन तत्वों को अपनी चरम अवस्था में पहुँचा दे। शुक्लजी के अनुसार कवि व्यापारों को साधारणीकृत रूप में ही ग्रहण करता है अर्थात् आलम्बन का साधारणीकरण कवि की उसी अनुभूति में हो जाता है जिसका वह काव्य-सृजन में उपयोग करता है। कवि-कर्म के पूर्व ही कुछ अनुभूतियाँ ऐसी हैं जिनमें साधारणीकरण के तत्व पहले से ही विद्यमान रहते हैं। ऐसे ही व्यापारों में

१- —करुणादि रसों में आनन्दानुभूति—वीणा, अगस्त १९४८, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र

कवि साधारणीकरण करने में समर्थ होता है। शुक्लजी के व्यापार-शोधन के सिद्धान्त का भी यही आधार है। "कवि काव्य-सृजन के समय रसोन्मुख रहता है, अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।"[1] कवि जिन आलम्बनों को ग्रहण करता है, उनमें रस के स्वाभाविक तत्व रहते हैं। वे प्रत्येक मानव को मुक्त हृदय करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे ही व्यापार और अनुभव काव्य के उपादान हो सकते हैं। केवल कल्पना के आधार पर प्रस्तुत सामग्री में मानव को रसाक्षिप्त करने की नहीं, अपितु केवल चमत्कृत करने की क्षमता होती है। शुक्लजी ने काव्य और जीवन के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए, इस सिद्धान्त को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यहां रसोन्मुख से उनका यही तात्पर्य है। लौकिक जगत की इन अनुभूतियों में निजी योगक्षेम से ऊपर उठी हुई होने पर भी वस्तुतः काव्य का रस नहीं माना जा सकता है। रस उससे ऊपर की और कभी-कभी नितान्त भिन्न कोटि की अनुभूति है।

प्राचीन आचार्यों ने रस को अखण्ड माना है। शृंगार आदि का भेद स्थायी भावों के आधार पर हुआ है। सभी रसों की आनन्दानुभूति समान है, उनमें तारतम्य नहीं है। प्राचीन आचार्यों में कुछ ऐसे भी हुए हैं जिनको विभिन्न रसों के आनन्द की मात्रा में तारतम्य मान्य है। वे कुछ रसों को अधिक और कुछ को कम आनन्दमय मानते रहे हैं।[2] पर यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं रहा। शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य अन्य दो कोटियों का निर्देश किया है। इनका निरूपण उन आचार्यों ने नहीं किया। परन्तु सूक्ष्म विचार से उनकी सम्मति स्पष्ट हो जाती है। "रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों को रस-पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है। (१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना (२) लीन तो न होना पर उसकी व्यंजन-स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।"[3] प्रथम रस की पूर्ण और उत्तम तथा दूसरी मध्यम कोटि है। व्रीडा आदि स्वतन्त्र भाव के रूप में व्यंजित होने पर मध्यम कोटि में ही आते हैं। आलम्बन के साधारणीकरण

१—'काव्य में रहस्यवाद' पृ० ७९।

२—सत्वगुणस्य च सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजतमोऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः॥

'भक्ति रसायन, पृष्ठ १२।

३—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५९

तथा आश्रय के तादात्म्य से जिस भाव की अनुभूति होती है उसे तो शुक्ल जी उत्तम कोटि का रस मानते हैं, पर पात्रों के शील भी पाठक के श्रद्धा, क्रोध, घृणा आदि किसी भाव के आलम्बन हो जाते हैं। इस भावानुभूति में शास्त्रीय मतानुसार साधारणीकरण तो नहीं होता, पर यह अनुभूति भी मध्यम कोटि की रसानुभूति ही है। शील-वैचित्र्य से जिस भाव की स्पष्ट अनुभूति पाठक को होती है, उसकी परितुष्टि उसी भाव की अन्य पात्र द्वारा अभिव्यंजना होने पर होती है। क्रूर-कर्मी के प्रति पाठक के हृदय में क्रोध और घृणा की भावना रहती है। पर इसका पूर्ण परितोष दूसरे पात्र के द्वारा इन भावों की अभिव्यक्ति से ही होता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति से मध्यम कोटि के रस का भी पूर्ण परिपाक हो जाता है और वह भी प्रथम कोटि का हो जाता हैं। इस दूसरे प्रकार की मध्यम कोटि की रसानुभूति में पाठक की पृथक सत्ता का विलय नहीं होता है, पर प्रथम प्रकार की रसानुभूति में पृथक सत्ता का पूर्ण विलय हो जाता है। "इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति, जिसे आचार्यों ने रस कहा है, दो भिन्न कोटि की रसानुभूति हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन करके आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता हैं।"[1] शुक्लजी ने स्थायी भाव की तीन दशाओं का निर्देश किया है—क्षणिक, स्थायी और शील दशा। इन तीनों दशाओं के आधार पर ही रस की दो उपर्युक्त कोटियां मानी गई हैं। शील-दशा के स्थायी-भाव की अनुभूति को आचार्य शुक्ल मध्यम कोटि में रखते हैं। इसका निरूपण ऊपर हो चुका है। शेष दो को प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य रस में ही स्थान देते हैं। क्षणिक दशा का सम्बन्ध मुक्तक और स्थायी दशा का प्रबन्ध-काव्य से है। इन तीनों दशाओं को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं—"किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति होती है, शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्धों में, और शील दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।"[2]

शुक्लजी ने साधारणीकरण को रसोद्बोधन के लिए आवश्यक माना है। भाव के विषय को इस रूप में लाना कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, साधारणी-

१—चिन्तामणि, पृष्ठ ३१६।

२—चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ २३६

करण है। इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार 'साधारणीकरण' के दो प्रधान तत्व हैं—आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य। प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण को विभावादिक का साधारणतया प्रतीत होना कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि आश्रय के द्वारा अनुभूत भाव एवं वर्णित विभाव पाठक नट या नायक के नहीं अपितु मानव-सामान्य के होते हैं। पाठक या सहृदय को अपनी अथवा नायक की रति अनुभूत नहीं होती, अपितु विशुद्ध रति का अनुभव होता है, जो सब प्रकार के वैयक्तिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर लोक सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहती है, यह रति उससे भी नितान्त असम्बद्ध नहीं रहती है। सहृदय के साधारणीकृत अथवा लोकसामान्य रूप से काव्य के भावों का आत्मीयता का सम्बन्ध बना रहता है। रस की दृष्टि से यह विभावन-व्यापार बहुत आवश्यक है। इसीलिए शुक्लजी ने "लोक-सामान्य भाव-भूमि" का कई स्थानों पर प्रतिपादन किया है। काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन में इसका स्थान और महत्व अत्यन्त स्पष्ट है। आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर ही रस की पूर्ण अनुभूति होती है और शुक्लजी उसी को रस की उत्कृष्ट कोटि मानते हैं। लेकिन कई स्थानों पर आश्रय के साथ तादात्म्य न होकर पाठक को किसी अन्य भाव की अनुभूति होती है। रावण की सीता के प्रति अभिव्यक्त रति का अनुभव पाठक नहीं कर सकता। जगज्जननी के प्रति इस प्रकार की भावना रखने के कारण रावण के प्रति पाठक के हृदय में घृणा ही जाग्रत होती है। इस प्रकार आश्रय का शील पाठक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। पाठक का तादात्म्य आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है। प्रत्येक पात्र के शील-निरूपण के अन्तस्तल में कवि का श्रद्धा, घृणा आदि में से कोई एक भाव अवश्य रहता है। कवि-हृदय की, नायक और प्रतिनायक के शील की प्रतिक्रिया का अनुभव पाठक को भी होता है। इस भाव की परितुष्टि तो तब होती है जब कोई दूसरा पात्र इस भाव को अभिव्यक्त करता है। रावण के प्रति जो घृणा का भाव कवि और पाठक में रहता है, उसका पूर्ण परितोष तो तब होता है जब अंगद के द्वारा उसकी भर्त्सना कराई जाती है। यहां पर भी आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण है। रस की पूर्ण अनुभूति के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हैं, इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण के इसी पक्ष का निरूपण किया है। पाठक में शील के प्रति उत्पन्न भावानुभूति जब तक काव्य में विभानुभाव के द्वारा पुष्ट नहीं होती तब तक रस की कोटि को नहीं पहुंचती है। वह पाठक में अव्यक्त अनुभूति के रूप में ही रहती है। इसीलिए प्राचीन आचार्य इसका विवेचन नहीं करते और शुक्लजी भी इसको मध्यम कोटि का ही रस कहते हैं। शील द्रष्टा के रूप में पाठक जिस भाव का अनुभव करता है, उसमें कवि के अव्यक्त भाव के साथ पाठक के तादात्म्य

की बात शुक्लजी मानते हैं—"तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है।"[1] आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य भी वस्तुतः कवि और पाठक का ही तादात्म्य है। वहां पर कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य है। शील की दृष्टि से कवि पात्र के भाव को उचित मानता है। नायक की नायिका के प्रति रति उचित है तथा प्रतिनायक की रति-व्यंजना में कवि का तादात्म्य और समर्थन नहीं। इस प्रकार कवि-अनुभूति के साथ तादात्म्य सामान्य सिद्धान्त के रूप में शुक्ल जी को भी मान्य है। शुक्ल जी पहले प्रकार के रसानुभव में इसका निर्देश नहीं करते हैं पर उनके प्रेषणीयता और साधारणीकरण के सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धान्त उन्हें अमान्य नहीं है। प्रेषणीयता का वास्तविक तात्पर्य ही यह है। जिस पात्र के साथ तादात्म्य होता है उसके प्रति भी पाठक के मन में शील भाव रहता है। पर साधारणीकरण से पुष्ट भाव की तन्मयता के कारण सहृदय को इस शील भाव की पृथक प्रतीति नहीं होती है। पर इस भाव के रंग से दूसरे स्थायी—भाव रंगे रहते हैं। राम के प्रति जो भक्ति-भाव तुलसी में हैं उससे उनके सभी भाव ओत प्रोत हैं। ऐसे भरत आदि के प्रति भी शीलभाव है, उसका भी आनन्द आता है। वह भाव भी जब तक किसी अन्य पात्र द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता तब तक मध्यम कोटि के रस की अवस्था में ही रहता है। इस बात को शुक्ल जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा नहीं पर उनके कथन का सहज-निष्कर्ष अवश्य है। काव्य में साधारणीकरण के महत्व को वैषम्य द्वारा और भी स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने व्यक्ति-वैचित्र्य का भी विशद विवेचन किया है। शुक्ल जी इसकी तीन अवस्थाएं मानते हैं— १. आश्चर्य-पूर्ण प्रसादन, २. आश्चर्यपूर्ण अवसादन, ३. कुतुहल-मात्र।[2] इनमें आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता है। इनमें पात्रों के शील वैचित्र्य के कारण पाठक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। पाठक कभी-कभी कलाकार के काव्य-कौशल से भी मुग्ध हो जाता है। इसमें रसमग्नता नहीं, केवल हृदय की चमत्कृति-मात्र है। यह अनुभूति रस की निम्न कोटि में सम्मिलित की जा सकती है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि से यह रसानुभूति नहीं है। इनका विवेचन शुक्ल जी की मौलिकचिन्तन-क्षमता और विचारों की उदारता का परिचायक है। व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य में प्रेषणीयता का पूर्णतः निर्वाह नहीं होता है। इसके कारण काव्य में अनुभूति की सजीवता के स्थान पर कल्पना की उड़ान और तल्लीनता के स्थान पर आश्चर्य

१—चिन्तामणि भाग - २, पृष्ठ ३१५।
२—वही, पृष्ठ ३१७।

पर आश्रित चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्ल जी इसे कविता के प्रकृत-स्वरूप का ह्रास कहते हैं। आश्चर्यपूर्ण-प्रसादन तो कभी-कभी रस-कोटि को भी पहुँच जाता है। प्रसादन और अवसादन के आलम्बन पात्र किसी विशेष वर्ग के प्रतिनिधि हो सकते हैं। इससे लोक-सामान्य भाव की प्रतिष्ठा के द्वारा रस से उनका सम्बन्ध है, पर अन्तिम चमत्कार तक ही सीमित रहती है। वैचित्र्य की स्थिति में तीनों को शुक्ल जी निम्न कोटि में ही रखते हैं।

शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विवेचकों ने बहुत कुछ विचार किया है। श्री शिवनाथ इस साधारणीकरण को भट्ट नायक का भुक्तिवाद मानते हैं। उनका कहना है कि आलम्बन का साधारणीकरण, जो कवि-कर्म-सापेक्ष्य है, शुक्ल जी और भट्टनायक दोनों को मान्य है। पर अभिनव गुप्त यह भी मानते हैं कि यह साधारणीकरण सहृदय का हृदय भी कर लेता है। वे कवि-कर्म द्वारा आलम्बनत्व के साधारणीकरण पर ही जोर नहीं देते हैं, काव्य की सम्पूर्ण सामग्री के साधारणीकरण की ही बात कहते हैं। वस्तुतः इन दोनों आचार्यों के साधारणीकरण में केवल शब्द-शक्तियों के मानने का अन्तर है। मूलतः ये दोनों एक ही हैं, इसको आगे विवेचन करके श्री शिवनाथ जी ने भी मान लिया है। शुक्ल जी कवि, काव्य-सामग्री तथा सहृदय—तीनों के साधारणीकरण का प्रतिपादन करते हैं, यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। कुछ आलोचक शुक्लजी के साधारणीकरण को अशास्त्रीय भी मानते हैं। शुक्लजी ने मध्यम कोटि के रस का जो विवेचन किया है, वह प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नहीं हुआ है पर यह रस-सिद्धांत के विरूद्ध नहीं है। इसमें कहीं भी आचार्य-परम्परा का व्यतिक्रम नहीं होता। इस प्रकार शुक्ल जी के साधारणीकरण में कुछ नवीनता होते हुए भी वह अशास्त्रीय नहीं कहा जा सकता।

शुक्लजी को काव्य की प्रायः सभी विधाओं पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक का अन्तर विशद रूप से स्पष्ट किया है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य या कथा-काव्य (इस शब्द का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक हुआ है) के इतिवृत्त, वस्तु, व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद में ये अवयव माने हैं।[1] उनके अनुसार प्रबंध-काव्य में मानव जीवन का पूर्ण चित्रण होता है। इसका उद्देश्य भी रस-निष्पत्ति ही है, इसीलिए शुक्ल जी रसात्मकता के साधनों का निरूपण करते हैं। इसके लिए वे इतिवृत्त में कुछ ऐसी घटनाओं को आवश्यक मानते हैं जो मानव-हृदय को स्पर्श कर सकें तथा

१—'इतिहास', पृष्ठ १७१।

जिनमें मानव-हृदय को रमाक्षिप्त करने की क्षमता हो । शुक्ल जी सम्बन्ध-निर्वाह, स्वाभाविक प्रवाह और मार्मिक स्थलों के नियोजन को प्रबन्ध-काव्य के प्रधान तत्व मानते हैं। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह में रसानुभव सम्भव नहीं । मार्मिक स्थलों के अतिरिक्त वस्तु-व्यापार-वर्णन और पात्रों की भाव-व्यञ्जना के द्वारा भी काव्य में रसात्मकता का समावेश होता है । मार्मिक स्थलों की योजना और वस्तु-व्यापार वर्णन द्वारा काव्य में रसात्मकता के सन्निवेश के साथ ही इतिवृत्त भी उपेक्षणीय नहीं है। मार्मिक स्थलों का नियोजन इतिवृत्त की सफल कल्पना पर ही आश्रित है। इतिवृत्त का विकास इन स्थलों के स्वाभाविक नियोजन के उद्देश्य से ही होना चाहिए। "जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है, वे ही मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचाने के लिए होती है।"[1] मार्मिक स्थलों के स्वरूप एवं प्रयोजन पर विचार करते हुए शुक्ल जी कहते हैं—इन स्थलों को निकाल देने पर भी कहानी में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इतिवृत्त के अभाव में इन स्थलों का नियोजन-मात्र प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की कोटि में अधिक आता है। इतिवृत्त के आश्रय ही से काव्य में रस की धारा प्रवाहित रहती है, यद्यपि रस के मूल स्रोत में मार्मिक स्थल ही हैं। शुक्ल जी प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर का आधार ही रस की धारा और रस के छींटे मानते हैं। "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[2] शुक्ल जी मुक्तक में संक्षिप्तता तथा व्यंजकता का गुण भी आवश्यक मानते हैं। भाषा की अपेक्षाकृत सशक्तता भी मुक्तक का एक अनिवार्य तत्व है। प्रबन्ध में रस की धारा बहती है। उसमें अवगाहन के पर्याप्त अवसर हैं, यह ठीक है, पर मुक्तक को रस का छींटा भर कह देने से मुक्तक के सौन्दर्य, रमत्व एवं उस दृष्टि से महत्व का पूरा मूल्यांकन नहीं हुआ। उनकी उपेक्षा हो गई। मुक्तक में भी, रस में ओतप्रोत करने की क्षमता है, यह तथ्य हृदय-साध्य एवं शास्त्र सम्मत दोनों हैं।

काव्य के वर्ण्य-विषय की दृष्टि से शुक्ल जी ने काव्य का एक मौलिक विभाजन किया है। वे ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं मानते हैं—

१—जायसी ग्रन्थावली--भूमिका, पृ० ६१-६२

२—इतिहास', पृष्ठ २६८-२६६ ।

साधनावस्था और सिद्धावस्था। सिद्धावस्था से उनका तात्पर्य आनन्द और मंगल का आविर्भूत रूप है। इसमें माधुर्य, उल्लास, विभूति प्रेमव्यापार आदि का उपभोग पक्ष है। साधनावस्था को शुक्ल जी प्रयत्न-पक्ष कहते हैं। वे पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। यही लोक-मंगल की साधनावस्था है। काव्य में इन दोनों अवस्थाओं की अभिव्यक्ति होती है। इन दोनों अवस्थाओं के आधार पर शुक्ल जी ने काव्य के भेद किये हैं। साधनावस्था के काव्य 'रामायण', 'महाभारत', 'आल्हा', 'पृथ्वीराजरासो' आदि तथा सिद्धावस्था के 'सूरसागर', 'बिहारी सतसई', 'गीतगोविन्द' आदि हैं। शुक्ल जी का यह काव्य-विभाजन वास्तव में काव्य के प्रयोजन एवं क्षेत्र का विवेचन है। शुक्ल जी काव्य का चरम लक्ष्य और प्राणतत्व लोकमंगल ही मानते हैं। यही सत्साहित्य का भी आदर्श है। साधनावस्था के काव्य को उत्कृष्ट मानकर शुक्ल जी ने काव्य के भोग वाले प्रयोजन की अपेक्षा कर्म को प्रेरणा देने वाले प्रयोजन की उत्कृष्टता भी प्रतिपादित की है। वैसे दोनों प्रकार के काव्यों में श्रेष्ठता के तारतम्य का प्रतिपादन कुछ विशेष महत्व की बात नहीं है। सूर के काव्य में काव्य की रमणीयता तुलसी की अपेक्षा कम मानना केवल वैयक्तिक रुचि मात्र है।

कविता के अतिरिक्त शुक्ल जी ने उपन्यास आदि अन्य विधाओं के तत्वों का भी संक्षेप में निरूपण किया है। इतिहास में काव्य की गति-विधि का अध्ययन है। उसमें प्रसंगवश विधाओं का तात्विक निरूपण भी संक्षेप में हो जाता है। शुक्ल जी ने इन विधाओं का विवेचन इतिहास में ही किया है पृथक निबन्ध नहीं लिखे, इसलिए बहुत संक्षिप्त हैं। पर इनके स्वरूप का संश्लिष्ट और पूर्ण चित्र है। कहानी और उपन्यास के आधुनिक रूपों की विशेषताओं तथा अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं : "इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही, वह तो बना ही रहेगा। उसमें अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था, जिसमें घटनाएं पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं।...वे (आधुनिक उपन्यास या कहानी में) कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृंखलाओं से गुम्फित होती चलती है और अन्त में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है

जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।"[1] नाटक और उपन्यास को काव्य से सर्वथा पृथक माने जाने का शुक्लजी विरोध करते हैं। वे इस भेद को कृत्रिम मानते हैं। वे इन दोनों का स्वरूप-सम्बन्धी कुछ अन्तर स्पष्ट करते हैं : "जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा परिस्थितियों की उद्भावना को।"[2] शुक्लजी काव्य और आख्यायिका का अन्तर मूलतः भाव-व्यंजना और घटना-वैचित्र्य पर ही अवलम्बित मानते हैं। इस बात को शुक्लजी ने अन्य स्थानों पर भी स्पष्ट किया है : "उपन्यास में मन बहुत कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है, पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनायें ही करतीं हैं। पात्रों द्वारा लम्बी-चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।"[3] उपन्यास और कहानी को शुक्लजी प्रायः एक ही प्रकार की रचना मानते हैं : "उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है। मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर होती हैं।"[4] कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा छोटा होता है। उसमें जीवन की एकांगिता रहती है। उसमें मार्मिकता और संश्लिष्टता अधिक अपेक्षित है। कहानी में भी घटना, चरित्र, कथोपकथन आदि उपन्यास के समान ही तत्व होते हैं। पर कहानी में ये तत्व इतने क्षीण हो सकते हैं कि उनका कोई महत्व ही न रह जाय। शुक्ल जी ने कहानी में इन तत्वों के विधान से स्वतन्त्र होने की पर्याप्त क्षमता मानी है। वे मानते हैं कि एक संवेदना का सिद्धान्त भी कई-एक कहानियों पर लागू नहीं होता है। "एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धान्त भी कहीं-कहीं ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत मार्मिक रूप देगा।"[5] उपन्यास में घटना, चरित्र आदि में से किसी एक तत्व की प्रधानता तो संभव है, पर कहानी की तरह वे इतने सूक्ष्म नहीं हो सकते। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का वास्तविक अन्तर शुक्लजी के विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है। कविता की अपेक्षा कहानी, उपन्यास के

१—'इतिहास', पृ० ५५५।
२—'इतिहास', पृ० ५६६।
३—चिन्तामणि भाग-२ पृ० १७७।
४—उपन्यास', नागरी प्रचारिणी पत्रिका।
५—'इतिहास' पृ० ६७१

अधिक निकट हैं। ये दोनों विधाएं सजातीय कही जा सकती हैं। इन दोनों में से घटना और चरित्र का नितान्त अभाव संभव नहीं है। कविता से इनका अन्तर समझने के लिए कहानी को घटना-प्रधान मानना ही पड़ता है।[1] इन विधाओं के तत्वों का क्रमिक निरूपण न होने पर भी इनके सभी तत्वों का संश्लिष्ट एवं प्रामाणिक विवेचन हो गया है। पर शुक्लजी केवल आलोचक ही नहीं हैं, वे हिन्दी के एक सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार भी हैं। इसीलिए शुक्लजी ने निबन्ध के स्वरूप और मानदण्ड पर, काव्य की उपन्यास आदि अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिकारपूर्ण विवेचन किया है। इसका तात्पर्य यह कभी नहीं कि अन्य विधाओं के निरूपण में कथ्य की प्रामाणिकता का अभाव है। निबन्ध का आधुनिक रूप हमें पश्चिम से प्राप्त हुआ है। लेकिन हिन्दी में इसके स्वरूप का मौलिक विकास हुआ है। यह कहना भी अनुचित नहीं है कि इस विदेशी वस्तु को भारत के चिंतन के अनुकूल बनाने के लिए इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। शुक्ल जी ने इसके तत्वों की मौलिक व्याख्या की है। निबन्ध का एक प्रधान तत्व व्यक्तित्व है। उसमें विषय का नहीं अपितु निबन्धकार के व्यक्तित्व का अधिक प्राधान्य होना चाहिए। अपने प्रस्तुत विषय से इधर-उधर जाने की स्वतन्त्रता भी है। इसलिए निबन्ध अव्यवस्थित, विशृंखल और उच्छिन्न रचना का नाम है। शुक्लजी को निबन्ध में व्यक्तित्व का तत्व मान्य है, पर ठीक उसी रूप में नहीं जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। भारतीय रस और साधारणीकरण के सिद्धान्त को मान लेने के बाद कलाकार के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं को साहित्यिक रचना में तभी स्थान मिल सकता है, जब उनमें सर्वसामान्य की अनुभूति और चिन्तन के तत्व अन्तर्भूत हों। इसलिए निबन्ध में व्यक्तित्व को एक प्रधान तत्व मान लेने पर भी शुक्लजी के लिए उसको उसी अर्थ में ग्रहण करना सम्भव न था। एक ही वस्तु या घटना की भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएं होती हैं। गम्भीर प्रकृति वाला उसी के आधार पर गम्भीर शैली के गूढ़ चिन्तन में प्रवृत्त होता है, पर विनोदप्रिय व्यक्ति उसमें हास्य की उद्भावना कर लेता है। बुद्धि और हृदय के इसी स्वातन्त्र्य को व्यक्तित्व कहा गया है: "एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टिओं से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"[2] क्या इसमें लोक-सामान्य भाव-भूमि के सिद्धान्त की अपेक्षा

१—चिन्तामणि प्र० भाग, पृ० २२२-२२३।
२—'इतिहास' पृष्ठ ५५।

नहीं है ? शुक्लजी संभवतः लोक-सामान्य भावभूमि के तत्वों के अभाव में काव्य का अस्तित्व ही नहीं मानते। निबन्ध के व्यक्तित्व वाले तत्व का काव्य रूपी तत्व के साथ सामान्य भाव-भूमि वाले तत्व से अन्तर्विरोध नहीं है। इन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। शुक्लजी को यह सामंजस्य मान्य है। शुक्लजी को व्यक्तिगत विशेषता का यही अर्थ मान्य है। इसके विपरीत अर्थ को तो वे तमाशा मानते हैं : "भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[1] पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली स्वभावतः ही कुछ उच्छिन्न है, भारतीय चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट और तर्क-सम्मत है। इसलिए यहां पर निबन्ध में "कसावट" भी एक विशेष महत्व की वस्तु बन गई है। शुक्ल जी विशृंखलता में भी एकसूत्रता मानते हैं, वे तत्व चिन्तक के निबन्धकार का अन्तर समझाते हुए कहते हैं : "ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता, पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।"[2] शुक्ल जी निबन्धकार को बुद्धि और भावात्मक हृदय के साथ सम्पूर्ण मानसिक सत्ता को लेकर चलने वाला कहते हैं। इस प्रकार वे निबन्ध में विचार और भाव—दोनों के सन्निवेश को आवश्यक मानते हैं। यहाँ पर उन तत्वों का विचार हुआ है जिनका सम्बन्ध सामान्य से है, जो वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक—तीनों प्रकार के निबन्धों के सामान्य तत्व कहे जा सकते हैं।

शुक्लजी विचारात्मक निबन्धकारों की कोटि में हैं। उन्होंने विचारात्मक निबन्ध की श्रेष्ठता का मानदण्ड निर्धारित किया है। उनकी मान्यता है कि निबन्धकार नवीन विचारधारा ही नहीं देता अपितु अपने विचारों द्वारा पाठक को चिन्तन में प्रवृत होने के लिए बाध्य कर देता है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित

१—'इतिहास' पृ० ५५९।
२—वही पृ० ५५९।

होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि वे गूढ़ चिन्तन को महत्व देते हैं। पश्चिम में निबन्ध भी मनोरंजन की सामग्री ही है। पर यहां की परम्परा में इस तत्व को इतना महत्व नहीं दिया गया। जिन रचनाओं के अध्ययन से चिन्तनशील व्यक्तियों का ही अनुरंजन हो सकता है, वे भी निबन्ध की कोटि में ही हैं। शुक्लजी ने ऐसी-रचनाओं को श्रेष्ठ माना है। जिन रचनाओं में गहन विचार-धारा है और उसके समझने में पाठक को मानसिक श्रम करना पड़े, शुक्लजी ऐसी रचनाओं की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं : "ऐसे निबन्धों की, जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।"[1] इन निबन्धों में तत्वचिन्तक की गूढ़ विचार-धारा के दर्शन होते हैं, पर व्यक्तिगत विशेषता के कारण ये रचनाएं प्रबन्ध की कोटि में न आकर निबन्ध ही हैं। इनमें कहीं हास्य, विनोद आदि मनोभावों के अतिरिक्त लेखक की अनुभूति का एक भावात्मक आवरण सारी विचार-धारा पर रहता है। इससे इनमें भाव और विचार-दोनों का सामंजस्य हो जाता है। शुक्लजी की रचनाएं इसी कोटि की हैं। ये रचनाएं सर्वसाधारण के मनोरंजन के लिए नहीं हैं। बलिष्ट शरीर वालों को कठोर शारीरिक परिश्रम से आनन्द की उपलब्धि होती है। गम्भीर तत्वचिन्तकों को भी साधारण कोटि की विचारधारा से अनुरंजन नहीं हो सकता। मानसिक श्रम से प्राप्त विचारों में उन्हें एक विशिष्ट बौद्धिक आनन्द प्राप्त होता है, उनका आत्मपरितोष होता है। इसी प्रकार भाव-जगत् में भी सामान्य स्तर की अपेक्षा उत्कृष्ट भावुकता में ही आनन्द आता है। प्रसाद जी की भावुकता एक विशिष्ट कोटि की है, उसमें तल्लीन होने वाले विशेष रूप से सुसंस्कृत व्यक्ति होते हैं। बुद्धि और हृदय के संस्कारों की भिन्नता के कारण सहृदयता भी भिन्न-भिन्न स्तरों की होती है। सहृदय में भी कोटि और प्रकारों की कल्पना हो जाती है।

हिन्दी में भावात्मक गद्य निबन्ध की कोटि से बाहर एक पृथक विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इसको गद्य-काव्य अथवा काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध का नाम दिया गया। शुक्लजी रायकृष्णदास की 'साधना' 'प्रवाल' आदि, वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद', महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी की 'शेष स्मृतियां' को इसी विधा में मानते हैं। भावात्मक निबन्धों की शैली के तीन रूप शुक्लजी ने माने हैं—धारा, तरंग और विक्षेप। विक्षेप शैली का एक अवान्तर भेद है—प्रलाप शैली। भावात्मक निबन्धों में शैली ही सबसे प्रधान तत्व है और उसी का निरूपण हुआ है।

ऊपर के इस विस्तृत विवेचन का तात्पर्य काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२०।

का विशदता के अतिरिक्त शुक्लजी की आलोचना-सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण भी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की दृष्टि से काव्य तथा उसकी अन्य विधाओं का प्रकृत स्वरूप क्या है, उनमें कौन-से तत्व हैं और उनका पारस्परिक तुलनात्मक महत्व क्या है। इन्हीं विचारों से आलोचना सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। आलोचना के दो प्रधान रूप हैं—प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक इन दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये तत्व प्रयोगात्मक आलोचना के आधार हैं तथा प्रयोगात्मक आलोचना से सिद्धान्तों का निर्माण होता है। अब हमें शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना पर विचार करना है।

पश्चिम में जिस आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है, उसके स्थूल रूप से तीन प्रधान प्रकार माने जा सकते हैं—१. निर्णयात्मक, २. निगमनात्मक, ३. प्रभावाभिव्यंजक। पहली प्रकार की समालोचना में आलोच्य रचना के गुण-दोषों का निर्देश होता है। इसके लिए आलोचकों को पहले से ही आलोचना के कुछ सिद्धान्तों के लिए विशेष मान को स्वीकार करना पड़ता है। आलोचक के सम्मुख आदर्श रचना का एक स्वरूप होता है, उसकी अच्छाई का एक निश्चित मानदण्ड होता है। उसके अनुकूल जो रचना होती है उसे ही यह श्रेष्ठ मानता है। इस आलोचना में मानदण्ड ऊपर से आरोपित होता है। इसमें कवि के उद्देश्य और उसकी रचना को समझने की अपेक्षा काव्य के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस आलोचना में सहृदयता की अपेक्षा पांडित्य अधिक अपेक्षित है। पर निगमनात्मक आलोचना में विश्लेषण द्वारा आलोच्य वस्तु में से ही आलोचना का मापदण्ड निकाला जाता है। इसमें कवि की सफलता किन्हीं बाहर से आरोपित सिद्धान्तों अथवा मानों द्वारा नहीं आंकी जाती, अपितु उसके उद्देश्य समझने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाता है। इसमें कवि की मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। विवेचन और विश्लेषण द्वारा रचना के उद्देश्य, सौंदर्य और महत्व का प्रतिपादन तथा मूल्यांकन ही इस आलोचना में प्रधान हैं। इस प्रकार की समीक्षा में व्यक्ति की रुचि के लिए स्थान नहीं है। किसी भी कृति के मूल्य को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिये उसके रचनाकार की मानसिक स्थिति, रचना-काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक आलोचक को आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धतियों का भी अवलम्बन करना पड़ता है। आलोच्य रचना अपने कलात्मक सौष्ठव के द्वारा पाठक के हृदय को कितना स्पर्श करने वाली है? इस प्रकार के हृदय को स्पर्श करने वाले गुण क्या हैं? इन प्रश्नों का भी आलोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इन दृष्टियों से विवेचन करना

पर विश्लेषणात्मक आलोचना में सौंदर्यवादी दृष्टिकोण भी अपनाना पड़ता है। सौंदर्य के विशिष्ट स्थलों का नामकरण करते हुए यह आलोचक तन्त्रवादी आलोचना के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्लेषणात्मक आलोचना में इन सभी प्रकार की आलोचनाओं का समावेश हो जाता है। विश्लेषण की व्यापक पद्धति का अनुसरण करते हुए विभिन्न मानों अथवा शैलियों का आलम्बन करने से ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आदि आलोचना-पद्धतियों का जन्म होता है। इसलिये इन सब प्रकार की आलोचनाओं का समावेश भी इसमें हो जाता है। शुक्ल जी भी इसी पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की समालोचनाओं को अन्तर्भूत मानते हैं।[1] निर्णयात्मक आलोचना बहुत कुछ पूर्व निश्चित सिद्धान्तों पर ही आधारित रहती है। पर फिर भी इसको विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन करना ही पड़ता है, बिना इस पद्धति के निर्णयात्मक आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता है। "In the interest of judicial criticism itself we have to recognise that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation. No judicial criticism can be of any value which has preceded by the criticism of interpretation."[2] प्रभावाभिव्यंजक आलोचना में ऐतिहासिक अथवा अन्य प्रकार के मूल्यों का विवेचन नहीं होता है। इसमें तो आलोचक रचना के अनुशीलन के फलस्वरूप अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभावों का ही निर्देश करता है। इसमें रचना के मूल्यांकन के लिए यही एकमात्र मानदण्ड है। आलोचक का हृदय कसौटी और मान है। इस आलोचना में बाहर से आरोपित सिद्धान्तों का प्रायः नितान्त अभाव हो जाता है। यह आलोचना विचारात्मक न होकर भावात्मक पद्धति का अनुसरण करती है और एक स्वतन्त्र रचना का रूप धारण कर लेती है। रुचि-वैचित्र्य के कारण इस आलोचना का व्यक्तिगत महत्व है। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता की पूर्ण अपेक्षा है। आलोच्य रचना के अनुशीलन से जो अनुभूति पाठक में जागृत होती है, उसको अभिव्यक्त करना भी आलोचना का एक प्रमुख कार्य है। प्रभाववादी आलोचक इसी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। अपनी सजीव शैली से पाठक में वही अनुभूति जागृत करता है जो कवि को अभीप्सित है। अगर प्रभाववादी आलोचक एक सुसंस्कृत रुचि का व्यक्ति हो, अपनी व्यक्तिगत रुचि को अनावश्यक महत्व न दे तथा प्रकृत विषय से दूर अपने ही भावों में न बह जाय तो इस आलोचना के सम्बन्ध में कार्लाइल के शब्द बहुत-कुछ खरे उतरते हैं।

१ शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास ५८१-८२
2. Milton: The Modern study of Literature.

"Criticism stands like an interpretor between the uninspired and the Inspired." आलोचक की रुचि का परिष्कार काव्यानुशीलन के अतिरिक्त दर्शन-इतिहास, साहित्य-शास्त्र आदि के अध्ययन पर आश्रित है। इतिहास, साहित्य-शास्त्र आदि जिन तत्वों का उपयोग विश्लेषणात्मक आलोचक प्रत्यक्ष रूप में करता है, जिन्हें वह एक प्रकार से मानदण्ड का स्वरूप दे देता है, वे ही तत्व प्रभाववादी आलोचक की रुचि के निर्णायक हैं। साहित्य-शास्त्र, इतिहास आदि के जिन तत्वों का विश्लेषणात्मक आलोचना में मान और शैली के रूप में प्रत्यक्ष उपयोग होता है, वे ही सहृदय की रुचि के अभिन्न अंश भी हो जाते हैं और प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा में भी इनका उपयोग परोक्ष रूप में सम्भव है। विश्लेषणात्मक पद्धति की सम्पूर्णता के लिए प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का साधारण अवलम्ब अपेक्षित है। पाठक के हृदय में कवि के अनुरूप ही अनुभूति जागृत करने में सहायक होकर पाठक को कृति का अधिक आनन्द प्राप्त करने तथा कृति के महत्व को हृदय से स्वीकार करने का अवसर प्रभाववादी आलोचक देता हैं। इसलिए आलोचना का समीचीन रूप इन दोनों के समन्वय में है। स्पिनगार्न इसी का समर्थन करते हैं।[1] आचार्य शुक्ल का भी यही दृष्टिकोण हैं और उन्होंने अपनी आलोचना में इस समन्वित पद्धति का अनुसरण किया है।

शुक्लजी विश्लेषणात्मक आलोचना को ही उच्च मानते हैं। हिन्दी के गद्य-साहित्य के तृतीय उत्थान-काल में आलोचना के जो प्रयास हुए हैं, उनको शुक्लजी ने उच्चकोटि की आलोचना के नाम से अभिहित किया है : "कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति की छान-बीन करने वाली उच्च कोटि की आलोचना का प्रारम्भ तृतीय उत्थान में जाकर हुआ।"[2] कला-कृति भावात्मक अथवा कल्पनात्मक होती है। इसकी समीक्षा विचारों द्वारा ही हो सकती है, कल्पना या भावुकता द्वारा नहीं। इसकी समीक्षा का तात्पर्य ही विचार है। शुक्ल जी कहते हैं: "समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना से नहीं।[3]

इसी प्रसंग में शुक्लजी दो शक्तियों का निरूपण भी करते हैं। तथ्य-बोधक या सांकेतिक और भाव-प्रवर्तक। इनमें से प्रथम प्रकार के शब्द ही समीक्षा के

1. J. E, Spingarn : The new criticism.
२—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५८८।
३—काव्य में अभिव्यंजनावाद, चिन्तामणि भाग २, पृ० २२०।

उपयुक्त हैं। प्रभावाभिव्यंजक आलोचना को वे ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं मानते। इस पद्धति के नाम पर आलोचकों ने अनावश्यक भावुकता में पड़कर व्यर्थ का वाग्जाल खड़ा किया है। यह वाग्जाल रचना को समझने और उसके वास्तविक मूल्य के आँकने में बाधक है : "प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य का, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पदविन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्लेषणात्मक आलोचना को ही शुक्लजी साहित्य-समीक्षा का समीचीन स्वरूप मानते हैं। पर जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, इन तीनों पद्धतियों के सामंजस्य में ही आलोचना का सर्वांगीण और सम्यक् विकास है। विवेचना के उपरान्त जिस निर्णय पर आलोचक पहुँचता है, उसका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। विश्लेषण के बाद निर्णय स्वाभाविक भी है। शुक्ल जी निर्णयात्मक आलोचना की व्यावहारिकता भी स्वीकार करते हैं : "सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार पक्ष भी है। उसके द्वारा साधन-हीन अधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य-क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय।"[2] शुक्ल जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यंजक दोनों प्रकार की आलोचनायें पाठक का ध्यान काव्य से हटाकर अन्यत्र ले जाती हैं। विश्लेषणात्मक आलोचना भी काव्य के स्थान पर इतिहास, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान की बातें करने लगती है। वे विश्लेषणात्मक समीक्षा में तीनों का समन्वय आवश्यक समझते हैं। समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि—दोनों अपेक्षित है। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं।"[3] शुक्ल जी ने स्पिनगार्न के मन्तव्य को अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। आलोचक का प्रधान कार्य विचार और विश्लेषण ही है। पर कला-कृति की अनुभूति का साक्षात्कार कराने में भी आलोचक सहायक होता है और इसके लिये उसे भावात्मक अथवा प्रभाववादी होना पड़ता है। विश्लेषण के उपरान्त निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक

१—इतिहास पृ० ६२६।
२—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६६
३—वही, पृ० ६५

भी है और साहित्य के विकास के लिए उपादेय भी, यह हम पहले देख चुके हैं। इस प्रकार शुक्लजी आवश्यकतानुसार आलोचना की इन तीनों पद्धतियों का उपयोग आवश्यक तथा समीचीन समझते हैं। यही उनका सामंजस्य है। वे प्रभाववाद के नाम पर केवल भावुकता का झूठा प्रदर्शन और वाग्जाल तथा सुरुचि और विद्वत्ता के नाम पर विश्लेषण-शून्य निर्णय के विरोधी हैं। शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना में इन तीनों का सामञ्जस्य है। विश्लेषणात्मक आलोचना में भी उन्होंने ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि पद्धतियों का यथावसर उपयोग किया है। इस प्रकार शुक्लजी में आलोचना की सर्वांगीण पद्धति का विकास हुआ है। कहीं-कहीं आलोचना के मान में उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य हो गया है। उसके कारण कुछ लोग उनमें पक्षपात की प्रवृत्ति भी मानते हैं। अन्यथा शुक्लजी की पद्धति सर्वांगीण और समीचीन है। यह पद्धति उनकी हिन्दी-साहित्य को देन है।

निगमनात्मक समीक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में यह कई स्थानों पर कहा जा चुका है कि उसमें मान का आरोप नहीं होता है अपितु आलोच्य रचना से निकाले हुए साहित्य-सिद्धान्त ही मान का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शुक्लजी ने अपने मान तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' तथा उनकी अन्य रचनाओं के आधार पर ही निर्मित किये हैं। शुक्लजी उसी साहित्य-रचना को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें जीवन के व्यापक स्वरूप का अनुभूतिमय चित्र लोक-धर्म और शील विकास को सामंजस्यपूर्ण स्थायी प्रेरणा देने वाले हों, केवल सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य चिरस्थायी नहीं होता है। शुक्ल जी साहित्य और जीवन के घनिष्ठ बौद्धिक सम्बन्ध के अतिरिक्त आनन्दानुभूति को भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। रसानुभूति और लोक-धर्म के सिद्धान्त ही गोस्वामीजी की रचना के प्राण हैं। यह मानदण्ड शुक्लजी को तुलसीदास जी से मिला है। इस मानदण्ड पर तुलसी के काव्य के अतिरिक्त भारतीय साहित्य-शास्त्र की भी स्पष्ट छाप है। आनन्दानुभूति के अनुरूप काव्य में जिन तत्वों का समावेश शुक्ल जी को मान्य है, उनका विवेचन विशद रूप में ऊपर किया जा चुका है। गोस्वामी जी की कविता में भारतीय आदर्श का पूर्ण निर्वाह है। इसलिए शुक्लजी की साहित्यिक धारणा में भी शास्त्रीय अनुशासन की कठोरता के साथ भावुकता का समन्वय है। उनके नीति, शील और लोक-धर्म पर अवलम्बित सुधारवादी दृष्टिकोण का उच्चतम सहृदयता के साथ पूर्ण सामंजस्य है। उनकी वैयक्तिक रुचि पूर्णतः परिष्कृत है। इसलिए उसमें एक ही साथ शास्त्रीयता, नैतिकता और भावुकता का भी पूर्ण निर्वाह है। गोस्वामी जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं में "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा", "जथा मति अनन्त अनन्त छवि लखहीं" तथा "सुरसरि सम सब कर हित होई" का सुन्दर समन्वय

है। उसी प्रकार शुक्लजी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से भी स्वान्तः सुखाय, प्रेषणीयता तथा लोक-हित का सम्मिश्रण है। शुक्लजी की रुचि में प्रौढ़ भावुकता और शास्त्र-ज्ञान का सामंजस्य है। यही कारण है कि उनकी आलोचनाओं में तीन पद्धतियों का समन्वय हो सका है।

शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना प्रमुखतः भूमिकाओं के रूप में ही है। सूर, तुलसी और जायसी की भूमिकाओं के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा 'शेष स्मृतियाँ' नामक आधुनिक गद्य-ग्रन्थ की भूमिका भी लिखी हैं। शुक्लजी का मानदण्ड तो सर्वत्र ही प्रायः समान-सा है, केवल थोड़ी शैली में भावुकता या बौद्धिकता की कमीवेशी है। इन तीनों भूमिकाओं में उनकी शैली विश्लेषणात्मक है तथा उनका मान नीति, भावुकता और शास्त्रीयता के सम्मिश्रण से निर्मित है। स्थूल रूप से हम शुक्लजी की आलोचना के दो विभाग कर सकते हैं—रूपात्मक और उद्देश्य-सम्बन्धी। रूपात्मक में रस, भाव, अलंकार आदि सभी काव्यांगों की दृष्टि से किये गये विवेचन का समावेश हो जाता है। इनको अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि शुक्लजी इस विवेचन में रसवादी हैं। अलंकार, गुण, रीति आदि का रस की दृष्टि से वे औचित्य मानते हैं और इसी दृष्टि से उनके महत्व का प्रतिपादन करते हैं। इनके पूर्ववर्ती आलोचक रस, अलंकार, आदि का जिस प्रकार स्थूल निर्देश भर करते रहे, वैसे शुक्लजी ने नहीं किया है। उनकी पद्धति विश्लेषणात्मक है। वे किसी स्थल पर किसी विशेष अलंकार, भाव अथवा रस का "लेबिल" चिपका देने को ही आलोचना नहीं मानते। पर्याप्त कारणों द्वारा पाठक को उसका स्वरूप समझाकर उनकी उपस्थिति पाठक को स्पष्ट कर देते हैं। पहले प्रकार की पद्धति का भी शुक्लजी ने बहुत उपयोग किया है। सूर-तुलसी और जायसी की आलोचना में इस पद्धति के पर्याप्त उदाहरण हैं। अनेक स्थानों पर वे केवल इतना ही निर्देश करते हैं कि यहां पर 'व्यतिरेक' अलंकार है अथवा यहां अमुक भाव।[1] लेकिन अलंकारों की अपेक्षा शुक्लजी ने भावों की आलोचना अधिक की है। उन्होंने स्थायी, संचारी आदि भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आश्रय और आलम्बन की विभिन्न मानसिक दशाओं और शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन किया है। शुक्लजी का भावुक-हृदय इन दशाओं का अनुभव करता है। वे अपने हृदय की अनुभूति को, जिसका प्रायः कवि-हृदय से सामंजस्य भी है, पाठकों के समक्ष सजीव रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ वर्णन के उपरान्त आलोच्य रचना के अवतरण उद्धृत करते हुए वे आगे बढ़ते हैं। इन वर्णनों के द्वारा रचना के सौन्दर्य और

१—जायसी ग्रंथावली-भूमिका—अलंकार—प्रसंग, पृ० १४२-१४३

मार्मिकता का उद्‌घाटन करना ही उनका उद्देश्य है। इसको परिचयात्मक शैली का ऐप्रीसियेटिव क्रिटिसिज्म कह सकते हैं। शास्त्र का आधार लेने के कारण तथा अत्यन्त परिष्कृत रुचि के फलस्वरूप इस आलोचना में वैयक्तिक रुचि का प्रधान्य नहीं प्रतीत होता है। यह वैयक्तिक न रहकर लोक-रुचि हो गई है। सहृदयता के साथ लोकरुचि का मिश्रण आलोचक का बहुत बड़ा गुण है। शुक्लजी की समीक्षा में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना की भावुकता के साथ शास्त्रीय प्रमाणिकता का सुन्दर समन्वय हो गया है। पर वह पूर्ववर्ती समीक्षकों की तरह केवल प्रशंसा करने या दाद देने भर तक ही सीमित नहीं हैं। पूर्ववर्ती आलोचकों के-से, 'वाह वाह' वाले वाक्यों का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिल जाता है। लेकिन ये अत्यन्त विरल हैं। स्वयं आलोचक का मन जब मुग्ध हो जाता है तो वह ऐसे वाक्यों का प्रयोग पाठक में भी वैसे ही अनुभूति जाग्रत करने तथा उसमें मूलभाव का साक्षात्कार कराने के लिए करता है। "परिहास के अतिरिक्त अन्तिम चरण प्रेम की उच्च दशा के औदार्य की कैसी साफ झलक है।" इस आलोचना का उद्देश्य पाठक को कवि की सुन्दर उक्तियों के सौन्दर्य पर मुग्ध करना है। आलोचक स्वयं मुग्ध होता है और वह अपनी सजीव शैली से पाठक को भी मुग्ध करना चाहता है।

आलोचना के स्वरूप-विकास के अनुसार आलोचना का आधुनिकतम रूप निगमनात्मक माना जाता है। शुक्लजी में हमें इसी के अधिक दर्शन होते हैं। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता तो है ही, पर साथ ही विचार-सरणी भी शास्त्रीय है। स्थायी, संचारी आदि भावों, अनुभावों, हावों आदि की दृष्टि से ही विवेचन हुआ है। पूर्व निर्मित मानदण्ड पर आधारित होने के कारण इस आलोचना को पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कह सकते हैं। हां, इनमें विवेचनात्मक शैली का अनुसरण अवश्य हुआ है। आचार्य शुक्ल को मौलिक चिन्तन का भी अवसर मिला है। उनकी तलस्पर्शी विवेचनात्मक बुद्धि तथा उत्कृष्ट भावुकता ने नवीन भाव-दशाओं का भी निरूपण किया है। शुक्लजी ने नवीन मानसिक दशाओं के नामकरण किये हैं। उनकी सहृदयता ने एक ही भाव की विभिन्न सूक्ष्म अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लिया है। आश्चर्य से मिलती-जुलती परन्तु उससे कुछ भिन्न 'चकपकाहट' नामक भाव-दशा के दर्शन शुक्लजी के भावुक हृदय ने सूर के 'हम सों कहत कौन की बातें' नामक पद में किये हैं।[1] 'उदासीनता' का एक नवीन रूप मंथरा और कैकेयी के वार्तालाप में मिलता है। ग्रामीण स्त्रियों का भगवान् के प्रति जो रति-भाव है, उसका रति

१—'भ्रमरगीत सार की भूमिका, पृ० ५५

के किसी भी परम्परा-सम्मत शास्त्रीय विभाग में समावेश नहीं हो सकता है, पर फिर भी शुक्लजी ने उसकी उत्कृष्टता और मार्मिकता का निरूपण किया है। इन नवीन भाव-दशाओं का निरूपण भी शास्त्रीय पद्धति का ही अनुसरण करने वाला है। इसलिए शुक्ल जी की रूपात्मक आलोचना को विशुद्ध निगमनात्मक कहने की अपेक्षा तन्त्रवादी कहना अधिक समीचीन है। हां, इनकी शैली निर्णयात्मक, निर्देशात्मक या परिचयात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक हुई है, इसीलिए उसमें निगमनात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचना के प्रौढ़ तत्व अवश्य विद्यमान हैं। एक-आध उद्धरणों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शुक्लजी ने अपनी इस रूपात्मक आलोचना में भावुकतापूर्ण वर्णन और परिचय के साथ तान्त्रिक और शास्त्रीय विश्लेषण किया है। शुक्लजी की शास्त्रीय एवं तन्त्रवादी समीक्षा का मूल आधार भारतीय साहित्य-शास्त्र है। पर इसमें उन्होंने प्राचीन साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्वों का भी पर्याप्त उपयोग किया है। "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" के भाव-सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं : "ठोकि बजाय" में कितनी व्यंजना है। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो-दो, तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव का गुरुत्व हृदय को सीधा जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भाव-पंचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष—इन तीनों की मिश्र व्यंजना पाई जाती है।"[1] आलोचना की यह परम्परा, छन्दों की तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यंजक व्याख्या, पद्मसिंह शर्मा आदि में भी कुछ उपलब्ध होती है। पर शुक्लजी इसी परम्परा को प्रौढ़ रूप प्रदान कर देते हैं। सहृदयता, मनोवैज्ञानिकता और तन्त्रवादिता के सम्मिश्रण से जो प्रौढता शुक्लजी के इस विवेचन में आई हैं, उसका अनुकरण आज भी हो रहा है। कवियों के भाव और कला-सौष्ठव की विभिन्न छन्दों के उद्धरणों द्वारा अनुभूतिमय और तन्त्रवादी विश्लेषण की परम्परा आज भी प्रचलित है। 'शेष स्मृतियाँ' की भूमिका में शुक्लजी ने तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। शुक्लजी की इस रूपात्मक आलोचना का अनुसरण परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक किया है। विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए परीक्षोपयोगी जो पुस्तकें प्रस्तुत हुई हैं, उनमें प्रमुखतः इसी शैली का अनुसरण हुआ है। इन आलोचनाओं में शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके सहृदयता और भावुकतापूर्ण शैली में

१—भ्रमरगीतसार की भूमिका पृ० २३।

परिचय और विश्लेषण द्वारा आलोच्य रचना की सौन्दर्यानुभूति पाठक में जाग्रत करके उसके महत्व का प्रतिपादन हुआ है। शुक्लजी की तरह प्रायः परवर्ती आलोचकों ने भी महत्व सम्बन्धी निर्णयों में पाठकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है ये आलोचक सौन्दर्यानुभूति द्वारा पाठकों को मुग्ध करके रचना के महत्व का स्वयं मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान करते हैं।

पं० कृष्णानन्द ने 'त्रिवेणी' की भूमिका में "तत्व-निरूपण" को उत्कृष्ट समालोचना का आवश्यक अङ्ग माना है। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि निगमनात्मक समीक्षा की एक यह प्रमुख विशेषता है कि आलोच्य रचना के आधार पर साहित्य-सिद्धान्तों का निरूपण होता जाय। ऊपर हमने देखा है कि शुक्ल जी में प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक—दोनों प्रकार की आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होंने पृथक् रूप से सिद्धान्तों का विवेचन भी किया है, पर इन भूमिकाओं तथा अपने इतिहास में भी प्रसंगानुसार वे विवेचन करते गए हैं। प्रबन्ध-काव्य की विशेषताएं, प्रबन्ध और मुक्तक का अन्तर, आश्रय और आलम्बन की चेष्टाओं का विवेचन आदि अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन का अवसर शुक्लजी को इन प्रयोगात्मक आलोचनाओं में ही मिला है। उनमें से अधिकांश समीक्षा तत्व इन आलोच्य रचनाओं से ही निःसृत हैं। इन विवेचनों में शुक्लजी का मौलिक चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है। प्रबन्ध काव्य के जिन तत्वों को शुक्लजी ने माना है, वे तो हिन्दी-साहित्य में सर्वमान्य से हो गए हैं। आलोचना के प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक रूप का सम्मिश्रण शुक्ल जी की आलोचना की बड़ी भारी विशेषता है। रूपात्मक आलोचना शुक्लजी की आलोचना का महत्वपूर्ण अंग है। इसका प्रतिमान शुक्लजी को शास्त्रों एवं लक्ष्य-ग्रन्थों के गम्भीर मनन तथा उनकी अपनी वैयक्तिक रुचि और मौलिक चिन्तन द्वारा प्राप्त हुआ है। उनकी वैयक्तिक रुचि के निर्माण का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व भी उनके अध्ययन पर ही है। हमने ऊपर इस आलोचना का विश्लेषणात्मक शैली में अन्तर्भाव किया है। शुक्लजी के परवर्ती काल में निगमनात्मक पद्धति समीक्षा का प्रधान स्वरूप ही बन गई। उसमें आरोपात्मक पद्धति का भी प्रयोग होता रहा। इन दोनों के मार्ग-प्रदर्शन का श्रेय शुक्लजी को ही है।

प्रयोगात्मक आलोचना का दूसरा विभाग है—उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना। साहित्य को शुक्लजी सोद्देश्य मानते हैं। वे कलावादी नहीं, अपितु रसवादी और मूल्यवादी हैं। वे काव्य में रस और नीति दोनों के समन्वय को मानने वाले हैं। रूपात्मक आलोचना में विभाव, भाव, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि के सौंदर्य का विवेचन भी वे रस की दृष्टि से ही करते हैं। वे इन सबमें रसौचित्य का निर्वाह

आवश्यक मानते हैं। वे साहित्य का उद्देश्य जीवन के व्यापक स्वरूप का रसात्मक अनुभव कराना तथा मानव को नीति और धर्म की प्रेरणा देना मानते हैं। व्यक्ति के रागात्मक प्रसार, शील विकास एवं लोकमंगल की चेतना का विकास—ये सभी तत्व शुक्ल जी द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजन के इसी स्वरूप को व्यक्त करते हैं। वर्णाश्रम और भारतीय मर्यादावाद पर प्रतिष्ठित धर्म और नीति की ओर मानव को ले जाना उनकी दृष्टि से साहित्य का परम उद्देश्य है। शुक्लजी की दृष्टि से शक्ति, शील और सौन्दर्य का पूर्ण सामंजस्य ही नायक की श्रेष्ठता का मान है। उनमें मर्यादा का पूर्ण निर्वाह आवश्यक है। इन गुणों की पूर्ण प्रतिष्ठा लोक-मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम में ही है। ऐसे स्वरूप के लिए पूज्य बुद्धि का संचार स्वाभाविक है। भक्ति का यह स्वरूप सेव्य-सेवक भाव का ही हो सकता है, सख्य अथवा माधुर्य का नहीं। सख्य अथवा माधुर्य के लिए आलम्बन में केवल सौन्दर्य के अलौकिक रूप की प्रतिष्ठा आवश्यक है। जब भगवान की शक्ति और शील का प्रधान रूप से आविर्भाव रहता है उस समय भक्त का महत्व बुद्धि की चेतना एवं सेव्य-सेवक भाव की भक्ति सहज है। पर भगवान के सौन्दर्य रूप के आविर्भाव में जाग्रत माधुर्य-भाव की भक्ति उससे कम नहीं होती है। प्रेम की पराकाष्ठा की दृष्टि से तो माधुर्य भाव की भक्ति उच्च है। शुक्लजी का इस तथ्य पर समुचित ध्यान नहीं गया। शुक्लजी के मान पर लोक-मर्यादा, नीति, सेव्य-भाव की भक्ति, जीवन के व्यापक स्वरूप का चित्रण, शक्ति, शील और सौन्दर्य के समन्वय का आग्रह—इन सबकी स्पष्ट छाप है। ये उनके मान के विशेष तत्व हैं। जैसे रूपात्मक समीक्षा में शुक्लजी को प्रबन्ध-काव्यत्व श्रेष्ठता का आधार प्रतीत होता है, वैसे उद्देश्य सम्बन्धी समीक्षा में उपर्युक्त तत्वों में शुक्लजी के व्यक्तित्व के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पर वे उन्हें तुलसी की रचना से ही प्राप्त हुए हैं। तुलसी का काव्य, जीवन-चरित्र और भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रधानतः यही है। शुक्ल जी को भी ये विचार वहीं से प्राप्त हुए हैं, इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि शुक्ल जी का प्रतिमान तुलसी की रचना से स्वतः निकला है, अथवा उनकी रचना के उपयुक्त है। लेकिन सूर, जायसी तथा रीतिकालीन और आधुनिक छायावादी कवियों के लिये यह मानदण्ड आरोपित ही माना जाएगा। तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियों की उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना में प्रायः सर्वत्र ही, तथा रूपात्मक आलोचना में कहीं-कहीं, शुक्ल जी ने तटस्थ होकर कवि की देय वस्तु के निष्पक्ष मूल्यांकन करने का प्रयास कम किया है। इन कवियों की आलोचना में शुक्ल जी की दृष्टि उन कमियों की ओर ही अधिक गई है, जिनका इतने कठोर और स्थिर मानदण्ड के कारण उन रचनाओं में प्रतीत होना अपरिहार्य था। शुक्ल जी अपने मानदण्ड को सर्वत्र रचना और कवि के अनुकूल बदल नहीं सके।

इसलिए यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं कि शुक्लजी की आलोचना का माप कुछ अंश में 'तुलसीमय' है अथवा यों कहना अधिक समीचीन है कि 'मानसमय' हो गया है। तुलसी ने अपनी सभी रचनाओं में मानस की मर्यादा का निर्वाह किया है। पर उनकी 'गीतावली' आदि का सौन्दर्य "मानस" के प्रबन्ध-काव्योचित तथा नीतिवादी दृष्टि-कोण से पूर्णतः हृदयंगम नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि शुक्ल जी के प्रतिमान को सामान्यतः "मानसमय" कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता हैं; जीवन–स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं; इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता है।"[1] शुक्ल जी का यह मत सैद्धान्तिक रूप से समीचीन होते हुए भी, प्रयोग में आग्रह का रूप धारण कर गया है। जीवन के एकांगी रूप का चित्रण करने वाला सूर कम भावुक नहीं कहा जा सकता। शक्ति, शील और सौन्दर्य में से केवल सौन्दर्य को ही लेकर चलने के कारण सूर का काव्य निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। जीवन के विभिन्न स्वरूपों की प्रेरणा न होते हुए भी इस अलौकिक सौन्दर्य में अद्‌भुत उच्चकोटि की रसमयता है। इस स्थिति में व्यवहार-जगत की मर्यादा के सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। मानव विधि-निषेध से ऊपर उठकर आनन्द के अथाह सागर में अवगाहन करता है। यह भक्ति की चरम स्थिति है। शील और शक्ति भी भक्ति में अलौकिक सौन्दर्य के उत्कर्षक बन जाते हैं। राक्षसों के हनन में कृष्ण की अलौकिक शक्ति के दर्शन अवश्य होते हैं। पर सूर की भक्ति में कृष्ण के इस स्वरूप की अपेक्षा रास-रसिक कृष्ण का ही अधिक महत्व है। शुक्ल जी का इस ओर ध्यान न जाना तो उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है। मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को, निर्गुण की अपेक्षा सगुण को तथा रहस्यवाद की अपेक्षा भक्ति को उत्कृष्ट मानना शुक्ल जी की आलोचना से अत्यन्त स्पष्ट है। जायसी के काव्य को हिन्दी-साहित्य में इतना उच्च स्थान प्राप्त करने का श्रेय शुक्लजी को ही है। इसका प्रधान कारण भी उनकी रचना का प्रबन्ध कोटि में आना ही है। शुक्ल जी ने उनकी प्रबन्ध-पटुता, प्रेम-तत्व, वियोग, भावुकता आदि का जितना विशद वर्णन किया है, उतना रहस्यवाद का नहीं। जायसी और कबीर की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए शुक्ल जी यह भूल गये हैं कि कबीर की रचना का जनता ने कितना अधिक स्वागत किया है तथा इन निर्गुण भक्ति वाले

१—गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ९३।

कवियों ने तत्कालीन जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया है; कितनी नवीन चेतना दी है, जीवन के कितने शाश्वत मूल्यों का बोध जगाया है। रहस्यवादी प्रतीकों के आवरण में भी कबीर तथा अनेक इन्हीं साम्प्रदायिक कवियों की कविता में उत्कृष्ट मार्मिकता और हृदयस्पर्शिता के भी दर्शन होते हैं। कबीर आदि की रहस्यवाद एवं भक्तिभावना के समन्वय पर आधारित मर्मस्पर्शिता जायसी से किसी प्रकार कम नहीं है। इन भावनाओं की उपेक्षा भी वैयक्तिक रुचि की प्रबलता को ही स्पष्ट कर रही है। आधुनिक कविता में भी गुप्तजी, सियारामशरण, गुरु-भक्तसिंह आदि प्रबन्धकारों तथा बहुत-कुछ इतिवृत्तात्मक काल के कलाकारों का ही शुक्लजी द्वारा मूल्य अधिक आँका जा सका है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की रचनाओं में नवीन युग-चेतना और उनकी प्रौढ़ प्रतिभा का पूरा मूल्यांकन नहीं हो पाया। प्रबन्ध की उस धारा में, जिसमें शुक्लजी सच्चे स्वच्छन्दतावाद का विकास मानते हैं, छायावाद बाधक सिद्ध हुआ है, इसलिए उसकी कमियों की ओर ही शुक्लजी का ध्यान अधिक गया है। शुक्लजी उसकी कुछ स्थूल भावात्मक और रूपात्मक आलोचना ही अधिक कर सके हैं। उसमें जीवन के नूतन दर्शन और नवीन प्राणों का स्पन्दन नहीं देख सके। पर छायावाद तथा उसके कवियों की काव्य-शैली एवं भाषा के भाव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति-क्षमता पर जितना प्रौढ़ तथा शास्त्रीय विवेचन शुक्लजी ने किया है वह प्रायः अन्यत्र दुर्लभ ही रहा है, वह परवर्ती विवेचन का उपजीव्य बन गया है। तुलसी के राम मर्यादातीत भी हैं, इनकी भक्ति सेव्य-सेवक भाव से ऊपर उठी हुई अद्वैत की भूमिका एवं ज्ञान और भक्ति के पूर्ण समन्वय पर अधिष्ठित भी है। उस रमणीय भूमिका का साक्षात्कार शुक्लजी की समीक्षा नहीं कर पाई है। इससे उसे तुलसीमय या मानसमय भी सामान्यतः कह सकते हैं, पूर्णतया नहीं।

मूल्यवादी तथा रूपात्मक—दोनों प्रकार की आलोचनाओं का सम्बन्ध कलाकृति से ही है। लेकिन कलाकार के व्यक्तित्व पर विचार किये बिना आलोचना का कार्य अपूर्ण ही माना जायगा। पाठक और समीक्षक के सम्मुख कला-कृति ही है और उसी की समालोचना आलोचक का प्रधान कार्य है। पर कृति और व्यक्ति का परस्पर में अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण कभी-कभी कलाकार पर भी दृष्टि डालना प्रायः आवश्यक-सा हो जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व पर ही रचना के वर्ण्य विषय का स्वरूप, चिन्तनधारा और अभिव्यंजना की शैली आधारित है। इन सबका मूल स्रोत और प्रेरणा वही है। इसलिए इन सबका अध्ययन करते हुए कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन भी करना ही पड़ता है। कलाकृति में व्यक्तित्व के दर्शन तथा व्यक्तित्व में कलाकार के स्वरूप की प्रेरणा—ये दोनों ही मनोवैज्ञानिक आलोचना के अङ्ग हैं। काल और देश से निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी भी

कलाकार अथवा कला-कृति को अपनी परिवृत्ति से मुक्त करके नहीं देखा जा सकता। व्यक्तित्व का निर्माण परिवृत्ति ही करती है। रचना की सामग्री जीवन से उपलब्ध होती है। उसकी विशिष्ट शैली के लिए भी तत्कालीन जीवन ही उत्तरदायी है. कुछ महान कलाकार देश और काल की संकुचित परिधि के ऊपर होते हैं। ऐसे ही कलाकारों की कृतियां साहित्य की चिरन्तन सम्पत्ति होती हैं। तुलसी और प्रसाद ऐसे ही कलाकार हैं। आलोचक का कार्य इन चिरंतन तत्वों को स्पष्ट करना है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे कलाकार भी परिवृत्ति से सर्वथा निरपेक्ष होते हैं। परिवृत्ति की प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्तित्व पर समान नहीं होती। इन महान् कलाकारों पर देश-काल की प्रतिक्रिया भी उन्हें देश-काल की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके जीवन के चिरस्थायी और व्यापक स्वरूप का दर्शन कर लेने को बाध्य करती है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'रामचरित-मानस' और 'कामायनी' की रचना के लिए तुलसी और प्रसाद का व्यक्तित्व ही अपेक्षित है। इस काल के दूसरे कवि इनकी रचना नहीं कर सकते थे। पर इसके साथ यह मानना भी ठीक नहीं है कि मानस की रचना रीति-काल में नहीं हो सकती थी। 'कामायनी' की भावुकतापूर्ण शैली और दार्शनिक विचार-धारा के लिए प्रसाद जी के व्यक्तित्व के अतिरिक्त तत्कालीन परिवृत्ति भी उत्तरदायी है, इसीलिए आलोचक के लिए रचना और रचयिता की परिवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी ही ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने कला-कृति के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व और उसके देश-काल के अध्ययन का सूत्रपात किया है। इनकी प्रौढ़ विश्लेषणात्मक शैली का ऐसा व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा है कि परवर्ती और समकालीन सभी आलोचकों ने इसे अपनाया है। कलाकार और उसकी परिवृत्ति का अध्ययन तो आधुनिक समालोचना के प्रमुख तत्व हैं। बहुत से समालोचक प्रधानत: कलाकार के व्यक्तित्व का तथा बहुत से उसके परिवेश का अध्ययन करते हैं।

रचना, रचयिता के व्यक्तित्व तथा परिवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर ही समालोचना की अनेक शैलियों और सम्प्रदायों की कल्पना हुई है। मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक—दोनों प्रकार की समीक्षाओं के मूल में कलाकार के व्यक्तित्व का विचार है, पर दृष्टिकोण-भेद ने इन पृथक् दो शैलियों को जन्म दिया है। शुक्लजी मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि पद्धतियों को विश्लेषणात्मक शैली के ही अवान्तर भेद मानते हैं।[1] शुक्ल जी ने

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५८२-५८३।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शैलियों का पर्याप्त उपयोग किया है। रचना और रचयिता पर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभावों का विचार करने के अतिरिक्त ऐतिहासिक समालोचना का कार्य किसी रचना की परम्परा निश्चित करना तथा उस परम्परा में उसका मूल्य निर्धारण करना है। शुक्लजी ने अपनी आलोच्य रचनाओं पर इस दृष्टि से भी विचार किया है। उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी की परम्पराओं का तात्त्विक विवेचन किया है। साहित्य के इतिहासकार होने के कारण शुक्लजी को साहित्य की सभी धाराओं तथा उनके कवियों की परम्पराओं का निरूपण करना पड़ा है। इस प्रकार ऐतिहासिक समालोचना तो उनकी एक प्रधान विशेषता मानी जा सकती है। राम और कृष्ण-काव्य की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का भी निरूपण हुआ है। शुक्लजी ने शील, शक्ति और सौन्दर्य के अधिष्ठान और राम के चरित्र के जनता द्वारा इतने अधिक अपनाये जाने के कारणों का भी विवेचन किया है। देश की तत्कालीन परिस्थिति में निर्गुण भक्ति का जनता स्वागत नहीं कर सकती थी। उसे ऐसे भगवान् की आवश्यकता न थी जो केवल ध्यानगम्य ही हो, जिसका साक्षात्कार समाधि में ही हो सके। उस समय तो निराश जनता को उस भगवान् की आवश्यकता थी जो उनके दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षण में उसका साथ दे सकें। अलौकिक शक्तिवान होते हुए भी मानव रूप में जन-साधारण का-सा व्यवहार करने वाले भगवान् की खोज में जनता था। जनता की चिर-अभिलषित आकांक्षा सूर और तुलसी के काव्यों के नायक राम और कृष्ण के रूप में पूरी हुई। शुक्लजी ने इस विवेचन में इन काव्यों की। ऐतिहासिक प्रेरणाओं का निरूपण किया है। इसमें बहुत सामान्य पृष्ठभूमि का ही विवेचन हो सकता है। सारी रचना किस प्रकार और कहाँ तक तत्कालीन परिवृत्ति की उपज है? इन काव्यों की चरित्र-कल्पना, जीवन के चित्रण, बौद्धिक विचार आदि के लिए देश और काल कितना उत्तरदायी है, ऐसी गम्भीर और तलस्पर्शी ऐतिहासिक समीक्षा की ओर शुक्लजी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है। शुक्लजी ने जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण किया है वह साहित्य के लिये फोटोग्राफी के परदे का कार्य अधिक करती है। वह पृष्ठभूमि नहीं बन पाई है जो कलात्मक चित्र में साकार और सघन होती है। किसी काल का साहित्य उस काल की सहज परिणति है इस रूप में ऐतिहासिक समीक्षा के प्रयास अभी हिन्दी क्षेत्र में विरल हैं। फिर भी शुक्ल जी के परवर्ती काल में इस पद्धति का विकास हुआ है। इन रचनाओं के आधार पर तत्कालीन जीवन की विशेषताओं और स्वरूप का अनुमान करने की प्रवृत्ति भी कहीं नहीं दिखाई पड़ती है। शुक्लजी ने इन काव्यों की परम्परा की ओर तो निर्देश किया है पर इन परम्पराओं में आलोच्य रचनाओं का क्या महत्व है, इस प्रकार के

मूल्यांकान की चेष्टा के दर्शन कहीं भी नहीं होते हैं। आज की ऐतिहासिक समीक्षा का यह एक प्रधान तत्व है। ऐसे प्रयास 'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण ग्रन्थावली की भूमिका', 'उद्धव शतक' की भूमिका आदि कई एक परवर्ती आलोचना-ग्रन्थों में हुए हैं, शुक्लजी में ऐतिहासिक समीक्षा के विकास की प्राथमिक अवस्था के ही दर्शन होते हैं। इनके पहले के आलोचकों में तो इस आलोचना के अत्यन्त अविकसित और अप्रौढ़ संकेत-मात्र बिखरे हुए ही थे। उन्हें तो अगर ऐतिहासिक समीक्षा के पूर्वाभास-मात्र कह दिया जाय तो कोई अनुचित नहीं।

तुलसीदास जी की रचनाओं के आधार पर उनकी प्रकृति और स्वभाव का निरूपण हुआ है। शुक्ल जी ने भक्ति-धर्म आदि के सम्बन्ध में कवि की धारणाओं के विश्लेषण के अतिरिक्त रचनाओं के आधार पर ही कवि-स्वभाव का भी अनुमान लगाया है। तुलसीदास में एक ओर चरम कोटि का दैन्य और निरभिमानता मिलती है। 'विनय पत्रिका' के अनेक पद तथा 'मानस' के अनेक स्थल इसके प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं। दूसरी ओर वे दुष्टों और पाखण्डियों को फटकारने और बुरा भला कहने में भी चूकते नहीं हैं, खलों के सम्मुख अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करना अभिमान नहीं अपितु अपनी सच्चरित्रता के प्रति दृढ़ विश्वास तथा दुश्चरित्रता के प्रति घृणा की व्यंजना है। राम के सम्मुख अपने आपको "सब पतितन को नायक" कहने वाले तुलसीदास खलों के सम्मुख हीनता का अनुभव नहीं कर सकते हैं। "काक कहहिं कल कंठ कठोरा" द्वारा अपने को वह कोयल तथा खलों को कौआ कह देते हैं। पाखण्डियों को फटकारने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं है। "तुलसी अलखहिं का लखें, राम-नाम जपु नीच" तक कह देते हैं। शुक्ल जी ने इन आपाततः विरोधी उक्तियों में सामंजस्य स्थापित कर दिया है: इन विरोधों का परिहार करके वे तुलसी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में जो धारणा बना पाये हैं, वह तर्कसम्मत है। शुक्ल जी ने इन वाक्यों में कवि स्वभाव का अत्यन्त संश्लिष्टि चित्र दिया है। "इससे प्रकट होता है कि उनके अन्तःकरण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिनकी विपरीतता वे सहन न कर सकते थे। अतः इस थोड़ी सी चिड़चिड़ाहट को भी सरलता के अन्तर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शांत, गम्भीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्ति थे।"[1] ऊपर के वाक्यों में शुक्ल जी ने स्वभाव के सम्बन्ध में अपनी संश्लिष्ट धारणा अभिव्यक्त की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कवि की उदारता, दुष्कर्मों के प्रति ईर्ष्या, भक्ति और विश्वास पर थोड़ा-बहुत विचार किया है। वस्तुतः

१—'तुलसीदास', पृ० १६।

ये उनकी प्रकृति के विभिन्न तत्व हैं। इन्हीं के विश्लेषण द्वारा शुक्ल जी कवि के स्वभाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त निर्णय बना सके हैं। रचना और कलाकार के व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को मानकर रचना से कवि के व्यक्तित्व की धारणा तथा व्यक्तित्व से रचना के स्वरूप की प्रेरणा—ये दो प्रकार की समीक्षायें हो सकती हैं—यह हम पहले भी कह चुके हैं। शुक्ल जी ने प्रथम प्रकार को विशेषतः अपनाया है। विगत युग के कवियों के सम्बन्ध में समीक्षा का यही प्रकार विशेष समीचीन भी कहा जा सकता है। फिर तुलसी की जीवन-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री अन्य साधनों से उपलब्ध न होने के कारण दूसरी प्रकार की मनोवैज्ञानिक समीक्षा बहुत-कुछ कम सभव भी है। ज्ञान, कर्म और उपासना में सामंजस्य, लोक-मंगल में ही धर्म और शील का विकास आदि अनेक दार्शनिक विचारों को तुलसी के व्यक्तित्व के अनुरूप बताकर, शुक्ल जी ने भी इस प्रकार की समीक्षा का आभास मात्र ही दिया है। लोक मगल का आधार लिए हुए जिस प्रकार की भक्ति-प्रतिष्ठा, जिस शक्ति, शील और सौन्दर्य के आगार भगवान् के मानव रूप की कल्पना तुलसी ने की है, उसको शुक्ल जी ने कवि के व्यक्तित्व तथा समय-सापेक्ष बताकर समीक्षा की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित कर दिया है।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा के नाम पर कभी-कभी आलोचक बाल की खाल निकालने लगता है। कवि के वैयक्तिक जीवन की छोटी तथा तत्कालीन कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का आभास उसकी रचना में देखने के प्रयास इसी प्रवृत्ति के स्पष्ट परिचायक हैं। कभी-कभी ये प्रयास अनौचित्य की सीमा तक पहुँच जाते हैं। संयोग शृंगार के कवि को अश्लील कह देना समीक्षा का समीचीन रूप नहीं माना जा सकता है। 'राम - राज्य' के वर्णन में अकबर के राज्य का आभास प्राप्त करना समीक्षा ही नहीं है। शुक्ल जी ने ऐसे अत्युक्तिपूर्ण परिणाम नहीं निकाले हैं : कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन प्रवृत्ति से रचना को प्रेरणा प्राप्त होती है और उन्हीं से रचना को एक विशेष व्यक्तित्व प्राप्त होता है जो उसको अन्य रचनाओं से अलग करता है। इस प्रेरणा का सम्बन्ध विचार-धारा, चरित्र कल्पना और जीवन के दृष्टिकोण से है, विशेष घटनाओं से नहीं। हाँ, वर्ण्य विषय के चुनाव पर भी कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी निर्णायक परिस्थितियों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। पर किसी काव्य के आधार पर ऊपर निर्दिष्ट निष्कर्ष स्थूल ही कहे जायेंगे। काव्य-जगत् और कलाकार के व्यक्तित्व का फोटो नहीं होता है। शुक्ल जी तो साधारणीकरण और लोक-सामान्य के सिद्धान्त को मानने वाले हैं। उनके मतानुसार कवि अपने जीवन का लेखा नहीं देता, अपने काल का इतिहास नहीं लिखने बैठता। वह जो कुछ भी भक्ति और काल के जीवन से ग्रहण करता है उसको लोक सामान्य भाव भूमि

पर प्रतिष्ठित करके ही लेता है। वर्तमान काल के साहित्य में वैयक्तिकता का बहुत अधिक प्राबल्य है। नीति-काव्य में तो आत्माभिव्यंकता ही प्रधान तत्व है पर अन्य दिशाओं में भी इसका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तुलसी और सूर के समय में इसका इतना महत्व भी नहीं था। आज भी आत्माभिव्यंजन के सिद्धान्त की उचित सीमाओं का अतिक्रमण ही रचना को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने वाला अथवा कम-से-कम उसे निकृष्ट पद दिलाने वाला तो है ही। ऐसी रचनाओं में स्थायित्व और प्राणशक्ति का अभाव ही है। इसीलिए पद-पद पर काव्य में वर्णित प्रत्येक घटना की कवि के जीवन की घटनाओं से टक्कर भिड़ाना अथवा उनसे कवि के चरित्र के सम्बन्ध में धारणाएँ बना लेना समीक्षा का खिलवाड़ मात्र है। शुक्ल जी ने ऐसा कहीं नहीं किया है।

यह हम कई स्थानों पर कह चुके हैं कि शुक्ल जी नीतिवादी आलोचक हैं। वे साहित्य का मूल्यांकन उसके नैतिक प्रभाव के आधार पर करते हैं। शुक्ल जी का ध्यान सगुण शाखा के व्यापक प्रभाव की ओर भी आकृष्ट हुआ है। तुलसी और सूर ने घोर नैराश्य-काल में जनता को आश्रय प्रदान किया था। तुलसी ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को राममय कर दिया था। आज भी प्रत्येक हिन्दू अपने आपको राम पर आश्रित समझता है। संकट की घड़ियों में उसकी दृष्टि राम की ओर जाती है। आज भी मानस की चौपाइयां जन-साधारण को पद-पद पर जीवन की प्रेरणा देती हैं। भक्ति की चेतना धीरे-धीरे शिथिल हुई है। व्यक्ति और समाज के जीवन के आदर्श भक्तिमय एवं राममय हैं—ऐसा आज नहीं कहा जा सकता है, पर फिर भी तुलसी का महत्व शाश्वत है। जन-साधारण को राम के रूप में तत्कालीन जीवन का आधार प्रदान करने के अतिरिक्त तुलसी ने हिन्दू-संस्कृति के सामँजस्यवादी समीचीन दृष्टिकोण को अपनाकर हिन्दू जाति के व्यर्थ के पारस्परिक झगड़ों को ही मिटा दिया। जाति ने अपने धर्म और संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया। इसीलिए 'मानस' साधारण-से-साधारण तथा विद्वान से-विद्वान व्यक्ति के लिए जीवन की स्फूर्ति प्रदान करता है। वह हिन्दू-संस्कृति का अजस्र स्रोत है। इतना व्यापक प्रभाव होने के कारण ही तुलसी की रचना में इतना स्थायित्व है। शुक्ल जी ने इस व्यापक प्रभाव को स्पष्ट किया है। साहित्य देश-काल की परिस्थितियों से जन्म लेकर जीवन की प्रेरक शक्ति का भी काम करता है। जो साहित्य केवल देश-काल का चित्रण मात्र करता है, अथवा उनकी उपज भर है, उसकी अपेक्षा जीवन को शाश्वत प्रेरणा देने वाला साहित्य अधिक स्थायी और श्रेष्ठ है। शुक्ल जी सगुण और निर्गुण भक्ति शाखाओं के भारतीय जीवन पर पड़ने वाले व्यापक प्रभाव का विश्लेषण करते समय इसी सिद्धान्त को स्वीकार

कर रहे हैं। साहित्य में जीवन की प्रेरक शक्ति की मात्रा पर साहित्य की आलोचना भी मूल्यवादी समीक्षा का एक अंश है। शुक्ल जी की समीक्षा के व्यक्ति के रागात्मक प्रसार अथवा वैयक्तिक नैतिकता के तत्व की अपेक्षा इस सामाजिक मूल्यवादी दृष्टि-कोण का परवर्ती काल में अधिक विकास हुआ है। साहित्य और जीवन के इस सम्बन्ध की मान्यता तथा इसके आधार पर साहित्य-समीक्षा की प्रवृत्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। साहित्यकार केवल उपभोक्ता नहीं है, अपितु जीवन का पथ-प्रदर्शक भी है। साहित्य में मानव के बौद्धिक और रागात्मक विकास की जितनी अधिक प्रेरणा है, वह साहित्य उतना ही प्रौढ़ है। मूल्यवादी आलोचकों को यह सिद्धान्त प्राय:मान्य-सा होता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है, पर अभी इस मूल्य पर व्यापक समीक्षा का थोड़ा अभाव ही है।[1] यहाँ इस सकेत से हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करने में है कि शुक्ल जी ने मूल्यवादी आलोचना के व्यापक दृष्टिकोण और शैली की उद्भावना की है जो उस युग की स्थायी सम्पत्ति है और जिनका आश्रय लेकर आज भी हिन्दी-समीक्षा आगे बढ़ रही है।

कवि की प्रकृति और स्वभाव की अपेक्षा शुक्लजी ने रचना की विचार-धारा तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का अधिक विवेचन किया है। तुलसी की भक्ति लोक-धर्म, शील-साधना, सूर की भक्ति-पद्धति जायसी की प्रेम-पद्धति, रहस्यवाद आदि का समावेश इसी में मानना चाहिए। पात्रों के चरित्र तथा उनकी विभिन्न मानसिक दशाओं का विश्लेषण भी समीक्षा-पद्धति का एक प्रधान अंग है। शुक्लजी ने विरह, प्रकृति आदि के चित्रण के साहित्यिक सौष्ठव की अनुभूतिमय व्याख्या ही नहीं की है, अपितु कवि की तत्सम्बन्धी धारणाओं का भी विवेचन किया है। साहित्यिक सौष्ठव का विवेचन तो रूपात्मक आलोचना का ही एक अंग है। शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आलोचकों का ध्यान भी इस ओर जाता रहा है, पर वर्ण्य-विषय की मूल प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण तो शुक्ल जी की ही देन है। परवर्ती आलोचकों में इस पद्धति का भी विकास हो रहा है। धीरे-धीरे रूपात्मक और तन्त्रवादी आलोचना की प्रवृत्ति तो कम होती गई है। बाद के आलोचकों का ध्यान रचना के वर्ण्य-विषय तथा उसमें अभिव्यक्त बौद्धिक धारणाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक गया है। वाजपेयी जी आदि आलोचकों ने कवि के व्यक्तित्व का तथा वर्ण्य-विषय की प्रकृति का ही अधिक विश्लेषण किया है।

१—डा० देवराज ने अपने 'साहित्य का मूल्य' नामक लेख में इसके बौद्धिक पक्ष पर विचार किया है।

शुक्लजी की समीक्षा अपनी पूर्ववर्ती आलोचना का पूर्णतः विकसित रूप है। उनके पहले के आलोचकों में तन्त्रवादी निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रशंसात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृत्तियां मिलती हैं। शुक्ल जी की आलोचना में भी ये सब तत्व सूक्ष्म रूप में सापेक्षिक महत्व की समीचीनता के साथ उपलब्ध होते हैं। तन्त्रवादी समालोचना तो उनकी प्रधान विशेषता ही है। केवल निर्णयात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृत्ति को तो शुक्ल जी सम्यक् समालोचना की वस्तु नहीं मानते हैं। उनकी आलोचना में निर्णय की प्रवृत्ति कहीं पर भी अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। पर तुलसी की श्रेष्ठता शुक्लजी के विवेचन से अपने-आप ही अभिव्यंजित होती है। शुक्ल जी की समीक्षा में निर्णयात्मक तत्व संकेत और व्यंजना द्वारा ही उपलब्ध हैं। वे स्वयं निर्णायक बनने का स्पष्ट एवं व्यक्त प्रयास नहीं करते पर उनके विवेचन की पद्धति कवि की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में पाठक को एक धारणा बनाने के लिए बाध्य कर देती हैं। यह धारणा आलोचक की भी होती है। इसे निर्णयात्मक समालोचना के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? नीति और सुरुचि का जो आन्दोलन द्विवेदी जी ने प्रारम्भ किया था, जिसका आभास भारतेन्दु जी के समय में ही मिलने लगा था, उसका तत्कालीन साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा, सारा साहित्य ही नीतिवादी हो गया। शुक्ल जी ने नैतिकता को स्पष्ट व्यक्तकर एवं भारतीय आधार प्रदान करके उसको स्थूल रूढ़ियों और आचारों से ऊपर उठाकर उसके धर्म तथा शील रूप को ग्रहण किया। उसी नैतिकता को शुक्ल जी ने साहित्य-समीक्षा के मान का स्वरूप दे दिया। उस काल के साहित्य की तरह शुक्ल जी की समीक्षा भी इतिवृत्तात्मक ही है। उसमें वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने की ही अधिक प्रवृत्ति है। वर्ण्य-विषय और कवि के व्यक्तित्व के स्थूल तत्वों का ही विश्लेषण अधिक हुआ है। वाजपेयीजी तथा सौष्ठववादी समालोचकों ने भी कवि के व्यक्तित्व तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का ही विश्लेषण अधिक किया है, पर शुक्लजी की आलोचना से उसकी प्रकृति भिन्न है। उनकी तुलना में शुक्लजी का ध्यान स्थूल तत्वों की ओर ही अधिक गया है। शुक्ल जी वस्तु की सीमाओं का अतिक्रमण करके सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण नहीं करते। इसीलिए उनकी समीक्षा इतिवृत्तात्मक मनोवृत्ति की माननी पड़ती है। आगे हम देखेंगे कि कहीं-कहीं वाजपेयी जी ने कलाकार के व्यक्तित्व और वर्ण्य-विषय के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर उन तत्वों की उद्भावना की है, जो हृदय की अतिक्रांत अवस्था के परिचायक हैं। ऐसे अवसर उन्हें सूर के काव्य-सौष्ठव, भक्ति और साँस्कृतिक महत्व पर विचार करते हुए अधिक प्राप्त हुए हैं।

शुक्ल जी की समीक्षा उनके पूर्व से, अर्थात द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से, चलती हुई परम्परा का चरम विकास है। उन्होंने उस पद्धति को पूर्णतः वैज्ञानिक और विश्ले-

षणात्मक कर दिया है। उनके चिन्तक व्यक्तित्व ने इस पद्धति को विकसित रूप एवं स्थायित्व भी प्रदान किया है। निर्णयात्मक और तुलनात्मक तत्वों को उनकी विश्लेषणात्मक समालोचना ने पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है। उनकी वैयक्तिक रुचि परिष्कृत होकर शास्त्रीय और लोक-रुचि से अभिन्न हो गई है। अलंकार शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित तन्त्रवादी समीक्षा भी विश्लेषणात्मक हो गई है। यद्यपि हम उनकी समालोचना को पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कह सकते, पर फिर भी समालोचना में निगमनात्मक शैली अपनाने का प्रथम प्रयास शुक्ल जी में ही मिलता है। यह प्रयास भी अत्यन्त प्रौढ़ और व्यापक है। शुक्ल जी ने समीक्षा की जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को जन्म दिया है, साहित्य-समालोचना के जिन मानों को अपनाया है उनका साहित्य-समीक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। शुक्ल जी ने जिन मानों का प्रयोग किया है वे उनको शास्त्र के अध्ययन और चिन्तन से ही नहीं मिले अपितु उन्होंने उनका हृदय से साक्षात्कार किया है। वे मान शुक्ल जी की निष्ठा बन गये। उनकी पद्धति में भी ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षा-प्रकारों का समन्वय है। कवि के व्यक्तित्व, तथा परिवृत्ति पर विचार करने वाले भी शुक्ल जी ही पहले समालोचक हैं। कला, साहित्य और जीवन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म और तात्त्विक विश्लेषण करके उनका प्रयोगात्मक आलोचना में उपयोग भी शुक्ल जी ने ही प्रारम्भ किया है। मूल्यवादी मानों पर विश्लेषणात्मक पद्धति में आलोचना का प्रथम प्रयास शुक्लजी में ही प्राप्त होता है। शुक्लजी का महत्व तो इसी से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अधिकांश समीक्षा उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट विश्लेषणात्मक और समन्वय-वादी पथ का अनुसरण करके अग्रसर हो रही है। उसका विकास उसी दिशा में हो रहा है। लोक-मंगल और लोक-मर्यादा का शुक्लजी ने साहित्यिक मानों में बहुत अधिक उपयोग किया है। उनके इस मान में परवर्ती आलोचकों की शुक्ल जी जैसी आस्था नहीं रही। पर जीवन में सदाचार की प्रेरणा देने वाले साहित्य की उत्कृष्टता सभी आलोचकों को मान्य है। कला की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को स्थायी स्थान प्राप्त हो गया है। शुक्ल जी की वैधानिक समालोचना को तो बहुत से परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है। हाँ, शुक्लजी जैसी गम्भीरता का उनमें प्रायः अभाव ही है। शुक्ल जी तक तो साहित्य-समीक्षा का विकास एक निश्चित सरणी का अवलम्बन करके हुआ है। उसमें सभी प्रकार की आलोचना-पद्धतियों का समन्वय रहा है। पर उनके बाद समालोचना विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गई। शुक्लजी की समालोचना के बहुत से तत्व एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप धारण कर गए। इस प्रकार आधुनिकतम समालोचना ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि कई-एक विचारधाराओं, सम्प्रदायों और शैलियों में विभाजित होकर विकसित

हो रही है। इन सभी प्रणालियों के साथ मूल्य और वैधानिकता का संयोग करके चलने वाली भी एक पद्धति है जिसको हम शुक्ल-सम्प्रदाय कह सकते हैं। समन्वयवादी सभी समालोचक शुक्ल-सम्प्रदाय के नहीं हैं। इन सम्प्रदायों के विभिन्न समालोचकों में कुछ पारस्परिक अन्तर भी है, आगे हम इन विभिन्न सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे।

शुक्ल जी ने एक तरफ परम्परा-प्राप्त पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया, दूसरी तरफ उन्होंने समीक्षा की एक स्थायी पद्धति को जन्म दिया; जिसका अवलम्बन करके समीक्षा इतनी विकसित हो रही है। उन्होंने साहित्य-समीक्षा को एक नवीन दृष्टिकोण ही प्रदान कर दिया। उन्होंने कला को जीवन की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य कर दिया। उनकी समीक्षा में उन पद्धतियों और मानों की उद्भावना है, जिनमें से एक-एक का अवलम्बन करके नवीन सम्पन्न सम्प्रदाय खड़े हो गए। उनके साहित्यिक मानों ने परवर्ती आलोचकों को नवीन मानों को खोजने की प्रेरणा प्रदान की है। शुक्ल जी ने समीक्षा में क्रांति उत्पन्न कर दी है। आज तक की समीक्षा के विकास का श्रेय शुक्ल जी को देना उनके कार्य का उचित मूल्य आंकना है। शुक्ल जी हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के विकास में उस अवस्था के द्योतक हैं, जिसमें आलोचना की एक पद्धति अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है तथा परवर्ती काल की अनेक पद्धतियाँ और शैलियाँ उसी से स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करके विकसित होती हैं। आज तक की हिन्दी-समीक्षा के शुक्ल जी आधार-स्तम्भ हैं। उन्होंने जो सैद्धान्तिक आधार, मान और शैली प्रस्तुत की है, आज तक का सारा विकास व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर उसी का बहुत-कुछ आधार लेकर चल रहा प्रतीत होता है। शुक्ल जी का सैद्धान्तिक विवेचन भारतीय प्रौढ़ विचारधारा पर अधिष्ठित है, इसलिए अब तक की समीक्षा का वह मूलभूत आधार है। आलोचना के तथाकथित नवीन सम्प्रदाय अभी तक कोई ऐसा नूतन प्रौढ़ एवं सर्वांगीण साहित्य-दर्शन नहीं दे सके हैं। उसके अभाव में विकास मौलिक नहीं कहा जा सकता। शुक्ल जी के सैद्धान्तिक निरूपण में युग के व्यापक साहित्य-दर्शन के आधार तत्व हैं, इसलिए ये केवल उनकी वैयक्तिक मान्यता नहीं है, अपितु उनका युग-प्रतिनिधि रूप भी इन सिद्धान्तों में अत्यन्त स्पष्ट है। प्रस्तुत निबन्ध में शुक्ल जी के सैद्धान्तिक विवेचन के इतने विशद निरूपण का प्रधान कारण भी यही है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अभी निर्मित नहीं हुआ है। तत्व उसके इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। शुक्ल जी ने उसका शिलान्यास कर दिया है। रस के अनुभूति एवं प्रभाव पक्ष के समन्वित रूप पर ही उसका महल खड़ा हो सकता है। काव्य केवल, 'रस-बोध' मात्र नहीं है, वह जीवन का निर्णायक भी है। इसी वस्तुसमय पर हिन्दी के साहित्य-शास्त्र की नींव पड़ती है। इसके पुष्ट आधार शुक्ल जी

ने दिये हैं जिनका उनके परवर्ती काल में विकास हुआ है। इस प्रकार समीक्षा के मान दण्ड, शास्त्र एवं पद्धति,—तीनों ही दृष्टियों से शुक्ल जी का हिन्दी समीक्षा के इतिहास में नवीन युग के प्रवर्त्तक के रूप में महत्व है।

: ६ :

शैली-स्वरूप

काव्य और कला कवि एवं उसके काल के चिन्तन के प्रभाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकते। कला-कृति अपने निर्माण-काल की जीवन-सम्बन्धी धारणाओं की ही सौंदर्यपूर्ण एवं अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है। ये विचारधाराएँ एक प्रकार से काव्य की उपादान कारण हैं। कवि के व्यक्तित्व के अन्तस्तल में आलोचक का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसीलिए मेथ्यू आर्नल्ड कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं। जीवन की आलोचनात्मक धारणाओं में काव्य-विकास की प्रेरणा और दिशा-निर्देश की क्षमता अन्तर्हित है। इस आलोचना के अतिरिक्त काव्य की गति-विधि का नियन्त्रण करने वाली एक और शक्ति है। उसमें भी एक प्रकार से काव्य की प्रेरणा ही अन्तर्भूत है। प्रत्येक युग में जीवन के साथ ही साहित्य के स्वरूप और उद्देश्य-सम्बन्धी धारणाएँ भी होती हैं। जीवन और साहित्य के सम्बन्ध की एक कल्पना कवि और युग में व्याप्त रहती है। उसी के अनुकूल साहित्य का निर्माण होता है। जीवन के व्यापक स्वरूप में साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की धारणा भी अन्तर्भूत रहती है। इस प्रकार ये दोनों काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाली प्रेरणाएँ हैं। साहित्य की शैली और स्वरूप का नियन्त्रण विशेषत: दूसरी प्रेरणा से होता है। साहित्य में अनुभूति की प्रधानता हो अथवा कल्पना की, चमत्कार की अधिकता हो अथवा भावात्मकता की, अलंकारिकता हो अथवा रसात्मकता, इन सभी दिशाओं का निर्देश तत्कालीन साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं से ही होना है। किसी भी युग के साहित्य के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है।

रीतिकालीन जीवन में स्फूर्ति और कर्म-शक्ति का अभाव था। उस काल के साहित्यकार अन्य अनेक साधनों की तरह काव्य और कला को भी आनन्द एवं मनोरंजन का साधन मानते रहे। उनकी दृष्टि में काव्य का एक कार्य विचित्र कल्पनाओं तथा

आलंकारिक एवं चमत्कारपूर्ण प्रयोगों से पाठक के मन का अनुरंजन करना था। उस समय काव्य स्वयं अपने आप में एक साध्य था। जीवन के किसी अन्य प्राप्तव्य के लिए साधन नहीं। कवि कर्म का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था। द्विवेदी-काल की कविता सुरुचि और सुनीति का सन्देश लेकर चली। कविता का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकृत हुआ। उसमें चमत्कार के स्थान पर भाव और विचार की प्रधानता हुई। इन दोनों कालों की कविता के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन कालों में काव्य-सम्बन्धी स्पष्टतः दो धारणाएँ थीं। इसीलिए काव्य के विषय शैली, भाषा, उद्देश्य आदि सभी वस्तुओं में पर्याप्त अन्तर है। इन कालों में मूलतः दो भिन्न प्रेरणाएँ अन्तस्थल में प्रवाहित हो रही थीं और उन्हीं के कारण परस्पर पर्याप्त भिन्न दो प्रकार के साहित्यों का सृजन हुआ है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, साहित्य की किसी विशेष धारा के विकसित होने से पूर्व तत्सम्बन्धी एवं तदनुरूप धारणाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह आलोचना का वह स्वरूप है जो साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने वाला है। पर काव्य के विकास के साथ-साथ इसका स्वरूप स्पष्ट और पुष्ट होता जाता है। पर्याप्त लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण के उपरान्त ही एक आलोचना-पद्धति का सर्वांगीण और पुष्ट रूप हमारे समक्ष उपस्थित हो पाता है। इसलिए यह कहना भी अनुचित नहीं है कि एक काल का सृजनात्मक साहित्य तत्कालीन समीक्षा-पद्धति के जन्म का एक बहुत बड़ा उत्तरदायी कारण है। साहित्य की मूलभूत दोनों प्रवृत्तियां एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं और यही साहित्य के विकास का मूल मन्त्र है। कल्पना अथवा प्रतिभा के दो स्वरूप—कारयित्री और भावयित्री—निरन्तर विद्यमान रहते हैं। ये दोनों प्रतिभाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। भावयित्री प्रतिभा का क्रियात्मक रूप ही आलोचना है और कारयित्री के साथ-साथ इसके स्वरूप में भी विकास होता रहता है।

काव्य-सम्बन्धी निम्नलिखित धारणायें वर्तमान हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं के वर्ण्य-विषय, शैली आदि के स्वरूप को निश्चित करने में उत्तरदायी हैं। साहित्य के व्यक्ति और समाज से विभिन्न सम्बन्धों को यह निश्चित करती हैं, तथा साहित्य के विभिन्न युगों और धाराओं को दिशा-निर्देश करती हैं। ऐसी ही धारणाओं के आधार पर वर्तमान हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को चार प्रधान सम्प्रदायों या विचारधाराओं में बाँट सकते हैं। इन्हें समीक्षा की चार पद्धतियां भी कहें तो कोई आपत्ति नहीं। इस आधार पर हिन्दी की वर्तमान समीक्षा इन प्रधान पद्धतियों में बांटी जा सकती है—१. शुक्ल-समीक्षा-पद्धति, अथवा शास्त्रीय-समीक्षा-पद्धति २. सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी

(Romantic) समीक्षा पद्धति ३. समाजशास्त्रीय मानवतावादी समीक्षा - पद्धति ४. मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति ५. मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति ६. नवमानवतावादी या नई समीक्षा-पद्धति। आज की समीक्षा में इनका अपना पृथक् अस्तित्व अत्यन्त स्पष्ट है। लेकिन वे एक दूसरे से केवल अंशतः ही भिन्न हैं। इन सबमें कुछ समानताएं भी हैं। ये पद्धतियां परस्पर में पर्याप्त आदान-प्रदान करती रही हैं। वस्तुतः इन सबमें विकास की एक क्षीण परम्परा भी है, जो सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जाती है। आगे हम विकास के इन क्षीण तन्तुओं का भी उद्घाटन करेंगे। यहाँ इन पद्धतियों में समन्वय की एक आकांक्षा भी है। इसके परिणामस्वरूप एक समन्वयवादी समीक्षा पद्धति के स्वरूप-संगठन की भावी संभावनाएं भी स्पष्ट हो रही हैं। प्रयोगात्मक समीक्षाओं में इनका सम्मिश्रण भी हुआ है। पर अभी किसी समन्वयवादी सम्प्रदाय का जन्म नहीं हुआ है, जिसका कोई पृथक साहित्य-दर्शन और समीक्षा-पद्धति मानी जा सके। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण और असमीचीन नहीं है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति के कुछ तत्व युग, साहित्य और समाज तथा कतिपय बाह्य प्रेरणाओं के फलस्वरूप विकसित होकर इनमें कतिपय स्वतन्त्र पद्धतियों का रूप धारण कर गये हैं। कुछ तत्वों का विकास पद्धति की उस सर्वाङ्गीण गरिमा तक तो नहीं पहुँच पाया कि वे एक विशेष विचारधारा या संप्रदाय का रूप धारण कर जाते, परन्तु वे एक शैली विशेष के रूप में अवश्य प्रतिष्ठित हो गए। ऐतिहासिक दार्शनिक, चरित्रमूलक आदि आलोचनाएं इसी कोटि की हैं। इन शैलियों में विशेष प्रकार के साहित्य के सृजन की व्यापक प्रेरणा, शैली, वर्ण्य-विषय आदि सबके लिए पृथक मापदण्ड का अभाव है। इसलिये इनको पद्धति न मानकर शैली कहना ही मुझे उचित जान पड़ा है। दूसरे इनमें से कुछ शैलियों का उपयोग प्रायः सब प्रकार के आलोचकों ने किया है। आलोचना की कुछ शैलियाँ ऐसी हैं जो विकसित होकर एक विशेष सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेती हैं। कुछ शैलियां एक विचारधारा का विशेष प्रकार का विकास हैं। प्रभावाभिव्यंजक और अभिव्यंजनावादी आलोचनाएं सौष्ठववादी विचारधारा के ही विकास हैं। ऐतिहासिक समालोचना ही विशेष राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण नवीन भौतिकवादी दार्शनिक विचारधारा का आश्रय प्राप्त कर मार्क्सवादी बन गई। मनोवैज्ञानिक समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली की ही प्रेरणा है। पर इन सब में वह सर्वाङ्गीणता नहीं है, जिससे इनको पृथक् सम्प्रदाय अथवा विचारधारा माना जाय। इस प्रकार हिन्दी में उपर्युक्त केवल छः को पद्धति तथा शेष को शैली-मात्र मानने के कारण स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी की समालोचना-पद्धति पर विशद रूप से विचार हो चुका है। हम

उनके चमत्कारकारी रूप का भी पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। पिछले अध्याय में हमने यह भी देख लिया है कि शुक्ल जी की समीक्षा भारतेन्दु और द्विवेदी-काल से प्रारम्भ होने वाली समीक्षा-पद्धति को विकास की चरम सीमा पर पहुंचाने वाली है। शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा को सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। इनके पहले के प्रयास साहित्य के सामान्य परिचय के साथ निन्दा-स्तुति-मात्र थे। उनमें अनुमोदन और श्लाघा का हल्कापन ही रहा हैं। सौन्दर्य से मुग्ध होकर कुछ प्रशंसा कर देना मात्र आलोचना नहीं है। उसमें सौन्दर्य-तत्त्वों का विश्लेषण भी अपेक्षित है। इस विश्लेषण-पद्धति के अनुसरण के कारण ही हिन्दी समीक्षा का विकास एक निश्चित पथ का अवलम्बन करके आगे बढ़ सका है। काल की दृष्टि से आज भी शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति मान्य है। विश्वविद्यालयों से निकले हुए स्नातक एवं वहां के आचार्य लोग इसी पद्धति के अधिकांश का आज भी अवलम्बन करते हैं। कवि और कला-कृति के सम्यक् और प्राय: सर्वाङ्गीण ज्ञान के लिए अभी यही पद्धति उपादेय मानी जाती है, शेष सारी पद्धतियां अभी तक अपूर्ण हैं और विकास कर रही हैं। सारी पद्धतियों के तत्व एकत्र करके कला-कृति के मूल्यांकन की प्रवृत्ति भी हिन्दी-साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रबल हो रही है। इस पद्धति का साहित्य-दर्शन, मानदण्ड और शैली इतने व्यापक हैं कि उनको आधार-भूत मानकर शेष पद्धतियों और शैलियों का भी सफल उपयोग हो सकता है। पर इतना भी निश्चित है कि हिन्दी समीक्षा मानदण्ड एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से शुक्ल समीक्षा-पद्धति से काफी आगे विकास कर गई है। अब शुक्ल समीक्षा का अनुसरण प्राय: अध्यापक समीक्षक ही अधिक करता है, यह कहना ही तथ्य के अधिक समीप है।

प्रस्तुत समीक्षा-पद्धति के आलोचकों की संख्या सबसे अधिक है। इन आलोचकों में से बहुत कम में शुक्ल जी जैसी सूक्ष्म और मौलिक विवेचन शक्ति तथा उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता है। उन्होंने शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट पथ का अवलम्बन करने में स्थूल वस्तुओं को ही ग्रहण किया है। इसीलिये इनमें अलंकार, रस आदि के निर्देश अथवा विधा के भेदोपभेदों के निरूपण की ही प्रवृत्ति अधिक है, फिर भी स्थूल रूप से उसी मापदण्ड और शैली को अपनाने के कारण उन्हें इस शैली का समीक्षक कहना समीचीन जान पड़ता है।

सुरुचि और नैतिकता:—शुक्लजी वर्णाश्रम-धर्म और लोक-मर्यादा के समर्थक थे। राम का चरित्र ही उनके लिए चरित्र का सर्वोत्कृष्ट आदर्श था। वे काव्य का उद्देश्य उसी आदर्श पर चरित्र विकास करना मानते थे। चरित्र और नैतिकता में राम का सा आदर्श लेकर चलने वाले कवि ही उनकी दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट हैं। वर्णाश्रम से उनका तात्पय प्राचीन हिन्दू-धर्म की रूढ़िवादिता से नहीं। उन्होंने इसे व्यक्ति

के समाज के प्रति उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य-परायणता के अर्थ में ग्रहण किया है। वे इसमें आधुनिक नवीन सामाजिक आदर्शों का भी बहुत-कुछ समावेश कर सके थे। पर अनैतिकता और चरित्र-हीनता तक पहुँच जाने वाला व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उन्हें मान्य नहीं था। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य अव्यवस्था फैलाने वाला होता है। लोकमंगल के सामंजस्य में व्यक्ति के शील का विकास, उसका रागात्मक प्रसार ही शुक्ल जी की नैतिकता सम्बन्धी धारणा का मुख्य आधार है। इनकी नैतिकता-सम्बन्धी धारणा का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहां पर तो केवल थोड़ा निर्देश भर कर दिया गया है। शुक्ल-पद्धति को अपनाने वाले समीक्षक नैतिकता के उसी रूप को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना का प्रधान क्षेत्र तुलसी तथा उसमें भी 'मानस' ही विशेष रूप से रहा। इसलिए उनका लोक-मर्यादा के उत्कृष्ट आदर्श लेकर चलना बहुत-कुछ स्वाभाविक भी था। पर उनके परवर्ती आलोचकों को अपने समकालीन उपन्यासकारों, कवियों और नाटककारों की आलोचना करनी पड़ी। इसलिए अपनी नैतिकता-सम्बन्धी धारणा को उस उत्कृष्ट धरातल पर रखना उनके लिए संभव नहीं था। शुक्लजी भी इस आदर्श शील की धारणा का काव्य की प्रयोगात्मक समीक्षा में अधिक उपयोग नहीं कर पाये। समसामयिक साहित्य की समीक्षा में तो उपयोग और भी कम हुआ। ऐसा सभवतः उनका प्रयोजन भी न था। गुप्तजी, प्रेमचन्द जी आदि में नैतिक आदर्शों के प्रति प्रेम अवश्य है, पर मानव की दुर्बलता की उपेक्षा भी नहीं है। 'मानस' के उच्च जीवनादर्शों का निर्वाह, युगानुकूल नहीं है। इस युग में सभव नहीं है। इस काल में जिस सुरुचि, नैतिकता और आदर्श-वादिता को आश्रय मिला है, जिसने काव्य और आलोचना दोनों को प्रभावित किया है, उन सबसे निर्मित जीवनादर्श ऐहिक एवं मानवीय हैं। उनका सम्बन्ध वर्तमान समाज और व्यक्ति से है। उनकी यथार्थ अवस्था का साधारण-सा युगानुकूल परिवर्तित रूप ही आज का आदर्श है। प्रेमचन्द जी के शब्दों में यह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। आज का कवि और आलोचक जीवन के इसी आदर्श और नैतिकता के लौकिक और मानवीय रूप को ग्रहण करके अग्रसर हुआ है। उस पर मानव स्वभाव की सहजता एव मनोवैज्ञानिकता का पूरा नियंत्रण है। बस, इसी आदर्शवादी और नैतिक दृष्टिकोण के दर्शन हमें इस पद्धति के आलोचकों में होते हैं। इन आलोचकों को साहित्य की नैतिक उपयोगिता अवश्य मान्य है। "हम तो यही समझते हैं कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया नहीं जा सकता। जो कलाकार अपनी कला में अपने उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा नहीं करता, वह और करता क्या है?"[१]

१—'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', पृष्ठ १६५-१६६।

"हां, इस सम्बन्धमें कलाकार को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाला उच्चादर्श जीवन की सत्यता और स्वाभाविकता का ध्यान न छीन ले।"[१] आलोचक जीवन की स्वाभाविकता तथा सत्यता से अपनी नैतिकता के मान्य धरातल को स्पष्ट कर रहा है। उसमें राम की-सी उच्चता नहीं रह सकती। प्रेमचन्द की उपन्यास-कला के लेखक ने अपना नीतिवादी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। इस पद्धति की विचारधारा का ये स्थल प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। वे 'सुमन' वेश्या के चरित्र-चित्रण में संयम और शिष्टता का उल्लघन न करने के कारण लेखक की प्रशंसा करते हैं। यह प्रशसा भी केवल नीतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही है, अन्यथा आलोचक इसमें स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव भी देखता है। सभी समालोचकों ने ऐसे विचार व्यक्त तो नहीं किये, पर उनकी समालोचना पर इसकी स्पष्ट छाप है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सुरुचि और नैतिकता इस युग के साहित्य की मूल प्रेरणा हैं। साहित्य के सृजन और भावन—दोनों ही पर नीति का पूर्ण नियन्त्रण है। नीति का एक सामान्य धरातल स्वीकार करते हुये कवियों और आलोचकों की नीति-सम्बन्धी अपनी वैयक्तिक धारणाएं भी हैं और इनका साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द जी और गुप्त जी का नीतिवादी दृष्टिकोण एक नहीं है। प्रेमचन्दजी के आदर्श जीवन के ऐहिक एवं भौतिक कल्याण की भावना पर टिके हैं। उनकी नीति-सम्बन्धी धारणा सामान्य मानव की यथार्थ स्थिति से नियंत्रित है। वे मानव के चरित्र-निर्माण के लिए सामाजिक परिस्थितियों का बदलना आवश्यक समझते हैं। पर गुप्तजी के आदर्शों में पारमार्थिकता का निषेध नहीं है। वे समाज व्यवस्था के परिवर्तन की अपेक्षा व्यक्ति निष्ठ शील पर अधिक जोर देते हैं। उनकी नैतिकता उच्च आदर्शों का अंग है।

नीति के उपदेश की वृत्ति के अनुकूल इन समालोचकों ने मुक्तक और गीत की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्व प्रदान किया है। साहित्य को जीवन की व्याख्या मानना तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करने का यह स्वाभाविक परिणाम भी है। ये दोनों सिद्धान्त भी इन आलोचकों को पूर्णतः मान्य हैं। नीति और मुक्तक में आत्माभिव्यंजना की प्रधानता होती है। जीवन की सम्पूर्णता और साधारणीकरण को स्थूल अर्थ में ग्रहण करने वाला आलोचक व्यक्तित्व-प्रधान होने के कारण गीति-काव्य का महत्व कम आंकता है। शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को उनके अनुगामी आलोचकों ने स्थूल दृष्टि से ही अपनाया। काव्य के

१—प्रेमचन्द की उपन्यास कला, पृष्ठ १६५-१६६।

नैतिक महत्व और महाकाव्य की श्रेष्ठता-सम्बन्धी धारणाएं तो जड़ रूप में ही मान्य हो गईं। इसीलिए उनकी आलोचना में शास्त्रीय तत्वों के साथ वैयक्तिक रुचि की भी प्रबलता रही। ऐसी ही कुछ रुचियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं—यथा केशव कबीर आदि तथा प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों का महत्व अपेक्षाकृत कम मानना, जायसी की अपेक्षा कबीर में प्रकृत रहस्यवाद तथा कवित्व-शक्ति का अभाव तुलसी की तुलना में सूर की हेयता आदि। इन मान्यताओं में कुछ तो ऐसी हैं जिनका खंडन बाद में स्वयं शुक्लजी ने ही किया। शुक्लजी ने सूर-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को बदला और उन्हें भी सूर में अत्यन्त प्रौढ़ कवित्व के दर्शन हुए। सूर की कविता पर जो विचार शुक्लजी ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में उद्धृत किए थे, उनको उनके समकालीन व्यक्ति भी नहीं मान सके। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन विचारों के खंडन में अत्यन्त प्रौढ़ काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है।[1] डा० सत्येन्द्र ने भी कई स्थानों पर सूर की सुन्दर कवित्व-शक्ति तथा हिन्दू-धर्म और संस्कृति के अनुकूल चित्रण करने की क्षमता को स्पष्ट किया है।[2] ऐसे ही डा० रामकुमार वर्मा तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी के कबीर सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं हो सके। पं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' ने कबीर की भावुकता और हृदयस्पर्शिता का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। पं० जगन्नाथ जी तिवारी को भी केशव की कला और भाव-प्रबलता को हिन्दी-साहित्य के समक्ष स्पष्ट करने के लिए लेखनी उठानी पड़ी। 'रामचद्रिका' की भूमिका लिखकर उन्होंने केशव की कवित्व-शक्ति पर नया प्रकाश डाला है तथा कवि को नितान्त अवहेलना से बचा लिया है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय शुक्ल जी की मान्यताओं से सर्वत्र सहमत नहीं हैं। कहने का तात्पर्य है कि शुक्ल जी की नीति-सम्बन्धी धारणा को सिद्धान्ततः मानते हुए भी उनके सम्प्रदाय के ही अधिकांश समीक्षक उसकी सीमाओं और रूढ़ियों में पूर्णतः आबद्ध नहीं रहे। रस और नीति के नाम पर शुक्ल-सम्प्रदाय के आलोचकों ने कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण विचार प्रकट कर दिये थे। बहुत-से तो उनकी सत्यता में अक्षरशः विश्वास करते रहे। पर कतिपय विद्वानों को यह अरुचिकर प्रतीत हुआ है और उन्होंने निर्भयतापूर्वक इन विचारों का खंडन किया है। (हां, कुछ न मौलिकता के मोह में भी ऐसा कर दिया है) उपर्युक्त सभी विद्वान् शुक्ल जी की समीक्षा से प्रभावित ही नहीं अपितु उनकी विचारधारा और शैली के पर्याप्त ऋणी भी हैं। इनमें से बहुत-सों की आलोचना का प्रधान अंश शुक्ल-पद्धति में ही अन्तर्भूत भी है।

१— 'सूर-संदर्भ' की भूमिका।

२—'गुप्त जी की कला'।

शास्त्रीयता या तंत्रवादिता:—इस कोटि की समालोचना की दूसरी प्रमुख विशेषता है काव्य-तंत्र का अनुगमन करना। आचार्य शुक्ल की समीक्षा पर विचार करते हुए हमने यह देखा है कि आचार्य नितान्त प्रभाववादी अथवा वैयक्तिक समालोचना को वस्तुतः समालोचना ही नहीं मानते। उन्हें समालोचना के लिए एक विशेष शास्त्रीय मानदड की अनिवार्यता पूर्णतः मान्य है। वे यह भी मानते हैं कि इस मानदण्ड का आधार यथासंभव शास्त्रीय होना चाहिए। पर शुक्ल जी इसके साथ ही मौलिक चिन्तन की स्वतन्त्रता के भी पक्षपाती हैं। वे आलोचक को शास्त्रीय तत्वों में कुछ घटाने-बढ़ाने अथवा उनका नवीन अर्थ ग्रहण करने की स्वतन्त्रता अवश्य प्रदान करते हैं। शुल्ल जी ने स्वयं इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग किया है। पर शास्त्रीय मानदण्ड से निरपेक्ष वैयक्तिक समीक्षा को वे समीक्षा नहीं कहते। इसीलिए उनसे प्रभावित तथा उनकी पद्धति के आलोचक शास्त्रीय मानदण्ड का उपयोग करते हैं। उन्हें समीक्षा के शास्त्रीय आधार का सिद्धान्त मान्य है। इस कोटि के सभी आलोचकों ने शास्त्रीय तत्वों का उपयोग किया है। इसीलिए इनकी आलोचना प्रधानतः निर्वैयक्तिक और वस्तु-तन्त्रात्मक ही मानी जायगी। शुक्ल जी के मान में भारतीय और पाश्चात्य तत्वों का सम्मिश्रण है और वे तत्व एक-दूसरे से ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दोनों का पृथक् अस्तित्व ही स्पष्ट नहीं है। उन के अनुयायी आलोचकों ने दोनों प्रकार के तत्वों का उपयोग किया है। उनका तन्त्र न विशुद्ध भारतीय कहा जा सकता है और न पाश्चात्य, उसमें भी दोनों का मिश्रण है, पर वे शुक्लजी की तरह समन्वय नहीं कर सके हैं। दोनों तन्त्रों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्पष्ट है। उन्होंने रस, अलंकार, गुण वृत्ति आदि का भी उपयोग किया है तथा साथ ही वे कल्पना, अनुभूति सत्यं, शिवं सुन्दरम् आदि पाश्चात्य तत्वों को भी मूल रूप में ग्रहण कर लेते हैं।[1] बाबू श्यामसुन्दर दास जी में भी दोनों परम्पराएँ पृथक्-पृथक् हैं। इस पद्धति के अधिकाँश समालोचकों ने इस बात में बाबूजी का ही अनुकरण किया है, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र के तत्वों से परिचय तथा उनके काव्य समीक्षा में इतने अधिक प्रयोग की प्रेरणा साहित्यालोचन से ही मिली है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[2] विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन से छात्र इन तत्वों से परिचित होकर अपनी व्यावहारिक समालोचना में इसका पर्याप्त प्रयोग

१—'गुप्त जी की काव्य धारा' : गिरीश

२—'साहित्या लोचन' का प्रथम संस्करण सं० १९२३ में हुआ था, हिन्दी-आलोचना में कल्पना, अनुभूति, सत्यं शिवं, सुन्दरम् आदि पाश्चात्य पदावली का प्रयोग उसके अनन्तर ही मिलता है।

भी करते थे। समालोचनाओं को प्रौढ़, सर्वांगीण तथा विशेषतः परीक्षोपयोगी बनाने के लिए इनका उपयोग नितान्त आवश्यक भी है। आज भी यह धारा उसी रूप से चल रही है। आज का समालोचक अन्य पद्धतियों के विकास से लाभ उठाने के लोभ का भी संवरण नहीं कर सकता है और यह समीचीन भी है। इसके फलस्वरूप हिन्दी में समन्वयवादी समालोचना का विकास हो रहा है। इसके एक रूप का मूल आधार शुक्ल-पद्धति ही है। समन्वयवादी प्रवृत्ति की समीक्षा ही हिन्दी-समीक्षा का आधुनिकतम और प्रतिनिधि रूप है। पर आज की समन्वयवादी समीक्षा शुक्ल जी से बहुत आगे बढ़ गयी है।

कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि की कुछ अर्वाचीन काव्य-विधाएँ पश्चिम से ही आई हैं और वे अपने साथ समालोचना का एक विशेष मानदण्ड भी लाई हैं। इनके सम्बन्ध में जो-कुछ सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है, उसका प्रमुख आधार पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र ही है। भारतीय साहित्य शास्त्र का चरित्र, कार्य-व्यापार आदि की कुछ अपनी धारणायें भी हैं। उपन्यास आदि विधाओं ने हिन्दी में जिस स्वरूप का विकास किया है वह नितान्त पाश्चात्य भी नहीं है, उसके स्वरूप में कुछ यहां के तत्व भी पाए जाते हैं। हिन्दी में पाश्चात्य तत्वों के विश्लेषण के साथ ही रस आदि की भी व्याख्या होने लगी है। इस प्रकार इन विधाओं पर भी रस, चरित्र, कल्पना आदि भारतीय तत्वों की दृष्टि से थोड़ा विचार हुआ है। दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा भी हुई है। इस समीक्षा-पद्धति में इस दिशा के प्रयासों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। लेकिन अभी इसका प्रारम्भ ही है, बहुत प्रगति नहीं हो पाई है। उपन्यास, कहानी और निबन्ध की समीक्षा का मान और शैली अधिकतर पाश्चात्य आधार पर ही विकसित हो रहे हैं। कहीं - कहीं भाव और रस की बातें कर लेना वास्तविक सामंजस्य नहीं है। उपन्यासों की आलोचना में वस्तु, चरित्र-चित्रण कथोपकथन, उद्देश्य आदि तत्वों का पश्चिम से गृहीत दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है।[1] हिन्दी में कहानियों, नाटकों, उपन्यासों, और निबन्धों पर तन्त्रवादी समालोचना बहुत कम हुई है। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि पर संरचना की दृष्टि से विचार आवश्यक है। 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन,' 'हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास,' 'प्रेमचन्द की कहानी कला' जैसी रचनायें हैं, पर वे अपर्याप्त हैं। ये प्रधानतः वैधानिक समीक्षाएं हैं। इनमें कलाकारों के व्यक्तित्व तथा उनके कला-विकास की ओर भी आलोचकों का ध्यान गया है, उनके प्रौढ़ विश्लेषण के भी दर्शन होते हैं। कहानी और निबन्धों के संग्रहों की भूमिकाओं में भी इन विधाओं की

१—'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' : जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'।

तात्विक समीक्षाएँ हुई हैं। डा० श्रीकृष्णलाल, शिलीमुख आदि के कहानी-संग्रहों की भूमिकाएँ इसके प्रौढ़ उदाहरण हैं।

काव्य-ग्रन्थों और कवियों पर इस कोटि की जितनी भी समालोचनाएं हुई हैं, उन सभी में रस, अलंकार-आदि की दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है। कुछ में तो रस आदि के उदाहरण-मात्र ही दे दिए गए हैं[1]—जैसे त्रिपाठी जी के 'तुलसीदास' में हुआ है। वैसे त्रिपाठी जी सर्वत्र परिचयात्मक नहीं हैं, अनेक स्थलों पर उन्होंने गम्भीर विश्लेषण भी किया है। अधिकांश समालोचकों ने भावों और अलंकारों की निरूपणात्मक अनुभूतिमय पद्धति का ही अनुसरण किया है। इस आलोचना में कवियों की अलंकार, भाव या रस-निरूपण-पद्धति की सामान्य प्रवृत्तियों का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्तुत: इसकी दूसरी पद्धति को ही आलोचना माना जाना चाहिए। शुक्ल जी ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। पहले प्रकार का तो टीका-पद्धति में अंतर्भाव हो जाता हैं। पहले प्रकार की समालोचना को व्याख्यात्मक न कह कर परिचयात्मक अधिक कहना चाहिए। सामान्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने तथा समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए कुछ फुटकर उदाहरणों में अलंकार, भाव आदि का निर्देश भी अपेक्षित है। शुक्ल-पद्धति के सभी आलोचकों ने इस शैली को अपनाया है। दूसरी पद्धतियों ने अन्य तत्वों के साथ इसको भी ग्रहण किया है। वैधानिक समालोचना का बहुत सुन्दर और प्रौढ़ उदाहरण पं० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा लिखित 'महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास' है। इसमें लेखक ने आचार्य विश्वनाथ के महाकाव्य-सम्बन्धी मत का विस्तार पूर्वक उल्लेख करके, उन्हीं तत्वों के आधार पर आलोच्य रचना का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन किया है। उन्होंने उस मानदण्ड के आधार पर कवि की महाकाव्य रचने की कुशलता की परीक्षा की है। अलंकार, रस आदि के अतिरिक्त लेखक ने कवि द्वारा प्रयुक्त वृत्तों की भी परीक्षा की है, उनकी उपयुक्तता को भी आँका है। इतना ही नहीं आलोचक पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का उपयोग करना भी नहीं भूले हैं। उन्होंने तीन अन्वितियों (Three unities of Drama) और कल्पना-तत्व की दृष्टि से भी रचना का विश्लेषण किया है। 'हरिऔध जी' ने 'प्रिय प्रवास' में कई ऐसे प्रसंगों और पद्यों का निर्माण किया है जिनमें कल्पना की उड़ान प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। उदाहरण के रूप में हम षष्ठ सर्ग का प्रकरण ले सकते हैं।[2] चरित्र-चित्रण की विशेषताओं पर विचार करते समय भी आलोचक के समक्ष पाश्चात्य विचार-धारा ही रही है। उसी का उन्होंने विशेष

१—पं० रामनरेश त्रिपाठी, : 'तुलसीदास', दूसरा भाग, अलंकार-निरूपण।

२—महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास, पृ० ८७।

उपयोग किया है। 'किन्तु प्रेम के इस विकास में, अन्तर्द्वन्द्व के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में जिस भावना क्रम (मोटीवेशन) की आवश्यकता है, उसका 'प्रिय प्रवास' में अभाव है ।'[1]

शास्त्रीय तत्वों को समीक्षा का आधार-भूत मानकर चलने के कारण इस कोटि के समालोचकों में काव्य के भेदोपभेदों के निरूपण की प्रवृति के दर्शन होते हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की तरह ये भी प्रत्येक विधा के सूक्ष्म भेद करके चलना चाहते हैं। गीतिकाव्य, निबन्ध, कहानी आदि के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए हैं, और उनको आधार मानकर आलोचना भी हुई है। इस पद्धति का आलोचक प्रत्येक रचना को किसी न किसी वर्ग अथवा उसके उपभेद में रख देना चाहता है और उसी के अनुसार कला-कृति की सफलता अथवा असफलता आँकता है। इन भेदोपभेदों की प्रवृत्ति से डा०रामकुमार वर्मा, डा०श्रीकृष्णलाल,पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे सधे हुए और साहित्य-मर्मज्ञ समालोचक भी मुक्त नहीं रह सके हैं। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने गीति-काव्य के पांच भेद किये है—व्यंग्य-गीति आदि ।[2] इसी तरह उन्होंने कहानी के भी कई भेद माने हैं। यह कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है कि काव्य-विधाओं के नियमों एवं उपनियमों की मर्यादा को कठोरता पूर्वक लगाने की चेष्टा बहुत ही स्थूल दृष्टि है। कवि किसी वर्ग अथवा कला के नियमों को ध्यान में रखकर नहीं चलता। वह अपनी अभिव्यक्ति में इन बाह्य नियन्त्रणों से पूर्णत: मुक्त रहता है। वह नाटक के नियमों अथवा उसके किसी उपभेद की सीमाओं को ध्यान में रखकर सृजन नहीं करता। अत: उसकी कृति का किसी भी एक काव्य-विधा का आदर्श उदाहरण हो जाना केवल आकस्मिक है। इससे उसकी कला-कृति के वास्तविक सौन्दर्य में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यह केवल बाह्य और स्थूल तत्व है, उसकी अवहेलना कोई बहुत महत्वपूर्ण नहीं। काव्य और कला सर्वथा स्वच्छन्द नहीं होते। उनके भी नियम होते हैं। नियमों का बाहर से आरोप नहीं अपितु कला-कृति में स्वत: व्यक्त नियमों के आधार पर मूल्यांकन ही सच्ची समालोचना है। आलोचक का कार्य कला के आभ्यन्तर से, उनकी आत्मा से परिचित होना है न कि बाह्य शरीर-मात्र का विश्लेषण करना। हृदयस्पर्शी और मार्मिक चित्रों द्वारा कवि पाठक को कितना रसाक्षिप्त कर सका है, उसके व्यक्तित्व को कितना प्रभावित कर सका है, यह जांचना, इसकी सफलता की मात्रा आंकना, आलोचक का कार्य है। पर फिर भी विधाओं की दृष्टि से काव्य के अध्ययन का भी समीक्षा के क्षेत्र में

१—महाकवि हरिऔध का प्रिय प्रवास, पृ० ८७ ।
२—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास ।

विशेष महत्व है ही। रचना के नाटकत्व आदि की कलात्मकता एवं स्तर की दृष्टि से की गई आलोचना का अपना महत्व है। शुक्ल जी में उत्कृष्ट काव्य रसज्ञता थी, पर उनके अनुगामी आलोचकों में से बहुत कम इतनी उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता का परिचय दे सके। छायावादी युग में इस आलोचना-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है।

इसी स्थूल दृष्टि के कारण इस पद्धति के कुछ आलोचक आलोच्य रचना की भावानुभूति के सौन्दर्य और हृदय-स्पर्शिता को स्पष्ट करने में बहुत अधिक सफल नहीं हुए हैं। वे काव्य की अन्तरात्मा तक न पहुँचकर उसके बाहर ही बाहर काव्य तत्वों के रूढ़ रूपों में घूमते रहे हैं। कवि के वर्ण्य-विषय की स्थूल जांच करते हैं, उनकी अनुभूति की तीव्रता और सचाई तथा सफलता की परख नहीं करते। जीवन की व्यापकता का तात्पर्य उनके लिए उसकी विभिन्न दशाओं और अवस्थाओं का वर्णन मात्र है। कवि उन दशाओं के साथ अपना कितना तादात्म्य स्थापित कर सका है और उसकी अभिव्यक्ति में पाठक में तादात्म्य उत्पन्न करने की कितनी क्षमता है, आदि प्रश्नों की ओर बहुत कम आलोचकों का ध्यान गया है। यही कारण है कि इस कोटि के अधिकांश आलोचकों की समीक्षा स्थूल, और वस्तु-तन्त्रात्मक ही रही है। शुक्लजी के दृष्टिकोण के अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी आत्मा को ग्रहण न कर सकने का ही यह दुष्प्रभाव है। पद्माकर की कल्पना अथवा भाव-राज्य के क्षेत्र को बहुत व्यापक कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होंने बहुत से विषयों पर मुक्तक रचनाएं की हैं। उनमें कितनी मार्मिकता है, जीवन की कितनी गहराई में कवि की पैठ है, इन दृष्टिकोणों से आलोचक ने देखने का प्रयास ही नहीं किया। इसी का परिणाम है कि आलोचकों ने अपनी पुस्तक के अध्यायों के नाम ही नेत्र, प्रेम आदि रखे हैं। ऐसी समीक्षा केवल परिचयात्मक ही है। उनमें आलोचना की सूक्ष्मता और प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते।

इन्हीं कारणों से इस पद्धति की अधिकांश आलोचना मानदंड का आरोप करने वाली अत्यधिक वस्तु-तन्त्रात्मक और कहीं-कहीं बहुत ही स्थूल प्रतीत होती है।

कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन:—'गुण-दोष कथन-से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्त:प्रवृति की छान-बीन की ओर ध्यान दिया गया।''[1] आलोचना के विकास में शुक्लजी की यह महत्वपूर्ण देन है। कवि की अन्त:प्रवृत्ति की छान-बीन को साहित्य-समीक्षा में सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय इन्हीं को है। आज तो हिन्दी समीक्षा का यह प्रमुख तत्व होगया है। हिन्दी की

१—शुक्ल जी : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३

स्वच्छन्दतावादी आलोचना की भी यह प्रधान विशेषताओं में से हैं। इस समीक्षा-शैली का बराबर विकास हो रहा है। लेकिन शुक्ल-पद्धति के समालोचकों में भी इसका अभाव नहीं है। वस्तुत: हिन्दी-समीक्षा धीरे-धीरे इसी की ओर उन्मुख हो रही है। इस पद्धति के आधुनिक समालोचकों का ध्यान भी विशेषतः इसी ओर आकृष्ट हो रहा है। शुक्ल पद्धति के समालोचकों ने अपने आलोच्य कवियों की रचनाओं के पृथक् अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व को समझने-समझाने का भी पर्याप्त प्रयत्न किया है। आज की आलोचना-पुस्तकों के नामों से भी यह स्पष्ट हो जाता है : 'गुप्त जी की काव्य-धारा', 'प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'प्रसाद जी की कला' आदि इन नामों से स्पष्ट है कि आलोचक कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर संश्लिष्ट रूप से विचार करना चाहता है। वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलंकार-नियोजन, चरित्र कल्पना, जीवन की व्याख्या आदि का विश्लेषण करके कवि की सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन करना ही आलोचक का प्रधान लक्ष्य हो गया है। इसके अतिरिक्त आलोचक कवि की कृतियों के आधार पर उसकी चिन्तन-धारा का अध्ययन करने में भी प्रवृत्त हुआ है। शुक्ल जी के पूर्व ऐसे प्रयासों की संख्या नगण्य ही है और उनमें सूक्ष्म और संश्लिष्ट विवेचन का अभाव भी है। उन्होंने ही इसका भी श्रीगणेश किया है। 'हरिऔध' ने कबीर की आलोचना में प्रधानतः उनके विचारों और व्यक्तित्व को ही अधिक स्पष्ट किया है। उनकी इस पुस्तक में कबीर की रचनाओं के काव्य-सौष्ठव का अध्ययन बहुत कम हुआ है। इसी प्रकार के अन्य प्रौढ़ प्रयास भी हुए हैं, जैसे डा० रामकुमार वर्मा तथा डॉ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'कबीर' और 'निर्गुण सम्प्रदाय'-सम्बन्धी आलोचना। इन पर आगे विचार किया जायगा। सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति, दार्शनिक विचार-धारा, प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता आदि विषयों का, जो कवि की जीवन-सम्बन्धी धारणा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, बहुत ही विशद विवेचन हुआ है। यह विवेचन भी आज की आलोचना का एक प्रमुख अंग ही हो गया है। इसके अतिरिक्त कवि की कृतियों के आधार पर कवि-स्वभाव, मानसिक धरातल आदि की ओर भी आलोचकों का ध्यान गया है। रचना के आधार पर ही बौद्धिकता, भावुकता या कल्पनाशीलता का निरूपण परवर्ती विकास के आलोचकों ने अधिक किया है। शुक्ल-पद्धति के आलोचकों का ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत कम गया है।

आलोचना का एक और प्रकार है। इसमें कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा, कल्पना, भावुकता आदि से पहले परिचय प्राप्त कर लिया जाता है और फिर कृति के वर्ण्य-विषय, शैली, जीवन-संदेश, भाव, विचार आदि का विश्लेषण होता है। आलोचक कवि के व्यक्तित्व का वह अंश स्पष्ट कर देता है जिससे कवि को

अपनी विशेष विचारधारा, और भावात्मकता के लिए सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। वह भी कवि के व्यक्तित्व और कला-कृति में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करना है। पूर्ववर्ती अनुच्छेद में कवि के व्यक्तित्व पर विचार करने वाली जिस समीक्षा-पद्धति पर विचार हुआ है उसमें कलाकृति से कवि-व्यक्तित्व का अनुमान होता है। पर इसमें कवि-व्यक्तित्व किस प्रकार काव्य के विषय वस्तु, सामग्री एवं दृष्टिकोण पर नियंत्रण करता है इसका विश्लेषण है। तुलसी के विवेचन में शुक्ल जी ने इस पद्धति का अवलम्बन किया है पर इस पद्धति के अन्य समालोचकों ने ऐसे प्रयास अधिक नहीं किये हैं, कहीं कहीं इसी प्रकार की मनोवृत्ति के आभास अवश्य दे दिये हैं। गुप्त जी का भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम तथा उन पर गांधीजी का प्रभाव उनके नैतिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण का कारण है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी 'गुप्त जी की कला' में इसी दृष्टि से विचार किया है। 'अनघ' को तो वे गांधी जी का बौना चित्र ही कहते हैं। इस पद्धति का विकास शुक्लजी के परवर्ती काल में विकसित होने वाली मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धतियों एवं समीक्षा के अधुनातन रूपों में अधिक हुआ है।

कलाकार अपने ही जीवन की कतिपय घटनाओं को काव्य का रूप दे देता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी तुलसी-सम्बन्धी आलोचना में ऐसे कई-एक स्थलों का निर्देश किया है।[1] पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने भी 'केशव की काव्य-कला' में उनकी जीवनी पर लिखते समय ऐसी एक-आध घटनाओं की ओर संकेत भर किया है। इसप्रकार की चरित-मूलक आलोचना का हिन्दी में प्रायः अभाव ही है। इसमें भारतीय मनोवृत्ति और काव्य-सिद्धान्त भी बाधक हैं। कवियों की जीवनी के पर्याप्त ज्ञान का अभाव तथा साधारणीकरण का सिद्धान्त इस शैली के विकास का अवरोधक है फिर भी अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी की चरित-मूलक समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास कवियों की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने के रूप में हैं, इनमें अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर जीवनी का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के कारण कहीं-कहीं अकस्मात् ऐसी आलोचना हो गई है, पर चरित-मूलक आलोचना की चेतना का हिन्दी-साहित्य में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। जहां कहीं भी ऐसे फुटकर प्रयास हुए हैं, उन्हें आकस्मिक ही माना जायगा। कवियों की जीवनी देने की प्रवृत्ति तो इसी पद्धति के समालोचकों में मिलती है, अन्य प्रकार के समालोचकों में तो इसका प्रायः अभाव ही है। उस पद्धति में इसका कोई महत्व भी नहीं है। वहां पर आलोचक परिचय की अपेक्षा विश्लेषण के कार्य को अधिक महत्व देता है। प्रसाद, पन्त, निराला, अज्ञय

१—देखिये — स्वकथित जीवनी

आदि आधुनिक कवियों के जीवन की घटनाओं से उसकी रचनाओं का सम्बन्ध स्थापित करने में कतिपय फुटकर प्रयास हुए हैं। कवि की रचना प्रक्रिया को समझने के लिये इस पद्धति की समीक्षा का अपना एक महत्व है। इसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है।

तुलना और निर्णय:—ये दोनों प्रवृत्तियां वर्तमान समीक्षा के प्रारम्भ से ही चल रही हैं। शुक्ल जी की समीक्षा भी कहीं-कहीं निर्णयात्मक हो जाती है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। उन्होंने कई स्थानों पर तुलनात्मक समालोचना भी की है। उनकी पद्धति के अन्य आलोचक भी तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना से पूर्णतया ऊपर नहीं उठे हैं। स्पष्ट रूप से अपना निर्णय न देने पर भी वे अपने मन्तव्य का संकेत कर देते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों पर लिखने वालों ने तो अपना मन्तव्य स्पष्ट ही कर दिया है। शुक्ल जी कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानते हैं, पर उनमें प्रेम की व्यंजना के दर्शन उन्हें नहीं होते। इसीलिए उनकी दृष्टि से जायसी का रहस्यवाद अधिक हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक है। पर बाबू श्यामसुन्दर दास जी को यह मान्य नहीं। इस प्रकार इन दोनों ही आलोचनाओं में तुलना और निर्णय स्पष्ट है। इस पद्धति की अन्य आलोचनाओं में भी तुलना तथा कवि की श्रेष्ठता की ओर संकेत हुए हैं।

देशकाल की समीक्षा:—शुक्ल जी के पूर्व साहित्य के देश-काल का बहुत साधारण-सा संकेत होता था। 'शिवसिंह सरोज,' 'मिश्रबन्धु-विनोद,' आदि कवि-वृत्त संग्रह की कोटि में आते हैं। मिश्र-बन्धुओं ने देश-काल का कुछ थोड़ा सा संकेत किया था। पर साहित्य को उसकी परिस्थितियों में रखकर आँकने की प्रौढ़ आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात शुक्ल जी ने ही किया। उन्होंने सूर, तुलसी आदि कवियों के महत्व को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर आंका है। 'हिन्दी-शब्द सागर' की भूमिका में शुक्ल जी ने ही हिन्दी-साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया था। साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त भी शुक्ल जी ने कवियों एवं काव्य-धाराओं के देश काल पर विचार किया है। ऐतिहासिक समीक्षा शुक्ल-पद्धति की एक प्रधान विशेषता है। इस पद्धति के सभी आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया है। परवर्ती आलोचना ने शुक्ल-समीक्षा के जिन तत्वों का विकास किया उनमें से एक यह भी है। ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के प्रसंग में इस पर विशद विचार किया जाएगा। यहाँ पर तो केवल इतना कह देना-भर पर्याप्त है कि शुक्ल-पद्धति में देश काल का आकलन केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में हो सका है। साहित्य की अविच्छिन्न धारा का निर्वचन तथा साहित्य का देश-काल से जन्य जनक भावना सहज एवं स्वाभाविक सम्बन्ध-निर्देश तो इस पद्धति के परवर्ती विकास की वस्तु है।

हिन्दी में साहित्य को देश-काल की सहज उपज किसी कलाकृति को संस्कृति विशेष की सहज और अवश्यम्भावी अभिव्यक्ति के रूप में देखने तथा सांस्कृतिक विकास में किसी कवि या रचना की देन के मूल्यांकन की प्रौढ़ प्रवृत्ति के दर्शन अभी बहुत कम हो पाते हैं। अभी तक हिन्दी-समीक्षा में इस पद्धति का इतना विकास नहीं हुआ है। शुक्ल - सम्प्रदाय के समीक्षकों के इस दृष्टि के प्रयास तो ऐतिहासिक समीक्षा के प्रारम्भिक रूप ही माने जा सकते हैं। फिर भी शुक्ल-पद्धति के कतिपय आलोचकों के प्रयास स्तुत्य हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण की कविता को देश-काल की परिस्थितियों में रखकर उसका अध्ययन किया है। उन्होंने भूषण के सामयिक एवं सांस्कृतिक महत्व का भी मूल्यांकन किया है। इसमें ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ़ तत्वों के दर्शन होते हैं।

शास्त्रीय एवं तन्त्रवादी समीक्षा इस पद्धति की सबसे प्रधान विशेषता है। सौष्ठववादी समीक्षा में तन्त्र सामूहिक एवं आरोपात्मक नहीं रहा, पर शुक्ल-पद्धति की अधिकांश आलोचनाओं में तो तन्त्र का यही रूप रहा है। शास्त्रीय तत्वों का आरोप ही इस समीक्षा की प्रधान विशेषता है। श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का 'प्रिय प्रवास का अध्ययन,' श्री प्रेमनारायण टंडन का 'गोदान और गबन,' श्री कृष्णानन्द गुप्त का 'प्रसाद जी के दो नाटक,' डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन,' डा० सत्येन्द्र की 'प्रेमचन्द की कहानीकला' आदि ग्रन्थ तन्त्रवादी समीक्षा के अच्छे प्रयास हैं। 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' शुक्ल पद्धति की तन्त्रवादी समीक्षा का प्रौढ़ उदाहरण माना जा सकता है। इसमें प्राय: भारतीय नाट्य शास्त्र से प्राप्त तत्वों तथा कहीं-कहीं रचनाओं से उपलब्ध तत्वों के आधार पर आलोचना हुई है। 'प्रेमचन्द जी की कहानी कला' में लेखक ने शास्त्रीय तत्वों का आरोप कम किया है। प्राय: उन कहानियों में से स्वत: प्राप्त तत्वों के मानदण्ड पर उन रचनाओं का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है। लेखक ने प्रेमचन्द जी की कहानियों की सफलता बाह्य मान-मूल्यों से नहीं अपितु उन्हीं में अन्तर्हित मान के आधार पर आंकी है। इस प्रकार इस रचना में सौष्ठववादी तथा निगमनात्मक समीक्षा के तत्व अत्यन्त स्पष्ट हैं, यह भावी विकास का आभास दे रही हैं। इस रचना को शुक्ल-पद्धति तथा परवर्ती विकास के संक्रान्ति-काल की रचना कहना भी अनुपयुक्त नहीं है।

बाबू श्यामसुन्दरदास:—इस पद्धति के सबसे प्रधान, समर्थ एवं प्रौढ़ समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास जी हैं। बाबू जी ने समीक्षा-क्षेत्र में उस समय कार्य प्रारम्भ किया था जब हिन्दी में आधुनिक साहित्य-समीक्षा-पद्धति का वास्तविक जन्म ही हो रहा था। उसी समय से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा वे साहित्य की

सेवा करते रहे। प्राचीन ग्रन्थों की शोध तथा उनका सम्पादन, उनकी आलोचनात्मक भूमिकाएं, इतिहास आदि आपके प्रधान कार्य क्षेत्र रहे। हिन्दी में इन क्षेत्रों की उद्भावना का श्रेय भी बाबूजी को ही है। शुक्लजी को भी इन कार्यों में बाबूजी से पर्याप्त प्रेरणा मिलती रही। इन क्षेत्रों की वास्तविक उन्नति तो शुक्लजी की प्रतिभा के कारण हुई, पर हिन्दी को प्रेरणा प्रदान करने में बाबूजी का महत्व कम नहीं है। हाँ शुक्लजी की प्रौढ़ चिन्तन-क्षमता और प्रखर प्रतिभा के समक्ष हिन्दी-जगत् बाबूजी का उपयुक्त मूल्य नहीं समझ सका। इसीलिए इनके कार्यों का महत्व कुछ उपेक्षित ही रहा।

प्रयोगात्मक समीक्षा में बाबूजी शुक्ल-पद्धति के ही समीक्षक हैं, उनकी समीक्षा की प्रधान विशेषताएं वे ही हैं जिनका ऊपर निर्देश हो चुका है। बाबूजी इस क्षेत्र में किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं कर सके। पर 'साहित्यालोचन', 'रूपक रहस्य' जैसे ग्रन्थों का निर्माण करके उन्होंने शुक्ल-पद्धति के सैद्धान्तिक आधार के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसे भी भुलाया नहीं जा सकता। साहित्यालोचन में उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय करके साहित्य समीक्षा को एक व्यापक एव उदार दृष्टि दी है। बाबूजी का सिद्धान्त प्रतिपादन शास्त्रीय एवं तर्क संगत रहा है। साहित्यालोचन आधुनिक काल का सर्वप्रथम सर्वांगीण सिद्धान्त ग्रन्थ है, जिसने दोनों पद्धतियों के मिश्रण से समीक्षा को ठोस आधार दिया है। शुक्ल-पद्धति के आलोचक जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कल्पना, बुद्धि आदि की बातें करते हैं, वे जो इन तत्वों का मुक्त उपयोग करने लगे हैं, इसका सारा श्रेय बाबूजी को है। पाश्चात्य समीक्षा के ये तत्व बाबूजी की आलोचनाओं से ग्रहण हुए हैं। 'साहित्यालोचन' के प्रथम संस्करण के उपरान्त ही इन तत्वों के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ी है। इनके द्वारा साहित्य-समीक्षा को प्रदत्त तत्वों में से शैली-तत्व का भी कम महत्व नहीं है। प्रत्येक कवि और लेखक की शैली पर पृथक् रूप से विचार करने की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन भी सम्भवतः 'साहित्यालोचन' ने ही दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित अभिनयात्मक एवं प्रबन्धात्मक शैली का उपयोग हिन्दी के कई आलोचकों ने किया है। हिन्दी के समालोचकों को आलोचना के बहुत से पारिभाषिक शब्द भी इन्हीं से प्राप्त हुए। आज भी विश्व विद्यालयों से निकले हुए व्यक्तियों की रचनाओं पर 'साहित्यालोचन' की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ जाती है। शुक्लजी के गूढ़ चिन्तन के कारण उनसे कुछ बहुत जल्दी ग्रहण कर लेना सरल कार्य नहीं है। हिन्दी का शायद ही कोई आलोचक उनकी प्रौढ़ शैली का सफल अनुकरण कर पाया हो। पर बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने शास्त्रीय विचारधारा और मानदण्ड को सुबोध एवं सरल करके विस्तीर्ण कर दिया। इससे उसमें शुक्लजी जैसे गम्भीरता तो नहीं रह गई, वह कुछ स्थूल भी

हो गई, पर सर्वसाधारण के लिये ग्राह्य अवश्य हो गई। शुक्ल-पद्धति के प्रसार का श्रेय बाबूजी को देने का बहुत बड़ा कारण यही है। शुक्लजी की शैली चाहे सरलता से अनुकरणीय न रही हो पर उसके द्वारा प्रस्तुत समीक्षा का मान और पद्धति एक बहुत लम्बे काल का प्रतिनिधित्व करती है। आज की समीक्षा की भी यह मूल आधार-भित्ति है। शुक्लजी ने समीक्षा में नवीन-क्रान्ति उत्पन्न कर दी। हिन्दी को उन्होंने ठोस सैद्धान्तिक आधार प्रदान कर दिया। उनमें अमोघ युग-प्रेरक शक्ति की इतनी प्रबलता और प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते, पर फिर भी पद्धति के स्वरूप-निर्माण में बाबूजी का सहयोग कम महत्वपूर्ण नहीं है। साहित्य का साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा देशकाल से सम्बन्ध स्थापित करके देखने की सैद्धान्तिक प्रेरणा एवं प्रौढ़ प्रयोगात्मक रूप के भी बाबूजी प्रथम प्रबल प्रेरकों में से हैं।

बाबूजी ने शुक्ल-पद्धति में प्रौढ़ समालोचना की है। कवियों की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने में तो आप हिन्दी क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कवियों के जीवन सम्बन्धी लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में द्विवेदी काल के प्रारम्भ से ही प्रकाशित होने लगे थे। समालोचना-क्षेत्र में यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। यह पद्धति बाद में चरित-मूलक समीक्षा में विकसित हो गई है। इन जीवनियों में भी इस समीक्षा के कुछ अप्रौढ़ तत्वों के दर्शन हो जाते हैं। कवि के सर्वांगीण अध्ययन के लिए उनके जीवन-चरित्र का ज्ञान भी आवश्यक है। बाबूजी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। इस कार्य में प्रथम प्रेरणा देने का श्रेय भी इन्हीं को है। जीवन-चरित्र के अतिरिक्त इन्होंने अपने आलोच्य कवियों के काव्य-सौष्ठव भाषा-अधिकार, भक्ति-पद्धति, दार्शनिक एवं धार्मिक विचार-धारा आदि पर भी विचार किया है। बाबूजी का विवेचन प्रौढ़ होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध है। उनके निर्णयों के खण्डन और विरोध की बहुत कम सम्भावना है। शुक्ल जी की अपेक्षा इनमें गूढ़ चिन्तन और विश्लेषण की कमी है। इसलिए इनकी समीक्षाओं में भी इनके निबन्धों की तरह परिचयात्मकता अधिक मानी जा सकती है। इनकी समीक्षा शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक है। शुक्ल-पद्धति की प्रायः सभी समीक्षाएँ वस्तु-तन्त्रात्मक हैं। बाबू जी की समीक्षा में तो यह तत्व बहुत अधिक प्रबल हैं। बाबूजी शुक्लजी के विचारों और शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं पर सर्वत्र उनके निर्णयों से सहमत नहीं। कई स्थानों पर उन्होंने शुक्ल जी के विचारों का खण्डन किया है। उन्हें शुक्लजी के साधारणीकरण की शास्त्रीयता, रस की लौकिकता, कला सम्बन्धी दृष्टि आदि कई बातें मान्य नहीं। कबीर के रहस्यवाद एवं उनकी दार्शनिक विचार-धारा के सम्बन्ध में भी ये दोनों एकमत नहीं। अनेक स्थानों पर बाबूजी का मत अधिक शास्त्र-सम्मत भी माना जा सकता है। शुक्लजी में व्यक्तिगत रुचि तथा

नैतिकता का अधिक आग्रह स्पष्ट है। पर बाबूजी की समीक्षा काव्य की विशुद्ध दृष्टि के कहीं-कहीं अधिक समीप हैं। उसमें शुक्लजी की सी मौलिकता, प्रखरता एव सहृदयता का तो अभाव है। पर वैज्ञानिकता और वस्तु-तन्त्रात्मकता तो अधिक ही है। कबीर के इस विवेचन में बाबूजी का मौलिक एवं प्रौढ़ चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है।

'कबीर ग्रन्थावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' उनकी प्रयोगात्मक आलोचना के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त बाबूजी ने पत्र पत्रिकाओं में बहुत से आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में तो उनके लेख बराबर ही प्रकाशित होते रहे हैं। उनका शोध-कार्य इसी पत्रिका और सभा के माध्यम से होता रहा है। समीक्षा क्षेत्र में प्राचीन पुस्तकों के शोध-कार्य का विवरण भी कम महत्व की वस्तु नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनका प्रौढ़ और सर्वाङ्गीण प्रयास है। इसमें उन्होंने भारतेन्दु जी के जीवन और कृतित्व का विशद विवेचन किया है। उनके नाटकों, उपन्यासों, निबन्धों एवं कविता का गम्भीर विश्लेषण हुआ है। इस ग्रन्थ में बाबूजी ने भारतेन्दु जी की विभिन्न रचनाओं का विश्लेषण करके उन. व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं का भी निरूपण किया है। इसमें कवि और रचना की अन्त:प्रवृतियों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। "व्यापक भाव का विवेचन" कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण ही है। यह ग्रन्थ शुक्ल पद्धति की समीक्षा का सुन्दर उदाहरण है, इसमें विश्लेषण एवं संश्लेषण दोनों शैलियों का सुन्दर समन्वय है। शुक्ल-पद्धति के अन्य आलोचकों ने भी समन्वय शैली का उपयोग किया है। बाबूजी की समीक्षा की तो यह प्रधान विशेषता ही है। इस पद्धति के जिन आलोचकों का ऊपर निर्देश हो चुका है, उन्होंने भी इस शैली का उपयोग किया है। कबीर की समीक्षा में बाबूजी ने अपनी मौलिक दृष्टि दी है वे शुक्ल जी के मत के समर्थक नहीं हैं। बाबूजी का कबीर सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिक संयत, उदार एवं समीचीन है। इससे कबीर के व्यक्तित्व एवं काव्य के वास्तविक महत्व की झलक मिलती है। कबीर उन्हें महान उपदेशक, दार्शनिक के साथ ही भक्त, रहस्यवादी एवं कवि भी उत्कृष्ट कोटि का लगा है। उसमें जीवन को मंगलमय प्रेरणा देने की क्षमता है। उसको भी बाबूजी ने पहचाना है।

बाबूजी के अतिरिक्त शुक्ल-पद्धति के प्रधान समालोचकों में निम्न लिखित नाम भी गणनीय हैं—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गिरजादत्त गिरीश', श्री कृष्णानन्द गुप्त आदि। 'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण ग्रन्थावली की भूमिका' 'पद्माकर-पंचामृत', 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय-अध्ययन', 'उद्धव शतक की भूमिका', 'केशव की काव्य कला',

'कविवर रत्नाकर', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'सुकवि समीक्षा', 'गुप्त जी की काव्य धारा', 'प्रसाद की नाट्य कला' आदि ग्रन्थ इस शैली के अच्छे प्रयास हैं। वर्तमान समय में शुक्ल-पद्धति के सबसे बड़े प्रतिनिधि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहे जा सकते हैं। मिश्रजी ने इस शैली में प्रौढ़ समालोचनाएं प्रस्तुत की हैं। शुक्ल जी के दृष्टिकोण के वे सबसे बड़े समर्थक हैं। उन्होंने शुक्लजी की विचार-धारा को पूर्णतः आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने शुक्ल जी के सम्बन्ध में फैली हुई बहुत सी भ्रान्तियों का भी निराकरण किया है। शुक्लजी के समीक्षा-सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण को सबसे ठीक समझने वालों में मिश्रजी का नाम अग्रगण्य है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि समीक्षा-क्षेत्र को शुक्ल जी ने जो प्रौढ़ शैली प्रदान की है, उसके समकक्ष दूसरी कोई प्रौढ़ पद्धति अब तक प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। उनके इस विचार में कुछ सत्यांश अवश्य है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी-साहित्य समीक्षा में कुछ नवीन शैलियां-पद्धतियाँ और सम्प्रदाय तो अवश्य आये हैं, पर अब तक कोई ऐसा नवीन प्रौढ़ सर्वाङ्गीण साहित्य दर्शन नहीं बन पाया है, जिसके आधार पर पूर्णतः नवीन एवं मौलिक किसी समीक्षा-पद्धति का निर्माण हो पाता। शुक्लोत्तर समीक्षा बहुत दूर तक उनकी ही पद्धति का विकास कहा जा सकता है।

शुक्ल जी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास जी के प्रयास से जिस आलोचना पद्धति का जन्म और विकास हुआ है, उसने हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को भावी विकास का सच्चा मार्ग दिखा दिया है। आज भी हिन्दी के अधिकांश समालोचक इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं, यह कहना अत्युक्ति नहीं। व्यक्तित्व-भेद के फलस्वरूप कुछ साधारण वैषम्य की उपेक्षा करने के बाद यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में इस पद्धति के समालोचकों की संख्या सबसे बड़ी है। इस पद्धति ने अपने परवर्ती विकास में अन्य शैलियों और पद्धतियों का भी उपयोग किया है। इस प्रकार यह पद्धति अपने वर्तमान स्वरूप में सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपना रही है। इसी समन्वयवादी शैली में आज के अनेक विद्वान कवियों और काव्य-धाराओं का प्रौढ़ अध्ययन कर रहे हैं। धीरेन्द्र वर्मा, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० दीनदयाल गुप्त, डा० केसरीनारायण शुक्ल, बाबू गुलाबराय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि इस पद्धति के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक हैं। इन्होंने इसी पद्धति में हिन्दी के अनेक कालों और काव्यधाराओं एवं कवियों का सर्वांगीण अध्ययन किया है। इनको समन्वय-वादी तो इसीलिए कहना पड़ता है, कि इन्होंने सौष्ठववादी मनोविश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धतियों के उन तत्वों का उपयोग किया जिनकी गणना शुक्ल जी-पद्धति में नहीं हो सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल-पद्धति की समीक्षा रूढ़ नैतिक आदर्शों पर मूल्यांकन करने वाली, शास्त्रीय और वस्तु-तन्त्रा-

त्मक आलोचना है। इसमें कवि और वस्तु की सामान्य प्रवृतियों का विश्लेषणात्मक निरूपण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बन्ध-कल्पना, समष्टिगत जीवन की समस्याओं का स्थूल चित्रण तथा उनके रूढ़िवादी आदर्शोन्मुखी समाधान के दर्शन होते हैं। इस पद्धति ने भारतेन्दु जी से लेकर शुक्ल जी तक की समीक्षा के विकास का समाहार किया है। इन प्रवृतियों ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शैली को इतना व्यापक रूप दिया कि इसमें भावी विकास की क्षमता का आभास स्पष्ट हो गया। पर यह शैली की तरह मानदण्ड में युगानुकूल परिवर्तन की सम्भावनाओं को स्वीकार न करने के कारण रूढ़ भी हो गई है। छायावाद और प्रगतिवाद के नवीन जीवन-दर्शन-अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आदि, साहित्य-समाज और व्यक्ति के नवीन सम्बन्धों की कल्पना का स्वागत न कर सकने के कारण उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और नवीन पद्धतियों का विकास हुआ। पर फिर भी विद्वत्समाज में इसका आदर है और वे समीक्षा के समन्वयवादी दृष्टिकोण का आधार इसी के सिद्धान्तों को बनाना चाहते हैं। शुक्ल जी ने समन्वयवाद और हिन्दी-समीक्षा के भावी विकास के लिए प्रौढ सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है, इसीलिए इस पद्धति का इतना महत्व है।

: १० :

सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा

साहित्य प्रत्येक युग तथा धारा के साथ अपनी पृथक् धारणाओं, साहित्यिक मानों और जीवन-दर्शन को अपनाता हुआ अग्रसर होता है। इसलिए यह कहना एक सीमा तक समीचीन है कि उस युग और धारा के साहित्य का मूल्यांकन वस्तुतः उन्हीं मानों द्वारा अधिक उचित रूप में हो सकता है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि साहित्य-समीक्षा का एक भी तत्व या सिद्धान्त सार्वदेशिक या सर्वकालीन नहीं हो सकता। साहित्य-दर्शन के मूलाधार अपेक्षाकृत स्थायी ही होते हैं। भारत के रस और औचित्य-सिद्धान्त की सार्वदेशिकता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। हां, औचित्य की सीमा और स्वरूप में देश और काल के अनुसार यत्किंचित् परिवर्तन कर लेने की आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी-कविता में युगांतरकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।

जहां प्रत्येक युग के साथ नवीन साहित्यिक मान का जन्म होता है, वहाँ पर प्रत्येक युग के अधिकांश समीक्षक अपने अपने युग के मान को सार्वभौम ही मानते हैं। उनकी एक प्रकार से निश्चित धारणा-सी बन जाती है कि हमारा मान और समीक्षा-पद्धति पूर्ण और सार्वदेशिक है। इसके द्वारा प्रत्येक साहित्यिक कृति का निरपेक्ष और तटस्थ मूल्यांकन हो सकता है। सौष्ठववादी और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ और निरपेक्ष आलोचक होते हैं।

उनमें निश्चित मानों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करने और निर्णय देने की प्रवृत्ति का अभाव होता है। कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में तो वे अपनी आलोचना में इसका आभास नहीं देते। फिर भी मूल्यांकन और निर्णय दोनों ही आलोचना के मूलभूत तत्व हैं और ये किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक आलोचक में विद्यमान रहते हैं, वह चाहे इसे अस्वीकार कर दे। मार्क्स या फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित रचना की समीक्षा में सौष्ठववादी समालोचक कितना तटस्थ रह सकेगा, साहित्य की अपनी मान्य धारणाओं का उस पर आरोप करने के मोह का कितना संवरण कर सकेगा, उसमें विद्यमान प्रबल बुद्धि तत्व की प्रमुखता तथा सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदना की उपेक्षा उसे कितनी सह्य हो सकेगी, इस प्रकार की कृति में वह निगमनात्मक पद्धति का कहां तक अनुसरण करके अपने प्रसुप्त निर्णायक रूप को कहां तक जाग्रत नहीं होने देगा, ये सभी बातें विचारणीय और विवाद-ग्रस्त हैं। उसके तटस्थ रहकर आलोचना करने में सन्देह है, अद्यतन साहित्य की सौष्ठववादी दृष्टि से की गई समीक्षा इसका प्रमाण है। पर प्रत्येक आलोचक अपनी पद्धति को सार्वदेशिक और सर्वकालिक मानकर ही चलता है और इसलिए वह प्रत्येक युग के साहित्य को उसी कसौटी पर आंकता है। जहां मानव में अतीत की संरक्षा का मोह है, वहां पर उसमें नवीनता और प्रगति से प्रेम भी है। इसीलिए उसे भूत से पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाता। आलोचक भी जब नवीन साहित्य-कृतियों का प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर अध्ययन करना चाहता है तो उसे कुछ अपूर्णता-सी प्रतीत होती है। अपने बनाये हुए गज उसे स्वयं ही धीरे-धीरे अनुपयुक्त प्रतीत होने लगते हैं। शुक्ल समीक्षा-पद्धति से छायावादी कृतियों का पूरा मूल्यांकन नहीं हो सका। उन्होंने अपनी नैतिक, लोकादर्शवादिनी और प्रबन्ध-काव्योचित समक्षा की ऐनक लगाकर इस नवीन सद्यः जात बालक छायावाद को देखा तो उन्हें वह विचित्र सा प्रतीत हुआ। उसमें वे साहित्य का भावी मंगल नहीं देख सके। शुक्ल जी को पन्त, प्रसाद और महादेवी की काव्य-धारा की अपेक्षा श्रीधर पन्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि की काव्य-धारा में हिन्दी का अधिक मंगल दिखाई दिया। शुक्ल-पद्धति का आलोचक निराला जी की अपेक्षा मोहनलाल द्विवेदी को प्रौढ़ कवि मानने के लिए बाध्य हो गया इस प्रकार वे छायावाद के आगमन का स्वागत नहीं कर सके और उसको शुभ सूचना के रूप में स्वीकार नहीं कर सके। फिर भी शुक्लजी अपने अनुयायियों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रगतिशील और स्वच्छन्द प्रकृति के हैं। उनका विरोध भी तर्कसम्मत है, वे गुण-दोष दोनों ही देखते हैं। छायावाद ने काव्य के कला-पक्ष में जो नवीन प्रगति की, उसको जो नवीन विकास की ओर उन्मुख किया, उसका महत्व शुक्लजी ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। वे कहते हैं : "छायावाद की

शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"[1] पर इस पद्धति के अधिकांश आलोचक तो इतनी उदारता का भी परिचय नहीं दे सके, क्योंकि उनमें इस सूक्ष्म दृष्टि का सर्वथा अभाव था। वे तो छायावाद के साथ किसी प्रकार भी समझौता नहीं कर सके। इसीलिए उन्होंने अपना अध्ययन और समीक्षा-क्षेत्र ही रीति-काल अथवा भक्ति-काल को बना लिया था। हिन्दी के पाठक से यह छिपा नहीं है कि छायावाद को अपने शैशव-काल में ही अनेक कठोर आघात सहने पड़े हैं। उस पर जन्म से ही चारों ओर से कशाघात प्रारम्भ हो गये थे। लेकिन उसी समय से उनके प्रबल समर्थक और रक्षक भी थे। वृद्धजनों में पं० श्यामबिहारी मिश्र ने इसका पक्ष-समर्थन किया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी छायावादी चेतना का स्वागत किया था। प्रत्येक युवक के हृदय में तो इस कविता ने घर ही कर लिया। इतिवृत्तात्मक कविता की एक-रसता, स्थूलता और रूढ़ नैतिकता से मानों वह ऊब गया, वह कुछ नवीन अन्तःस्फुरण और चेतना से काव्य के आस्वाद के लिए पिपासु हो उठा। उसकी साहित्यिक धारणाएं एकदम बदल गईं। इसी व्यापक धारणा ने सृजन और समीक्षा—दोनों क्षेत्रों में नवीन धारणाओं को जन्म दे दिया। इन दोनों को हम क्रमशः 'छायावाद' और 'सौष्ठववाद' कहते हैं। इसमें शुक्ल-समीक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी अपूर्णता की स्पष्ट घोषणा है।

इतिवृत्तात्मक कविता में वस्तु का ही प्राधान्य था। उसमें भाव की अपेक्षा विचार और नैतिकता अधिक थी। भावों का बहुत ही स्थूल और सामान्य स्वरूप पाठक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने में असमर्थ था। कवि को कहानी के प्रतिबन्ध के कारण आत्माभिव्यंजना का पूर्ण अवसर ही नहीं मिल पाता था। अलंकार-शास्त्र के नियमों तथा परम्परा-प्राप्त नैतिक धारणाओं ने काव्य और कवि दोनों को जकड़ दिया था। उसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए स्थान ही नहीं रह गया था। छायावाद के रूप में नियमों की शृङ्खलाओं से जकड़ी हुई कवि की आत्मा विद्रोह कर उठी। रीति-काल से लेकर आधुनिक इतिवृत्तात्मक काल तक उसे उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने का अवसर ही नहीं मिला था। इसीलिए शताब्दियों से अवरुद्ध वैयक्तिकता का प्रवाह अब स्वच्छंद होकर सब कूलों और किनारों को डुबाता हुआ आगे बढ़ा। इस प्रकार 'छायावाद' के रूप में सामूहिकता के विरुद्ध

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७३१।

वैयक्तिकता, रूढ़िवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, वस्तुवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध कल्पना और भावुकता, इतिवृत्त के विरुद्ध आत्माभिव्यंजना एवं हृदयस्पर्शिता तथा वर्णात्मकता के विरुद्ध ध्वन्यात्मकता की व्यापक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रतिक्रिया के दर्शन केवल साहित्य में ही नहीं अपितु समग्र जीवन में ही होते हैं। रूढ़िवादिता और परम्परागत मर्यादाओं के विरुद्ध वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की गर्जना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सुनाई पड़ने लगी थी। जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन का व्यापक विद्रोह काव्य में अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता था। इस विद्रोह का कारण केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं है। उसके अनुकरण पर ही ऐसा नहीं हुआ है। समय की गति के साथ जीवन-दर्शन में ही आमूल परिवर्तन हो गया था। विज्ञान और राजनीति के क्षेत्र की विश्व-व्यापी नवीन प्रगति ने जीवन की धारणाओं को बिलकुल बदल दिया। समाज और व्यक्ति का पुराना सम्बन्ध अधिक दिन तक नहीं चल सकता था। मनुष्य में धर्म, नीति और आदर्श के नवीन अर्थों की आकांक्षा जाग्रत हो गई थी। जीवन के मूल्यांकन के लिए नवीन मानों के ग्रहण की आवश्यकता तीव्र रूप में अनुभूत होने लगी थी। इससे यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' कुछ कवियों का ही प्रयास-मात्र नहीं है, अपितु उस काल के व्यापक जीवन की मूल प्रेरणा का स्वाभाविक और अवश्यंम्भावी परिणाम है। कुल मिलाकर छायावाद व्यक्ति के हृदय की रूढ़िवादिता से मुक्त स्वच्छंद अनुभूति एवं भाव के सौष्ठव की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से किया गया मूल्यांकन ही सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा है।

छायावाद को हिन्दी के आलोचकों और कवियों ने विभिन्न स्वरूपों में देखा। इसीलिए इस सम्बन्ध में उनकी धारणाएं भी विभिन्न हैं। यहां पर हम केवल उन्हीं व्यक्तियों की धारणाओं का उपयोग करेंगे, जिन्होंने इसकी एक सीमा तक प्रामाणिक व्याख्या की है। इनमें से विशेषतः छायावादी आलोचक और कवि ही हैं। प्रसादजी कहते हैं: 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी में बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।—ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।''[1] प्रसादजी छायावाद के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनका विवेचन इसलिए भी प्रामाणिक है कि उन्होंने इसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करके इसके सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण किया है। ऊपर के स्थल में उन्होंने कवि की आन्तरिक स्पर्श से पुलकित

१—काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२३।

स्वानुभूति के तीव्र आवेश की अभिव्यक्ति को ही छायावाद माना है। इससे वे "आत्माभिव्यंजन" रमणीयता एवं आनन्द को ही इसका प्रमुख तत्व मानते हैं। प्रसाद जी को भाषा और भाव का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। इसीलिए वे नवीन प्रकार की अनुभूतियों के लिए शब्दों की अनुपयुक्तता भी घोषित करते हैं। अनुभूति की तीव्रता से भाषा में एक विशेष छटा का आ जाना प्रसाद जी अनिवार्य समझते हैं। "सूक्ष्म आभ्यान्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यान्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।"[1] शब्द चमत्कार के जो प्रचलित काकु, व्यंग्य, श्लेष आदि प्रकार थे वे इस नवीन अनुभूति की तीव्रता को अभिव्यक्त करने में असफल हुए। इसलिए भाषा में नवीन भंगिमा आ गई। "इन अभिव्यक्तियों में छाया की जो स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उससे कुछ अधिक हैं।"[2] प्रसाद जी ने "छाया" शब्द का अर्थ विच्छिति, लावण्य आदि माना है। वे कहते हैं कि मोती के भीतर की कान्ति जैसे बाहर छलकती है, वैसे ही भावों का सौन्दर्य भी भाषा में छलक जाता है। यही छाया है, इसी को सौष्ठव कहते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी इतिवृत्तात्मक काव्य में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता का अभाव बतलाया है। "....सौन्दर्यहीन इतिवृत उसे हिला भी नहीं सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-वेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असंख्य रूप-रंगों में अपनी भावना द्वारा उपस्थित न करता तो...।" महादेवी जी एक दूसरी जगह कहती हैं कि छायावाद ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चलने वाले हृदय और प्रकृति में प्राण डाल दिए हैं। इसके द्वारा भी वे अनुभूति की नवीनता और गहराई का ही निर्वचन कर रही हैं। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय कहते हैं : विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भांति विश्व के कण-कण में अपने सर्वव्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य-धारा ने किया है।"[3] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी छायावाद को मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिकता की छाया का भान मानते हैं। "व्यष्टि सौंदर्य-बोध एक सार्वजनिक अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२३।

२—वही, पृष्ठ १२४।

३—छायावाद, पृष्ठ २४।

सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूं। समष्टि सौंदर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है ।"[१]

ऊपर प्रमुख छायावादी आलोचकों और कवियों में से कुछ के छायावाद-सम्बन्धी विचार उद्धृत किये गए हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसे देखा है, इसलिए उनकी उप-पत्तियाँ भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न हैं। पर इन ऊपर से भिन्न प्रतीत होती हुई सब धारणाओं के मूल में एक अभेद भूमि है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा। शुक्लजी की धारणा तो इन सबसे ही भिन्न है।"[२] वे तो इसे प्रतीकवाद मानते हैं। वे इसमें भावानुभूति के स्थान पर कल्पना की अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता की प्रधानता मान रहे हैं। लेकिन छायावाद के समर्थक शुक्लजी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे शैली तथा भाषा की भंगिमा और वैचित्र्य के साथ अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और हृदय-स्पर्शिता को महत्व देते हैं। भाव और अभिव्यक्ति का सामंजस्य उन्हें मान्य है। कुछ लोगों ने प्रकृति की सप्राणता तथा कुछ ने व्यक्त सौन्दर्य की आध्यात्मिकता और सार्वजनिकता को छायावाद का अनिवार्य तत्व माना है। कुछ की दृष्टि से कवि का कण-कण में अपने ही प्राणों की व्यापक छाया को देखना छायावाद है। इससे वे तत्कालीन काव्य-चेतना के रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक तत्वों पर जोर दे रहे हैं। ऐसे कुछ सूक्ष्म मत भेद वर्ण्य-विषय अथवा भावानुभूति और व्यंजना के विशेष प्रकारों को ग्रहण करने से हुए हैं। पर फिर भी इन उद्धरणों से छायावाद के सर्वमान्य स्वरूप का विवेचन भी हो जाता है। सबसे प्रथम तत्व है हृदयस्पर्शी स्वानुभूति की तीव्रता। छायावाद का प्रत्येक कवि और आलोचक इसे स्वीकार करता है। इस युग में इतिवृत्त और वर्णन का स्थान आन्तरिक भावों के स्पर्शजन्य पुलक तथा सूक्ष्मता ने ग्रहण कर लिया। आत्माभिव्यंजन की प्रधानता ने कवि-प्रतिभा के स्वातन्त्र्य की घोषणा कर दी। विषय, शैली और भाषा—किसी भी क्षेत्र में कवि पर परम्परा और रूढ़ि का बन्धन नहीं रह गया। उसे मानव और प्रकृति का विशाल उन्मुक्त क्षेत्र विचरण करने तथा उससे भाव-संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करने को मिल गया। छायावादी कवियों के भाव वैयक्तिक होते हुए भी प्रायः सार्वजनीन हैं। रीतिकालीन भाव-व्यंजना में पाठक को दर्शक का आनन्द आता है, अपनी ही अनुभूति की तल्लीनता का अनुभव नहीं होता। पर छायावाद में प्रकृति के प्रति जो भावात्मक संवेदना कवि की होती है, वही पाठक की भी। पहले कवि नायक और नायिका के सीमित स्वरूपों को स्वीकार करके उनके

१—हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६४।
२—'इतिहास', पृष्ठ ७२८।

हृदयगत भावों का चित्रण करता था और अब कवि ने मानव के इन कृत्रिम भेदों से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह विशुद्ध मानव के रूप में अनुभव करता है और उसीको स्वच्छन्दता पूर्वक अभिव्यक्त करता है। इसीलिए वाजपेयी जी छायावाद की असाधारण कल्पना और भावुकतामय भावानुभूति को भी सार्वजनीन मानते हैं। कवि के अन्तर-स्पर्श से पुलकित होने के कारण कविता के बाह्य पक्ष में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। अभिव्यक्ति में एक वैचित्र्य, विच्छिति एवं भंगिमा आ गई। भाषा में भी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का अधिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया। छायावाद के विकास में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भी प्रेरणा प्राप्त हुई है। क्रोचे अभिव्यक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं। वे उसके साथ सुन्दर-असुन्दर का विशेषण भी नहीं लगाना चाहते। उनकी दृष्टि से अभिव्यक्ति वही है, जो सुन्दर है। इसलिए कोई भी विशेषण व्यर्थ और अनावश्यक है। अभिव्यंजनावाद का इतना प्रभाव तो प्रत्येक छायावादी कवि पर पड़ा है कि उसने भावों के समान ही भावाभिव्यंजन की पद्धति को भी समान महत्व प्रदान किया है। इस प्रकार भाव और अभिव्यंजना का पूर्ण सामंजस्य भी छायावाद की प्रधान विशेषता है। प्रसाद जी ने छायावाद की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का विश्लेषण हुआ है। इन तत्वों में दोनों का सामंजस्य भी व्यंजित है। "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं हैं।"[1] इन विशेषताओं में भाव और कला—दोनों का निरूपण है, लेकिन दोनों को पृथक करके देखने की प्रवृत्ति नहीं है। छायावादी कवि सौन्दर्य में बाह्य और आभ्यन्तर , वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति—दोनों का समावेश करता है। वह सौन्दर्य से रमणीयता का ही अर्थ ग्रहण करता है। "स्वानुभूति की विवृति" में भी काव्य के दोनों पक्षों का सामंजस्य स्पष्ट है। छायावादी भाव और अभिव्यक्ति का अधिक सम्बन्ध मानता है। अनुभूति अपने आप ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

जिन प्रेरणाओं का परिणाम छायावाद था, उनके कारण यह धारा एकदम नवीन प्रकार के काव्य के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई थी। इसका वर्ण्य-विषय भाषा, शैली, सन्देश, अन्तस्तल में प्रवाहित दार्शनिक धारा आदि से भी कुछ नया था। इस की नवीनता और विलक्षणता इसके कर्णधारों की आँखों में भी चकाचौंध उत्पन्न करने वाली थी। इसके शैशव में वे भी यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि यह क्या स्वरूप धारण करेगी। यह प्रवाह किस दिशा और धारा में बहेगा, इसका उन्हें भी

१—'काव्य और कला', पृष्ठ १२८।

ठीक-ठीक पता नहीं था। पन्तजी और प्रसाद जी इस परिवर्तन के प्रति हमेशा सजग रहे हैं। पन्त जी अपने 'पल्लव' की भूमिका में उस नवीन काव्य-चेतना के प्रति अपनी सजगता और इसकी तत्कालीन अनिश्चितता स्पष्ट कर देते हैं : "हिन्दी-कविता की 'निहारिका' सम्प्रति अपने प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पाकर साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिंड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाए कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पन्थ खोज सकें जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें। ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित वाष्प-पिंड निकट भविष्य में किस स्वरूप में घनीभूत होगा···।" ऐसी नवीन धारा के कवियों तथा कला-कृतियों का पुराने परम्परागत मानदण्ड से मूल्याँकन करना संभव नहीं था, पुराने आलोचक अपने निश्चित मानदण्ड के सर्वथा प्रतिकूल साहित्य-रचना देखकर उसका स्वागत नहीं कर सके। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने 'कवि किंकर' के नाम से 'सरस्वती' में इस धारा की कटु आलोचना की। शुक्ल जी जैसे आलोचकों ने कुछ उदारता का परिचय देकर इस धारा के कला-पक्ष की प्रौढ़ता को स्वीकार भी किया पर प्राचीन समीक्षा इसका उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० इलाचन्द्र जोशी, प्रसादजी, पन्तजी आदि प्रारम्भ से ही इसका पक्ष समर्थन कर रहे थे। इसलिए उनको इसकी समीक्षा के लिए नूतन मानदण्ड अपनाना पड़ा। छायावाद के तात्विक एवं साहित्यिक विश्लेषण तथा उसकी साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के इतने विशद निरूपण का एक मात्र तात्पर्य नवीन काव्य-धारा का इस नवीन समीक्षा-पद्धति पर व्यापक प्रभाव दिखाना है। इस नवीन समीक्षा के मानदण्ड के तत्वों का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से ही हुआ है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्व हैं। इनकी प्रेरणा छायावादी रचनाओं से ही मिली। कला-कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को महत्व देने के कारण छायावाद में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता व्यक्तिवादी साहित्य चेतना का जन्म है। छायावाद तत्कालीन समष्टिगत जीवन की चेतनाओं का परिणाम भी है, इससे कवि के व्यक्तित्व के साथ ही उसकी परिस्थितियों का निरूपण भी आवश्यक माना गया। कला-कृति में अलंकार आदि शास्त्रीय तत्वों की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्वों का उद्घाटन अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। आलोचक रूढ़ और परम्परा-मुक्त शैली में रस, अलंकार, आदि के उदाहरण न खोजकर, (क्योंकि वे तो छायावाद में प्रायः विरल हो चुके थे)

सूक्ष्म सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न करने लगा। उस सौष्ठव से आलोचक भी कवि की तरह आह्लादित ही अधिक होना चाहता है, परम्परा-भुक्त नीति का उपदेश नहीं ग्रहण करता। छायावादी कवि का दृष्टिकोण स्थूल उपयोगितावादी नहीं है। उसको सृजन की प्रेरणा आनन्द से ही प्राप्त होती है और वही उसका साध्य है। इसलिये उस धारा का आलोचक भी उपादेयता के मानदण्ड पर साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर पाता है। उसको भी आह्लाद को ही प्रमुख मानना पड़ता है। आलोचक के व्यक्तित्व में वही सफल आलोचक माना गया जो कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। विश्लेषण की क्षमता के साथ ही सौन्दर्य से आह्लादित होने और पाठक को आह्लादित करने की योग्यता को इस युग में अधिक महत्व दिया जाने लगा।

आगे सौष्ठववादी समीक्षा के तत्वों का कुछ विशद विश्लेषण करेंगे। यहां पर इन तत्वों का संक्षेप में निर्देश करने का तात्पर्य केवल यह बताना है कि यह आलोचना-पद्धति छायावादी कविता का महज परिणाम है। इसके प्रत्येक तत्व के स्वरूप का विकास इसी धारा की विशेषताओं से हुआ है। हमारा यह अभिप्राय भी नहीं है कि इस पद्धति के विकास में पाश्चात्य प्रभाव का सहयोग नहीं है। अंग्रेजी की रोमांटिक पोइट्री तथा रोमांटिक क्रिटिसिज्म के अध्ययन का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिंदी का समीक्षक जब उन धाराओं से परिचित हुआ तो उसे अपना तत्कालीन साहित्य दरिद्र तथा अपनी तत्कालीन समीक्षा-पद्धति संकुचित प्रतीत हुई। इस प्रेरणा ने भी इस पद्धति के विकास में सहायता दी, पर यह पद्धति केवल पश्चिम का अनुकरण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसे शुक्ल-पद्धति का आधार भारतीय तत्व है और उसका विकास जैसे भारतीय तथा पाश्चात्य तत्वों के सामंजस्य में हुआ है, वैसे ही इस पद्धति की आधार-भूमि भारतीय भी है और वही इसके विकास का मार्ग निर्दिष्ट करती रही है। दोनों पद्धतियों में एक परम्परा को ग्रहण करते हुए भी जो वैषम्य है, उसका कारण केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। छायावादी ने काव्य के प्रयोजन आदि को शुक्ल-पद्धति के स्थूल नैतिक दृष्टिकोण से ग्रहण नहीं किया, अपितु रस, आह्लाद और रमणीयता को व्यापक और स्वच्छन्द रूप में अपनाया है। सौष्ठववादी समीक्षा की केवल प्रेरणा ही बाहर की है, पूरी पद्धति नहीं। हां पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का अनुशीलन करके उन्हें आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति शुक्ल-पद्धति से कहीं अधिक अवश्य है। कभी-कभी आलोचकों ने पाश्चात्य-सिद्धान्तों को अपने साहित्य और समीक्षा की प्रकृति को बिना समझे भी अपनाया है। वह आरोप-सा प्रतीत होता है और भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति से मेल नहीं खाता। अंग्रेजी से लेकर हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में वाक्यावली के प्रयोग वाली आलोचना इसी विवेकहीन अनुकरण का परिणाम है। पर इस पद्धति का मूल आधारभूत तत्व भारतीय है।

इसे रमणीयता के आधुनिकीकरण से प्राप्त समीक्षा पद्धति कहना भी समीचीन है।

इस पद्धति की साहित्य-शास्त्र अथवा साहित्य-दर्शन सम्बन्धी अपनी कुछ पृथक् धारणायें हैं। उनमें काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, वर्ण्य-विषय आदि समीक्षा के सभी अंगों पर मौलिक विवेचन है। इसमें कवि और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध की बहुत कुछ उपज्ञ धारणा है और उसी के आधार पर इस पद्धति का मानदण्ड और प्रयोगात्मक आलोचना का भवन अधिष्ठित है। सौष्ठववादी साहित्य-दर्शन का आधार प्राचीन शास्त्रों की अपेक्षा सम-सामयिक काव्य जगत् अधिक है। कवि और आलोचक की अपनी वैयक्तिक धारणाएं भी हैं जो उन्हें युग से प्राप्त हुई हैं तथा शेष शास्त्र का सूक्ष्म आधार लेकर बढ़ी हैं। ये ही साहित्य-दर्शन के रूप में विकसित हुई हैं। कवि के आत्माभिव्यंजन का सिद्धान्त ही इस युग की मूल आधार-भित्ति है। यही कारण है कि काव्य के स्वरूप, उद्देश्य तथा अन्य तत्वों पर इसी ढंग से विचार होने लगा। कवि और आलोचकों ने इस विश्लेषण में भी निगमनात्मक (Inductive) प्रतिक्रिया का ही आश्रय लिया है। कविता के सृजन और अनुशीलन के समय कवि और पाठक के मन की जो अवस्था रहती है, उसी अनुभूति का विश्लेषण करके काव्य-स्वरूप का निर्धारण हुआ है। इन काव्य-लक्षणों में कवि और पाठक की अनुभूति का सजीव चित्र है, उसमें स्वरूप का आलंकारिक की दृष्टि से तात्विक विवेचन नहीं है। ये प्राचीन परिभाषाओं की तरह तर्क-सम्मत और केवल शास्त्रीय नहीं हैं। इनकी शैली भी भावात्मक है। ये परिभाषाएं शास्त्रीय कम और वैयक्तिक तथा प्रभावाभिव्यंजक अधिक हैं. इनमें से अधिकाँश परिभाषायें कवित्वमय हैं। "कविता हमारे प्राणों का संगीत हैं, छन्द हृदय कम्पन ......कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, हमारे जीवन का पूर्ण रूप। हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन ही बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।"[1] इन्हीं से कुछ मिलते-जुलते विचार वर्ड्सवर्थ ने व्यक्त किये हैं।[2] वे कविता को सशक्त भावों का सहज उच्छलन मानते हैं। प्रसाद जी कहते 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ।'[3] काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय कवि-आलोचकों

१—पन्त जी : 'पल्लव' भूमिका, पृष्ठ १२।

2—That Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings : it takes its origin from emotions recollected in tranquility.

Wordsworth-Preface to Lyrical ballads. P. 25.

३—प्रसादजी : काव्य-कला और अन्य निबन्ध : पृष्ठ ३८।

के उद्धृत मतों से उनका अभिप्राय स्पष्ट है। छायावादी चिन्तक कवि की अनुभूति के स्वरूप, प्रेरणा एवं प्रभाव की दृष्टि से ही काव्य स्वरूप के विभिन्न पक्षों का निरूपण करते हैं। वे कविता के बहिरंग का वर्णन नहीं करते, न वे उसका शास्त्रीय और तात्विक विश्लेषण करते हैं, अपितु वे उसके आभ्यन्तर का अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करते हैं। इन परिभाषाओं में कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी अनुभूति का महत्व ही स्पष्ट है। कविता कवि की साधना है। कवि अपने आभ्यन्तर की ही प्रेरणा से अपने भावों, मनोवेगों, भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति स्वाभाविक और सहज होती है। उसमें प्रयास और कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं, आत्म-प्रकाशन की सहज आकांक्षा से प्रेरित होकर कवि जो कुछ अभिव्यक्त करता है वह अनुभूति अपने स्वाभाविक स्वरूप में अभिव्यक्त हो जाती है। यह कवि के हृदय की आनन्दसृष्टि है, उसके हृदय का सहज उन्मेष है। इसलिए इस सम्प्रदाय के विचारकों ने कवि-कर्म की शिक्षा का कोई महत्व नहीं माना है। छन्दों का कभी कोई बन्धन नहीं रहा। उग्र और कोमल भाव एक ही प्रकार की भाषा और छन्द का आश्रय लेकर नहीं व्यक्त हो सकते। अनुभूति के अनुसार ही माध्यम में भी परिवर्तन हो जाता है। "कविता प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन।" इस वाक्य से कविवर पन्त छन्द और भाव का सहज सम्बन्ध मानते हैं, छन्द को बन्धन-स्वरूप नहीं। पन्तजी कविता में शब्द और अर्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि ये भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं। "भगवान् की आनन्द सृष्टि अन्दर से स्वयं उत्सृष्ट हो रही है। मानव हृदय की आनन्द सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है। भगवान् की सृष्टि के आनन्दगीत की झन्कार हमारी हृदय वीणा को अहरह स्पन्दित करती है। इसी मानस संगीत का, भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात में हमारे अन्दर सृष्टि के आवेग का विकास साहित्य है।"[1] "शब्द और अर्थ रस की धारा में तल्लीन होकर अपना पृथक् अस्तित्व ही खो बैठते हैं।"[2] जहाँ पर शब्द और अर्थ अर्थात् कवित्व का बहिरंग उसके आभ्यन्तर से पृथक् झूलता हुआ प्रतीत होता है वहां पर काव्य कृत्रिम प्रयास मात्र हो जाता है। ऐसे स्थलों के भावों में प्रभावोत्पादकता भी नहीं रहती। इसीलिए छायावादी कवियों को भाव और भाषा, अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। भाव विशेष पद्धति को अपने आप ही अपना लेते हैं। "जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में उसके रंग बिरंगे पुष्पों, लाल, हरे, पीले,

१— 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ७।
२—'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २०।

छोटे-बड़े तृण गुल्म लताओं, ऊँची नीची सघन विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया-ज्योति की रेखाओं तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता है और उसमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़कर तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।"[1] इसी से भाषा में चित्रमयता और संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। सौन्दर्य में अनिर्वचनीयता होती है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को अन्य साधनों का उपयोग करना पड़ता है। 'जिसे वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता उसे चित्र द्वारा कहना पड़ता है। साहित्य में इस प्रकार जो चित्र-रचना की जा रही हैं उसकी कोई सीमा नहीं, उपमा, व्यतिरेक और रूपक आदि के द्वारा भावों को प्रत्यक्ष रूप देने का प्रयत्न किया जाता है।"[2] भाषा की यह शक्ति सीमातीत हो जाती है। "जब अपरूप को रूप प्रदान किया जाता है, भाषा में अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियों में सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्य में अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है, वह अलंकारों का अतिक्रमण कर देती है, वह अलंकारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।"[3]

शक्ति, निपुणता और अभ्यास में से ये छायावादी आलोचक और कवि केवल शक्ति को ही मानते प्रतीत होते हैं। इनके अनुसार कवि जन्म लेता है, परिस्थितियों और प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी कुछ विशेष आवेगमय क्षणों में ही कविता कर सकता है। काव्य-सृजन के लिए भावावेश, संवेदना और अनुभूति की तीव्रता परमावश्यक है। भावावेश की अवस्था में काव्य का सृजन नहीं होता, परन्तु आवेग के शिथिल और शान्त हो जाने पर स्मृतिजन्य भाव ही काव्य के उपकरण बनते हैं। वर्ड्सवर्थ कहते हैं : It takes its origin from emotions recollected in tranquility. इससे स्पष्ट है कि आत्माभिव्यंजन की आकांक्षा काव्य की मूल प्रेरणा है और अनुभूति मूल-शक्ति। ये लोग काव्य-सर्जन के लिए कल्पना और भावना को अपरिहार्य साधन मानते हैं।

१—पल्लव की भूमिका, पृ० २०
२—साहित्य : रवीन्द्र पृ० ५
३—वही पृ० ३४५

यह साहित्य-दर्शन काव्य के हेतु पर विचार करता हुआ काव्य के वर्ण्य विषय को भी स्पष्ट कर देता है। बाह्य जगत् के प्रति कवि-हृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया ही काव्य का विषय हैं। प्रसाद जी काव्य के भावों का निरूपण करते हुए कहते हैं: ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे, ये अनुभूति के स्पर्श से पुलकित भाव बाह्य आकार में अनिवार्यत: रूपवैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण हैं। वे स्वयं तो असाधारण और विलक्षण होते ही हैं, इनमें जो स्निग्धता, मार्दव, अनुभूति की मार्मिकता, हृदयस्पर्शिता और दिव्यता रहती है वह अभिव्यक्ति को भी लाक्षणिक कर देती है। इन भावों में एक अनन्तता और गूढ़ता रहती है। काव्य के भावों का अपना एक स्वतंत्र जगत होता है। कवि अपनी कल्पना और भावुकता से इसके स्वरूप की व्यंजना कर पाता है और पाठक भी इसकी असीमता से प्रेरित होकर कल्पना-प्रधान हो जाता है। इसी कल्पना के आश्रय से वह भी (पाठक भी) बाह्य जगत् की क्रूर कठोर वास्तविकताओं से ऊपर उठकर कवि की-सी अद्‌भुत स्फूर्ति और चेतना का अनुभव करने लगता है। भावों की तल्लीनता सौन्दर्य का कारण बन जाती है। सौष्ठववादी रमणीयता एवं रसात्मकता को ही काव्य की आत्मा मानता है। प्रसादजी इन भावों की संगीतमयता, आत्मविस्मरण क्षमता, आह्‌लादकता और शान्तिमयता की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये सभी तत्व अन्योन्याश्रित हैं और यह आनन्द उत्तेजक न होकर शान्ति प्रदान करता है।

सौष्ठववादी के अनुसार काव्य-सृजन द्वारा आत्माभिव्यंजन के आनन्द की पूर्ति के अतिरिक्त कवि का अन्य कोई उद्‌देश्य नहीं होता। कवि स्वान्त: सुखाय कविता करता है। इस विचार-धारा के अनुसार काव्य का एक-मात्र उद्‌देश्य आनन्द है। उसके अनुसार सौन्दर्य की सृष्टि और अनुभूति द्वारा आनन्द-प्राप्ति ही काव्य के सृजन और अनुशीलन की मूल प्रेरणा और प्रयोजन हैं। पर छायावादी कवि की व्यष्टि की चरम परिणति समष्टि के साथ तदाकार होने में हुई। यही उसके काव्य के चरमोत्कर्ष का मानदण्ड भी बना। कवि के स्वांत: सुखाय में ही सर्व साधारण का आनन्द भी अतर्निहित हो गया। कवीन्द्र-रवीन्द्र अपने लिए ही आत्म-प्रकाशन के सिद्धान्त को असमीचीन मानते हैं। उनका मत है कि भाव में स्वभावत: ही अपने आपको अनेक हृदयों में अनुभूत कराने की प्रवृति है। "एक मात्र अपने ही लिए भावों का प्रकाशन—यह भी एक ऐसी निरर्थक बात है। रचना स्वयं रचयिता के लिए नहीं है—यही मानना पड़ेगा और यही मानकर चलना पड़ेगा।...हमारे भावों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अपने आपको अनेक हृदयों में अनुभव कराना चाहते हैं। प्रकृति में देखिए, प्राणिमात्र व्याप्त होने के लिए, स्थिरतापूर्वक रहने के लिए

प्रयत्नशील है।"[१] परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है। "क्या इस कारण लेखक की रचना कृत्रिम हो जाती है? माता का दूध सन्तान के लिए ही होता है और क्या इसीलिए वह स्वतः स्फूर्त नहीं होता।"[२] कवि सर्व-साधारण की भाव-दशा को अपनी बना लेता है। उसके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करके अपने स्वकीय संकुचित परिधि को व्याप्त कर लेता है।[3] कविता के रूप में अपने भावों को व्यक्त करते समय उन्हें पुनः साधारणीकृत रूप प्रदान कर देता है। वे कवि के होते हुए सहृदय के भी होते हैं। इसीलिए उनमें कवि का स्वान्तः सुखाय और पाठक का आनन्द—दोनों रहते हैं। कवीन्द्र इसे ही साहित्य का कवि मानते हैं: "भाव को अपना बनाकर सर्वसाधारण का बना देना ही साहित्य है, यही ललित कला है...इसीलिए सर्वसाधारण की वस्तु को विशेष रूप से अपनी बनाकर उसी प्रकार उसको सर्व-साधारण की बना देना साहित्य का कार्य है।"[४] यदि हम अपने हृदय की अनुभूति को सर्वसाधारण की अनुभूति बना सकें तो हमें एक गौरव, शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है। "मैं जिससे विचलित हो उठता हूँ तुम उसके प्रति सर्वथा उदासीन रहते हो। यह मुझे अच्छा नहीं लगता।"[५] स्वच्छन्दतावादी कवियों के वर्ण्य-विषय-सम्बन्धी आदर्श और आत्माभिव्यंजन के सिद्धान्त की यह सुन्दर और समीचीन व्याख्या है। नितान्त वैयक्तिक विचार और भाव साहित्य की वस्तु नहीं हो सकते। वैयक्तिकता को अनुचित अर्थ में ग्रहण करने वाले कवियों ने पर्याप्त प्रलाप भी किये हैं, पर उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। इन उद्धरणों से सौष्ठववादी समीक्षक की धारणायें अत्यन्त स्पष्ट हैं। वह काव्य को व्यक्तित्व की वह अभिव्यक्ति मानता है जो सर्व साधारण को अपने ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रतीत हो।

स्वच्छन्दतावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा नैतिक उपदेश की दृष्टि से सृजन नहीं करता। उसका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है और उसका सीधा सम्बन्ध नीति से नहीं अपितु आह्लाद से है। "कला में बाह्य जीवन-सम्बन्धी आरोप, चाहे वह धार्मिक हों, चाहे नैतिक, अनुचित हैं।"[६] यह ऊपर के विवेचन से भी अत्यन्त

१—'साहित्य' रवीन्द्र पृष्ठ ७।

२— वही, पृष्ठ ८।

3. To trace poetry to the deepest and the most universal spring of human nature.—English Literary criticism by Vaughan

४—'साहित्य' : रवीन्द्र पृ० १५।

५—वही, पृ० १८।

६—छायावाद और रहस्यवाद : गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ० ७।

स्पष्ट है। प्राय: सभी कवियों और आलोचकों ने इसका प्रतिपादन किया है। काव्य-सम्बन्धी रोमान्टिक दृष्टिकोण यही है। ब्रैडले ने इस दृष्टिकोण को विस्तार से स्पष्ट किया है। वर्ड्स्वर्थ ने मानव को मानव के रूप में ही सद्य: आनन्द देने की आकांक्षा को ही मूल प्रेरणा तथा प्रयोजन माना है।[1]

प्रसाद जी भी काव्य का यही ध्येय मानते हैं। सौन्दर्य-सृष्टि के अतिरिक्त उन्होंने काव्य का अन्य कोई उद्देश्य नहीं माना है। साहित्य-सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है और आनन्दमय हृदय उसी का अनुशीलन करता है।[2] सौन्दर्य और आनन्द को सत्य तथा शिवत्व से पूर्णत: विच्छिन्न करके देखने की प्रवृत्ति भारतीय विचारधारा के अनुकूल नहीं है। भारतीय चिन्तन में सर्वत्र सामंजस्य ही है। साहित्य के क्षेत्र में भी सत्य, सौन्दर्य, और शिवत्व को पृथक् और परस्पर विरोधी नहीं माना जाता। इन तीनों का भी सामंजस्य ही मान्य हुआ है। महादेवी जी ने काव्य और कला का आविष्कार सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए ही माना है।[3] पन्तजी इन तीनों के सामंजस्य की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहते हैं: "सत्य शिव में स्वयं निहित हैं। जिस प्रकार फूल में रूप-रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस, और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार

1—"The poet writes under one restriction only, namely the necessity of giving immediate pleasure to human being possessed of that information which may be expected from him, not as a lawyer, a physician, a mariner, an astronomer or a natural philosophor, but as a man."
"The end of poetry is to produce excitement in coexistence with an overbalance of pleasure.
—Wordsworth : Preface to Lyrical Ballads P. 16
"In Coleridge's view poetry is the anti-thesis of science having for its immediate object-pleasure, not truth.
Introduction to 'Study of Literature by Hudson P. 64

२—'इन्दु,' कला १, किरण २, सन् १९०९।
३—'दीपशिखा' की भूमिका, पृ० २।

सुन्दरम् की परिणति शिव में सत्य द्वारा ही होती है।"[1] महादेवी जी काव्य की उत्कृष्टता का कारण जीवन की विविधता में सामंजस्य स्थापित करना मानती हैं। काव्य इस समन्वय द्वारा असीम सत्य की झाँकी देता है।[2] केवल प्रयोजन और उपयोगितावाद का दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है। सौन्दर्य-बोध हमें प्रयोजन के संकुचित वातावरण से ऊपर उठाता है। यही मानव को सुसंस्कृत और सभ्य बनाता है। प्रसाद जी कहते हैं: "संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।"[3] "सौन्दर्य हमारी क्षुधा-तृप्ति में एक उच्च स्वर है। यही कारण है कि एक दिन जो असंयत जंगली थे, आज वे मनुष्य हो गए हैं। उसने (सौन्दर्य) संसार के साथ एक-मात्र प्रयोजन का सम्बन्ध न रखकर आनन्द का सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। प्रयोजन के सम्बन्ध में हमारी हीनता है, दासत्व है। आनन्द के सम्बन्ध में ही हमारी मुक्ति है।"[4] कवीन्द्र अपने इसी 'सौन्दर्य-बोध' नाम के निबन्ध में सौन्दर्य का संयम से भी संबंध स्थापित करते हैं। असंयमशील सौन्दर्य-भावना विलासिता में परिणत हो जाती है। उसमें सौन्दर्य-बोध की उच्चता और पवित्रता नहीं रहती। अशांत और असंयमी चित्त, उन्मत्त और चिरन्तन परिवर्तनशीलता में ही सौन्दर्य देखता है। एक परिवर्तन की भंवर में पड़कर घूमने में ही उसे आनन्द आता है। पर यह आनन्द चिरस्थायी नहीं है। शराब के नशे की तरह उतर जाने पर आनन्द का लेश-मात्र भी नहीं रहता। यह न तो वास्तविक सौन्दर्य-बोध है और न तज्जनित आनन्द। यूरोप के साहित्य की यही अवस्था है।[5] हमारे कतिपय कवियों में भी इस प्रकार की असंयत प्रवृत्ति के कुछ दर्शन होते हैं। पर यह प्रवृति भारतीय प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। यहाँ पर सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य है। रवीन्द्र भी इन दोनों को एक ही मानते हैं। मंगल वस्तुतः सुन्दर है, उसमें मानव-हृदय को आकृष्ट करके तन्मय करने की क्षमता होती है। उसमें केवल प्रयोजन की भौतिक एवं स्थूल अभाव की ही तृप्ति नहीं है। साहित्य-साधना से प्राप्त आनन्द तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।[6] वह इससे बहुत-

१—'आधुनिक कवि,' पन्त, पृ० ६।
२—वही, भूमिका पृ० ४।
३—'काव्य और कला,' पृ० ५।
४—'साहित्य', रवीन्द्र, पृ० ३३।
५—वही : सौन्दर्य बोध नामक निबन्ध
६—छायावाद और रहस्यवाद पृ० ९

कुछ अधिक है। 'सत्य तो यह है कि जो वस्तु मंगल होती है वह एक तो हमारी आवश्यकता पूर्ण करती है और दूसरे वह सुन्दर होती है। अर्थात् उपयोगिता के अतिरिक्त भी उसमें एक तरह का निष्प्रयोजन आकर्षण होता है। नीति के पंडित संसार में मंगल का धर्म की दृष्टि से प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं और कवि मंगल को संसार में उसकी अनिर्वचनीय सौन्दर्य की मूर्ति में प्रकाशित करते हैं।" सौन्दर्य और मंगल का यह सामंजस्य सौन्दर्य को उच्च स्तर की वस्तु बना देता है, उसे केवल स्थूल भोग-विलास के साधन-मात्र तक सीमित नहीं रखता। इसमें रूढ़िगत नैतिकता तो नहीं रहती, पर विश्वकल्याण की भावना अन्तर्हित होती हैं। रवीन्द्र के ये विचार भारतीय चिन्तन-धारा के सर्वथा अनुकूल हैं। छायावाद में भी सौन्दर्य और मंगल के इस सामंजस्य का आभास मिलता है। प्रसाद जी भी काव्य को 'श्रेयमयी प्रेय-ज्ञान-धारा' कहकर सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य की ओर संकेत कर रहे हैं। उनकी इस विचार-धारा से यह भी स्पष्ट है कि इन दोनों के समन्वय का आधार सत्य ही है। उसमें प्रकृति, मानव तथा सभी वस्तुओं में एक चेतन सत्ता देखने की प्रवृत्ति, प्राणि-मात्र की एकता का सन्देश दे रही है। इस प्रकार मंगल अन्तर्हित है। मानव-हृदय में प्रकृति के कण-कण के प्रति सौन्दर्य-भावना जाग्रत करके उस पूर्ण मंगल की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ही प्रसाद जी आदि कवियों की कविता का प्राण है। इन काव्यों का उद्देश्य स्थूल और जड़ नीतिवाद का उपदेश और प्रचार नहीं, अपितु मंगल-विधान है। उपदेश की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए निराला जी कहते हैं: 'सूक्तियां और उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूं।"[1]

ऊपर जिन काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है, वे छायावादी कवियों और सौष्ठववादी आलोचना की मूल भित्ति हैं। इस काव्य-धारा और आलोचना-पद्धति के निर्माण की यही सामग्री है, उनकी प्रगति की यही दिशा है। वस्तुतः यहाँ पर स्वच्छन्दतावाद ने काव्य-सिद्धान्त, काव्य-शैली और नीति की रूढ़िवादिता के क्षणिक रूप के विरुद्ध आन्दोलन किया था। रीति-काल में तथा उससे भी बहुत पहले से ही भारतीय चिन्तन-धारा स्थिर हो चली थी। इसलिए उसमें स्थैर्य के कारण दुर्गन्ध आ गयी। इससे चिन्तन की प्रगति अवरुद्ध हो गई और रूढ़िवादिता का प्राबल्य हो गया पर यहाँ के धार्मिक, दार्शनिक, काव्य सम्बन्धी चिन्तन के सिद्धान्त, चिरन्तन सत्यों पर अधिष्ठित थे, इसलिए इतने लम्बे समय की बौद्धिक शिथिलता भी उनको अनुपयोगी नहीं कर सकी। भारतीय जीवन में नीति के

१—प्रबन्ध प्रतिभा : मेरी गीत और कला पृ० २८४

जड़ नियमों के लिए बहुत कम स्थान है। उनका ध्यान तो मंगल के सार्वदेशिक रूप की ओर ही रहा है। यही बात उनके काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनके साहित्य, रमणीयता, रस, औचित्य और ध्वनि के सिद्धान्त काव्य-सम्बन्धी चिर सत्यों पर आधारित हैं। उनमें देश और काल के व्यवधान से ऊपर उठकर साहित्य मात्र के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है और यही कारण है कि वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक मानदण्ड उपस्थित करते हैं। समयानुकूल इनकी व्याख्याओं में कुछ उपज्ञता-प्रदर्शन की भी गुंजाइश है। शुक्ल जी ने 'रस' का आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल विवेचन किया है। ऐसे और भी कई प्रयास हुए हैं और होते रहेंगे। छायावाद और सौष्ठववादी आलोचना के जन्मदाता प्रसाद जी तथा इस आलोचना-पद्धति के प्रमुख कर्णधार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी भारतीय रमणीयता एवं रस - सिद्धान्तों के महत्व को स्वीकार किए बिना न रह सके। इतना निश्चित है कि भारतीय काव्य में यूरोप की-सी उद्देश्य-हीनता के दर्शन नहीं हो सकते। यहाँ पर वैयक्तिकता और साधारणीकरण, स्वान्तः सुखाय और जन-सुखाय तथा सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य हुआ है। इन्हीं धाराओं पर हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है। ये सिद्धान्त ही उसके आधारभूत हैं। इसीलिए पहले इन सिद्धान्तों के विशद विवेचन की आवश्यकता थी। हिन्दी की छायावादी चेतना के विकास में पाश्चात्य रोमैन्टिसिज्म से प्रेरणा अवश्य मिली है। आत्माभिव्यक्ति, आवेग, कल्पना, भावप्रवणता स्वच्छन्दता, अनुभूति, एवं अभिव्यक्ति का सामंजस्य, सौन्दर्यानन्द आदि सिद्धान्त पश्चिम के अनुकरण से प्रतीत होते हैं। पर वास्तव में ये तत्कालीन परिस्थितियों के सहज परिणाम के रूप में जागरित साहित्य चेतना के तत्व हैं। इनके मूल में भारतीय चिन्ता धारा प्रवाहित है। रस, रमणीयता वक्रोक्ति शब्दार्थ या साहित्य आदि प्राचीन सिद्धांतों के ही ये नूतन संस्करण हैं। शुक्लजी तक कवि - प्रतिभा, अनुभूति, रस, रमणीयता आदि का केवल रूढ़ एवं शास्त्रीय रूप ही अधिक गृहीत हुआ। उनकी मूल आत्मा का उनके वास्तविक सौंदर्य से साक्षात्कार के प्रयास इस धारा में हुए हैं।

इस नवीन समीक्षा पद्धति की सबसे प्रधान वस्तु है सौष्ठव की अनुभूति तथा पाठक के हृदय में भी उस अनुभूति को जाग्रत करने के लिए उसका उपयुक्त विश्लेषण। काव्य का प्राण व्यंजना या ध्वनि है और वह सहृदयश्लाघ्य है। भावुक ही उसका रसास्वादन कर सकता है। कवि के सृजन का भावयित्री प्रतिभा द्वारा रसास्वाद करने वाला भावक होता है। वही वास्तविक आलोचक है।[1] साधारण

१—'काव्य-मीमाँसा', राजशेखर-कृत, चतुर्थ अध्याय।

पाठक और आलोचक में मुख्य भेद यही है कि साधारण पाठक काव्य-सौन्दर्य को पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर पाता है। कुछ ऐसी गूढ़ व्यंजनाएं होती हैं, जिन्हें उसकी बुद्धि और हृदय ग्रहण नहीं कर पाते पर भावक उनके अन्तस्तल में प्रवेश करके उनका पूर्ण रसास्वाद कर लेता है। वह विश्लेषण और विवेचन द्वारा अनुभव के योग्य वातावरण भी उपस्थित कर देता है। गूढ़ व्यंजनाओं की अनुभूतिमय व्याख्या करके तथा उनके सन्दर्भ का विशद निरूपण करके साधारण पाठक के लिए भी उन्हें अनुभवगम्य कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधारण पाठक जितना रसास्वाद, उनके महत्व की प्रतीति, आलोचना पढ़ने के बाद कर सकता है उतना उससे पूर्व नहीं। यही आलोचना की सफलता है और यही उसका प्रकृत रूप है। शुक्ल पद्धति का समीक्षक वर्णनात्मक एवं विचारक अधिक था। पर सौष्ठववादी समीक्षक भावुक एव रस-ग्राहक है। आलोचक के इसी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पिनगार्न कहते हैं:

"Criticism stands like an interpreter between the inspired and the uninspired, between the prophet and those who beat melody of his words, and catch some glimpses of their material meaning, but understand not their deeper import."

जिसे स्पिनगार्न गूढ़ार्थ (Deeper import) कहते हैं, वही वास्तविक काव्यसौष्ठव है, काव्य का प्राण है। काव्य-सौष्ठव कवि-हृदय की अनुभूति और अभिव्यक्ति का वह सारभूत अंश है, जो काव्य में वर्णित सार जीवन और पात्रों का प्राण-स्पंदन है, जो जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है, और काव्य के आह्लाद का मूलभूत कारण है। इसी तत्व से काव्य सचेतन रहता है। स्पिनगार्न इसीको 'दिव्य ज्योति" Empyrean fire कहते हैं। अन्य सभी वस्तुएं और तत्व केवल उसको पुष्ट करने के लिए हैं। इसीलिए यह नवीन समीक्षक उस वस्तु को पूर्ण रूप से समझ ही नहीं लेना चाहता, अपितु उसका हृदय से साक्षात्कार भी कर लेना चाहता है। यह उसके लिए बौद्धिक विश्लेषण का विषय नहीं, वह उससे स्वयं आह्लादित होता है और पाठकों को आह्लादित करना चाहता है। इसमें आलोचक की बुद्धि और हृदय का पूर्ण संयोग रहता है और यही पाठक के लिए अपेक्षित है। स्पिनगार्न उन प्रश्नों का निर्देश करते हैं, जिनका उत्तर सौष्ठववादी समीक्षक देता है। इस समीक्षक को उस दिव्य ज्योति और प्राण-स्पन्दन का उद्घाटन करना है जिससे सारा काव्य आलोकित और स्पन्दित होता है, जो काव्य की जीवन-शक्ति है। इसे कलात्मक कौशल पर प्रधान रूप से विचार नहीं करना है, जो कवि के आलंकारिक चमत्कार का हेतु है। जिस पर विचार करना है, उसको स्पिनगार्न स्पष्ट करते हैं:

"By what for and more mysterious mechanism Shakespear organised his dreams, gave life and individuality to his Arial and Hemlet, wherein lies that life, how have they attained that shape and individuality? Where comes that Empyrean fire which cradiates their whole being and pierces atleast in starry gleams like a diviner thing into all hearts."[1]

समीक्षक को उस तत्व का उद्घाटन करना है जिसके कारण काव्य प्रत्यक्ष जगत से अधिक सत्य है। उसे केवल कविता के स्रष्टा का ही परिचय नहीं देना है, अपितु यह भी स्पष्ट करना है कि किस प्रकार एक विशेष कला-कृति उसकी अनुभूति का स्वाभाविक और सहज परिणाम है। समीक्षक को वह तत्व स्पष्ट करना है जिसके कारण कविता कविता है, केवल लययुक्त पद्य नहीं। इस समीक्षक को प्रधानतः काव्य की विशुद्ध दृष्टि से समीक्षा करना है। सौष्ठववादी समीक्षक के लिए इतना व्यापक दृष्टिकोण अपेक्षित है। सौष्ठव की अनुभूति का सहज परिणाम ही आह्लाद है। भारतीय आलंकारिक इसी को रसास्वाद कहना चाहता है और पाश्चात्य समालोचक सौन्दर्य-मूलक आह्लाद (Aesthetic Pleasures)। इसीलिए रसानुभूति और उसके कारणों का विश्लेषण ही नवीन समालोचक का प्रधान उद्देश्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह कला के किसी नैतिक अथवा सांस्कृतिक महत्व की नितान्त अवहेलना करता है। उसका ध्यान इनकी ओर जाता अवश्य है, पर गौण रूप से। वह यह मानता है कि काव्य पाठक के व्यष्टि और समष्टि—दोनों रूपों को प्रभावित करता है। उसका रागात्मक प्रसार करके चारित्रिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान में सहायक होता है। सारे मानव-समाज पर भी उसका सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता है। पर यह सारा कार्य व्यंजना और आह्लाद के माध्यम से होता है यह परोक्ष प्रभाव है। काव्य का कार्य अज्ञात रूप से व्यष्टि और समष्टि को प्रभावित करना है, पर यह परोक्ष प्रभाव भी महान् और स्थायी होता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समालोचक काव्य के चिरन्तन और सांस्कृतिक महत्व का भी विचार करता है। उसे नीति का रूढ़ रूप नहीं अपितु नैतिकता का सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप ही मान्य है। वह उसी को काव्य में देखना चाहता है और उसी के आधार पर काव्य का मूल्यांकन करता है। वह कवि को उपदेशक अथवा प्रचारक के स्तर पर नहीं लाना चाहता। इस कार्य को वह काव्य के लिए हेय और अपमानजनक समझता है। इसीलिए वह

1—American Critical Essays--19th to 20th Century P. 434-435.

अपना प्रधान उद्देश्य सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूति और उसका तात्विक विश्लेषण मानता है। काव्य का सांस्कृतिक अथवा नैतिक महत्व भी इसी आह्लाद की वृद्धि करने वाला है। सुन्दर, कलात्मक और भाव-सौष्ठव से परिपूर्ण काव्य अगर मानव को संस्कृति का कोई महान्, स्पष्ट और व्यक्त सन्देश भी दे तो सोने में सुगन्ध है, इससे काव्य का सौष्ठव और आह्लाद, द्विगुणित हो जाता है। 'कामायनी' इसका सजीव उदाहरण है। पाठक को उसमें अनिर्वचनीय आह्लाद प्राप्त होता है। 'कामायनी' व्यष्टि रूप में उसके चारित्रिक और रागात्मक प्रसार का कारण है और समष्टि रूप में सांस्कृतिक विकास की प्रेरक। काव्य-सौष्ठव संस्कृति का विरोधी नहीं हो सकता। वस्तुतः संस्कृति के व्यापक अर्थ के साथ तो इसका सामंजस्य है।

नवीन समालोचक सौष्ठव को व्यापक अर्थ में ग्रहण करता है। काव्य को प्राण-स्पन्दन देने वाली, काव्य को काव्य बनाने वाली दिव्यज्योति की रमणीयता ही वास्तव में सौष्ठव है। उसमें भावों, कल्पनाओं और अनुभूतियों की स्निग्धता, कान्ति, माधुर्य और मार्मिकता आदि उन सभी गुणों का समावेश है जो उनकी प्रभावोत्पादकता और उदात्तता (Sublimity) के उत्कर्षक हैं। उसमें अनुभूतियों की व्यंजकता तथा रागात्मकता, भावों की गूढता और अनन्तता एवं शैली की लाक्षणिकता और प्रांजलता का अन्तर्भाव है। सौष्ठव में अनुभूति और अभिव्यक्ति का, काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों का समन्वय है। यही कारण है कि सौष्ठववादी उन सभी कारणों का विवेचन करता है जो पाठक के हृदय में स्फूर्ति और आह्लाद जाग्रत करने के हेतु हैं। सौष्ठववादी समालोचक कवि के व्यक्तित्व, अनुभव-जगत् एवं उनकी अभिव्यंजना का स्थूल निरूपण ही नहीं करता, अपितु वह उनके अन्तस्थल में प्रवेश करके उनके गूढ़ रहस्य, मार्मिकता तथा सौन्दर्य का उद्घाटन करता है। कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति के बाह्य और अभ्यान्तर—दोनों पक्षों के सौष्ठव का अध्ययन और प्रकाशन ही उसका प्रधान कार्य है। वह इनमें सामंजस्य स्थापित करता है। सौष्ठववादी आलोचक छन्द, रीति और शैली के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियमों और आदेशों का पालन करना कवि के लिए आवश्यक नहीं समझता है। वह कवि-प्रतिभा की नैतिक और अलंकार-शास्त्रीय नियमों से पूर्ण स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करता है। वह यह देखना चाहता है कि कवि हृदय का आवेग कितना तीव्र, हृदय स्पर्शी, महान एवं रमणीय है। तथा उसकी अभिव्यक्ति ने जिन काव्य-रूपों, शैलियों अलंकारों एवं छन्दों को अपना लिया है, वे सहज एवं स्वच्छंद हैं। उनसे मूल भाव के सौन्दर्य की कितनी रक्षा हुई है। कितना उसका उत्कर्ष हो सका है। उसे अपनी आलोचना में प्रधानतः अलंकार-शास्त्र के तत्वों

का विश्लेषण नहीं करना, उसे यह भी नहीं कहना है कि आलोच्य कवि इन नियमों के निर्वाह में कितना सफल हुआ है। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वह काव्य के कला-पक्ष, शैली और अभिव्यंजना की अवहेलना करता है। उसे भाव और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध तथा भावों की अनेकता एवं अनन्तता के अनुरूप ही अभिव्यंजना-शैलियों की अनेकता और अनन्तता के सिद्धान्त मान्य हैं। इसलिए जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है वह यह बताने का प्रयत्न करता है कि भाव, अनुभूति और वस्तु किसी विशेष शैली में कितने सौष्ठव, मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता के साथ व्यक्त किये जा सके हैं। इसी को भाव और भाषा, वस्तु और शैली, अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य कहते हैं। यही शैली और अभिव्यंजना-सम्बन्धी सौष्ठव है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह नवीन समीक्षा काव्य के वस्तु संकलन, चरित्र-चित्रण, भाव, अनुभूति, कल्पना, संवेदनात्मकता, अनुभूति-व्यंजना, ध्वन्यात्मकता आदि सभी तत्वों के बाह्य और आभ्यन्तर सौष्ठव को देखती है। उस सौष्ठव की वह बौद्धिक और विश्लेषणात्मक कम, पर अनुभूतिमय व्याख्या अधिक करता है। वह स्वयं काव्य के सौष्ठव का अनुभूति से साक्षात्कार करके आह्लादित होता है और पाठक को आह्लादित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में उसे कुछ विश्लेषण और बौद्धिकता का आश्रय भी लेना पड़ता है। वह इन प्रक्रियाओं को गौण साधन के रूप में अपनाता है, प्रधान वस्तु तो उसके लिए अनुभूति ही है। शुक्लजी रस के बौद्धिक व्याख्याता हैं, पर सौष्ठववादी समालोचक प्रधानत. उसकी संवेदनीयता को अनुभूति द्वारा ग्रहण करना चाहता है, उसका प्रभाववादी प्रतिपादन ही विश्लेषण और मूल्यांकन बन जाता है।

स्पिनगार्न इस समीक्षा-पद्धति का तात्विक विश्लेषण करते हुए कहते हैं:—

Criticism has assumed a new form in Germany. It proceeds on other principles and proposes to itself a higher aim. The main question is not now a question concerning the qualities of diction, the coherence of metaphors the, fitness of metaphors, the fitness of sentiments, the general logical truth in a work of art, as it was some half century ago among most critics, but it is properly and ultimately a question of essence and peculiar life of the poetry itself"[1]

1. Spingarn—The New Criticism. P. 434 (The American critical essays XIXth & XX century.)

इससे स्पष्ट है कि अब आलोचक कविता की प्राणभूत वस्तु का विवेचन करना चाहता है। इसी प्राणभूत वस्तु के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह रचना कविता है। यह प्राणभूत वस्तु एक शब्द में सौष्ठव के नाम से अभिहित की जा सकती है। इस सौष्ठव का ऊपर विवेचन हो चुका है। इस सौष्ठव का उद्घाटन प्रधान वस्तु है। इसी को स्पष्ट करते हुए स्पिनगार्न उन प्रश्नों को रखते हैं, जिनका विचार आज के समीक्षक करते हैं :

"What is this unity of pleasure, and can our deeper inspection-discern it to be indivisible and existing on necessity because each work springs as it were from the general elements of thought and grows up there upon into form and expansion on its own growth. Not only who was the poet and how did he compose; but what and how was the poem and why was it a poem and not rhymed eloquence, creation and not figured passion : these are the questions for the critic."

समीक्षा का मानदण्ड साहित्यिक रचना में ही विद्यमान रहता है। जिन साहित्य सम्बन्धी धारणाओं से आलोचना का मान तैयार होता है, वे कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा और उसकी कृति से स्वयं ही व्यंजित हो जाती हैं बाहर से किसी मान के आरोप करने की आवश्यकता नहीं है। कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य तथा सौष्ठव के सिद्धान्त का यह सहज निष्कर्ष है। बाह्य तत्वों का काव्य पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं रहता है। उसका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष कवि के व्यक्तित्व और साहित्य के अन्तरंग तत्वों पर ही निर्भर है, किसी बाह्य तत्व पर नहीं। ऊंचे से ऊंचा नैतिक आदर्श साहित्य-शास्त्र, राजनीति इतिहास आदि का ज्ञान भी उत्कृष्ट साहित्य-सृजन में अनिवार्य रूप से सहायक नहीं हो सकता है। आदर्श की उच्चता अथवा ज्ञान की प्रौढ़ता से साहित्यिक की उत्कृष्टता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए काव्य की परीक्षा के साधन भी नैतिकता और आदर्शवाद से स्वतन्त्र ही होने चाहियें। ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण काव्य-परीक्षा के प्रधान मानदण्ड नहीं हैं। उन्हें गौण अथवा सहायक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। बाह्य परिस्थितियां कवि के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं, उनका काव्य पर भी परोक्ष नियन्त्रण होता है; इसलिए उनकी अवहेलना तो नहीं की जा सकती। उनका विवेचन तो अवश्य ही करना पडता है, पर यह विवेचन गौण ही माना जायगा। काव्य तथा उसकी समीक्षा की इनसे स्वतन्त्र पृथक् सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' में प्रतिपादन किया है, उनकी यही मान्यता है - काव्य का महत्व तो काव्य के

अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं. वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोडी ही मात्रा में कर सकते हैं।"[1]

पाश्चात्य देशों में दर्शन, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आचार-शास्त्र आदि अनेक विधाओं का काव्य पर कठोर नियन्त्रण प्रारम्भ से ही रहा है। काव्य-समीक्षा के जो मानदण्ड समय-समय पर मान्य हुए, वे दर्शन, सौंदर्य-शास्त्र मनोविज्ञान, चरित्र अथवा अन्य किसी शास्त्र पर ही आधारित रहे। इसी लिए स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) को काव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए इतना बडा आन्दोलन करना पड़ा। भारत में काव्य इतने बन्धनों से नहीं जकडा गया था। प्राचीन काल से ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान्य थी। पर फिर भी दर्शन आदि कुछ विधाओं का बहुत साधारण सा प्रभाव प्रारम्भ से ही था। रस सम्बन्धी सम्प्रदाय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों से प्रभावित थे। धर्मशास्त्र के नियन्त्रण से काव्य पूर्णतः मुक्त नहीं था। पर रीतिकाल में ये नियन्त्रण जड़ और जटिल हो गए। इतिवृत्तात्मक काल में ही नीति, लोकादर्श तथा साहित्य और जीवन के संबन्ध की जड़ धारणाओं का नियन्त्रण बढ़ चला था। इसलिए भारतीय कवियों और आलोचकों को भी काव्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करनी पडी। वाजपेयी जी की घोषणा इसी परिस्थिति की द्योतक है। पन्त जी और प्रसादजी ने भी ऐसी घोषणाएं की हैं।[2] काव्य की सत्ता की घोषणा में काल का भी विचार हुआ है। इस काल की कविता का परीक्षण उसी काल के मान के आधार पर ही किया जा सकता है। यह मान उस काल की कविता से अपने-आप ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार मानों के आरोप को अस्वीकार किया गया। रीतिकाल के काव्य की विशेषताओं के आधार पर बनाया गया मानदंड आधुनिक कविता के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त है। सेण्ट्सबरी ने भी इसे सौष्ठववादी समीक्षा के प्रधान

१—'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', भूमिका पृ० ८।

२—प्रसाद जी—'इन्दु' कला १, किरण १, और
'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २१।

तत्वों में से माना है ।[1]

इससे यह निष्कर्ष भी स्वभावतः ही निकलता है कि काव्य का अपने परिवेष्ठन से गहरा सम्बन्ध है। परिवेष्ठन कवि के व्यक्तित्व का निर्णायक है और काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति-मात्र है । यही कारण है कि नवीन समीक्षक भी काव्य और कवि की सामाजिक एव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करता है । सौष्ठव-वादी दृष्टिकोण के विकास के पूर्व भी ऐतिहासिक समालोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। डॉ० जानसन के पूर्व ही इस प्रकार की आलोचना के उदाहरण उपलब्ध हैं । हिन्दी में भी शुक्लजी आदि कतिपय आलोचकों ने ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ़ तत्वों का उपयोग किया है। इसके पहले मिश्रबन्धु आदि में भी इस समालोचना का पूर्वाभास मिलता है। पर सौष्ठववादी समीक्षा के विकास ने ऐतिहासिक समालोचना को भी प्रौढ़ रूप प्रदान कर दिया । पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री दिनकर आदि में इस समालोचना का जो आग्रह है, उसका श्रेय स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को ही है। इसके पूर्व साहित्य और साहित्यकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक पृष्ठभूमि का निर्वचन तो होता था, पर समालोचक परिवेष्ठन और परिवेष्ठित के गूढ और स्वाभाविक सम्बन्ध का निरूपण नहीं कर पाता था । वे एक- दूसरे से पृथक् ही प्रतीत होते थे। परिवेष्ठन ने कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है, कृति के कौन से तत्व वातावरण के सहज और स्वाभाविक परिणाम हैं, इन सब प्रश्नों का उत्तर देने की प्रवृत्ति नहीं थी । सौष्ठववादी समीक्षक ने यही प्रयत्न प्रारम्भ किया था । यह हम ऊपर कह चुके हैं कि इस समीक्षा में कला और कलाकार के व्यक्तित्व—दोनों ही का समान महत्व है । इसमें कलाकार के व्यक्तित्व का विशद विश्लेषण होता है और उस व्यक्तित्व से कला-कृति के स्वरूप का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कला-कृति की वस्तु, भाव अभिव्यंजना, शैली-सम्बन्धी विचार-धारा तथा दृष्टिकोण आदि सभी-कुछ कलाकार के व्यक्तित्व से पूर्णतः सम्बद्ध होते हैं। इसीलिए दो कवियों के व्यक्तित्व की तरह दो कला-कृतियां भी एक दूसरे

1. One period of literature can not prescribe to another. Eacn has its own laws, an if any general laws are to be put above these, they must be such a will embrace them..... Rules are not to be multiplied without necesssity, and such as may be admitted must rather be extracted from the practice of good.
"Poets and prose writers then imposed upon it." (Saintsbury: History of English Criticism P. 410.)

से भिन्न हैं। उन दोनों का ही पृथक अस्तित्व है और महत्व है। समीक्षक कला-कृति के स्वरूप के समान ही कलाकार के व्यक्तित्व की भी विशद व्याख्या करता है। वह कलाकृति के आधार पर कलाकार के व्यक्तित्व को तथा कलाकार के व्यक्तित्व के आधार पर कला कृति को समझता है। अगर वह कलाकार के व्यक्तित्व से परिचित है तो कला-कृति के तत्वों का विश्लेषण उसी आधार पर करता है। सौष्ठव-वादी यह समझाने की चेष्टा करता है कि कलाकार की जीवन-सम्बन्धी-धारणा है क्या, और इन धारणाओं के बनने के कारण क्या हैं? उसका व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी परिस्थितियां उसके जीवन-दर्शन, वस्तु निर्वचन, शैली आदि के लिए कितनी उत्तरदायी हैं? कवि के जीवन की कौन सी घटनायें किस प्रकार काव्य में परिणत हो गई, अथवा उन्होंने कवि के तत्कालीन सृजन को किस प्रकार प्रभा-किया? आदि अनेक प्रश्नों पर यह समीक्षक गहराई से विचार करने लगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह समालोचक मनोवैज्ञानिक चरित्र-मूलक और ऐतिहासिक—इन तीनों समीक्षा-शैलियों का उपयोग करता है, पर गौण रूप से ही। उसका प्रधान उद्देश्य काव्य को विशुद्ध काव्य (Pure Poetry) की दृष्टि से देखना, कला-कृति के सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूतिमय व्याख्या है। पर उसके साथ ही वह इस सौष्ठव के उद्भावक कलाकार और उसकी निर्मायक से परिस्थितियों का अध्ययन भी कर लेता है।

हिन्दी की सौष्ठववादी समालोचना के तत्वों में क्रमिक विकास हुआ है। उसने अपनी पूर्ववर्ती पद्धतियों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है और उनका विकास किया है। ऊपर जिन तीन शैलियों के विकास का निर्देश हुआ है, उससे यह स्पष्ट भी है। इनके अतिरिक्त सौष्ठव और मंगल पर आधारित मान का विकास भी स्पष्टतः ही शुक्ल जी तथा उनके पूर्ववर्ती आलोचक के भाव और कला के सौन्दर्य तथा नीति वाले मानदण्ड का विकास, परिमार्जन और विशदीकरण ही है। यही धारणा वस्तु और शास्त्र की रूढ़िवादी सीमाओं का अतिक्रमण करके सौष्ठववादी अधीनता और स्वच्छन्दता में विकसित हो गई। आरोहात्मक पद्धति में भी धीरे-धीरे विकास हुआ है। शुक्ल जी ने भी इसको अपना लिया था। इस पद्धति ने इसके अधिक विकसित और प्रौढ़ रूप को अपनाया। कहने का तात्पर्य यह है कि यह समीक्षा-पद्धति स्वच्छंदतावादी चेतना एवं पाश्चात्य प्रभाव से प्राप्त तत्वों के साथ ही अपनी पूर्व-संचित निधि को लेकर भी आगे बढ़ती है और उसे भी विकसित करती है।

हिन्दी-समीक्षा की शैलियों का विकास प्रायः समानान्तर सा रहा है। 'पल्लव' की भूमिका में सौष्ठववादी समालोचना की प्रेरणा स्पष्ट है और तब से उसका निश्चित और अविरल रूप से विकास हुआ है। पर उसके पूर्व भी इस समीक्षा के

तत्व उपलब्ध होते हैं। वे इसी के पूर्वाभास कहे जा सकते हैं। रीति-काल की काव्य और समीक्षा-पद्धति का विरोध करने में पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। सन् १६०६ में प्रसाद जी ने 'इन्दु' के सम्पादकीय में अपने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने उसी समय कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्रता और शास्त्रीय नियमों से स्वतन्त्र आलोचना के सिद्धान्तों की घोषणा कर दी। उन्होंने काव्य का परम उद्देश्य आह्लाद और सौन्दर्य-सृष्टि ही माना है। प्रसाद जी के काव्य-सृजन की प्रेरणा में भी यही विचार-धारा है। इस प्रकार उन्होंने नवीन काव्य-धारा और समीक्षा-पद्धति को सन् १६०६ में ही जन्म दे दिया। सौष्ठववादी आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ 'इन्दु' के सम्पादकीय लेखों से ही हो जाता है। बहुत दिनों तक वह प्रच्छन्न रूप में विकसित होती रही। हिन्दी-आलोचकों के अवचेतन और चेतन मन में कई वर्षों तक विकसित होने से शुक्ल समीक्षा-पद्धति के समानान्तर चलने के उपरान्त वह 'पल्लव' की भूमिका में स्वतंत्र एवं पुष्ट व्यक्तित्व के साथ व्यक्त हुई। यह स्वच्छन्द विचार-धारा हिन्दी के दूसरी पद्धति के आलोचकों को भी प्रभावित करती रही। शुक्ल जी भी इस विचार धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उनकी प्रसाद, पन्त आदि की आलोचना इसके प्रमाण हैं। तुलसी के सम्बन्ध में आरोहात्मक पद्धति को अपनाकर भी उन्होंने इसी आलोचना का आभास दिया है। शुक्ल जी की पन्त प्रसाद आदि की आलोचनाएँ लोकादर्शवादिनी, बौद्धिक विश्लेषण-प्रधान, निर्णयात्मक और वस्तु-तन्त्रात्मक होने की अपेक्षा कला-कृति और कवि के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक हैं। इनमें उनके कला पक्ष और भाव-पक्ष का शास्त्रीय वस्तुतन्त्रात्मक परिचय तो है, पर आलोचक का ध्यान इनसे मुक्त काव्य-सौष्ठव पर भी गया है। उन्होंने सौष्ठव की अनुभूतिव्यंजक व्याख्या भी की है। लेखक ने प्रसाद जी के स्वभाव और प्रकृति का भी काव्य-वस्तु से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[१]

१ —प्रसाद जी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया।.... जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस प्रियतम के संयोग-वियोग वाली रहस्य-भावना में, जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए, रमते पाये जाते हैं। प्रेम-चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं, रंगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जाती थी। इस मधुमयी प्रवृत्ति के अनन्त क्षेत्र में भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की लपक-झपक

तात्पर्य यह है कि इन आलोचनाओं में ही सौष्ठववादी आलोचना का कुछ क्षीण आभास मिलता है। अगर दब का आघात न होता तो सम्भवतः शुक्लजी का सौष्ठववादी आलोचक और भी विकसित होता। इस आलोचना पर भी उनकी प्रधान पद्धति की छाप स्पष्ट है। कहीं-कहीं उन्होंने तुलनात्मक दृष्टिकोण का भी आश्रय लिया है।[1] शुक्ल जी के परवर्ती काल के आलोचकों की पद्धति में एक दो तत्वों का ही अधिक विकास हुआ है। सब तत्वों का पूर्ण और संतुलित विकास बहुत कम हो पाया है। आगे हम कुछ आलो कों की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

प्रसाद जी—शुक्ल तथा शुक्ल-पूर्व समीक्षा-पद्धतियों के निर्माण का प्रधान श्रेय शास्त्रज्ञ पण्डितों को रहा, पर सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का स्वरूप निर्माण प्रधानतः युग चेतना एवं साहित्य-स्रष्टाओं के आत्मालोचन तथा आत्म-चिन्तन से हुआ। इस पद्धति की मूल चेतना के निर्माण का श्रेय छायावाद की बृहत्-चतुष्टयी को भी है। प्रसाद, पन्त आदि ने जो साहित्य-चिन्तन दिया है वही वह आधार भूमि है जिस पर इस सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का भवन खड़ा हुआ है। इन स्रष्टाओं के चिन्तन ने भारतीय साहित्य-दर्शन की मूल चेतना को तो साकार रूप दिया ही है, इसके साथ ही पाश्चात्य चिन्तन के प्रभाव को आत्मसात करना तथा युगबोध को स्वर प्रदान कर देना भी उनकी प्रमुख विशेषतायें हैं। इन सभी स्रोतों से प्राप्त चिन्तन-तत्वों को एक अन्वित रूप प्रदान करना उनकी अपनी मौलिकता है। काल-क्रम से इस पद्धति के सर्वप्रथम आलोचक प्रसाद जी ही हैं। 'इन्दु' में प्रसाद जी ने अपने काव्य-समीक्षा-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए थे उनसे उनका सौष्ठववादी दृष्टिकोण स्पष्ट ही है। प्रसाद जी की साहित्य-दर्शन-सम्बन्धी धारणाओं का ऊपर विवेचन हो चुका है। यहां पर हमें उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं का अधिक विस्तार से विवेचन करना है। प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी विधाओं द्वारा वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रगति में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। उनकी रचनायें केवल परिमाण की वृद्धि-मात्र नहीं हैं, अपितु साहित्य और चिन्तन को नवीन दिशा में अग्रसर करने वाले प्रौढ़ प्रयास हैं। उनकी प्रतिभा का साहित्य-स्रष्टा और

पराग-मकरंद की लूट, ऊषा के कपोल पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू के भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद् घन के सरकते अवगुण्ठन मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी।—'इतिहास' पृ० ७५६।

१—शुक्लजी—वही, पृ० ७६० : ७७४।

समीक्षक--दोनों रूपों में विकास हुआ है। प्रसादजी ने कवियों और काव्य-धाराओं की प्रयोगात्मक आलोचना भी की है। पर उन्होंने प्रधानतः सैद्धान्तिक निरूपण ही अधिक किया है। इसमें प्रसगवश किसी समीक्षा-तत्व को स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रयोगात्मक समीक्षा भी हो गई है। पर उनका प्रधान उद्देश्य सैद्धान्तिक निरूपण ही है। वस्तुतः सैद्धान्तिक निरूपण ही समीक्षा-साहित्य की ठोस प्रगति है। प्रयोगात्मक आलोचनाओं का उद्देश्य भी किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचाना ही है। जब हमें प्रयोगों द्वारा किसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है, तभी हमें अपनी प्रगति का निश्चयपूर्वक पता लगता है।

प्रसादजी साहित्य और दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे। इसीलिए उनके विवेचन में उपज्ञता के साथ ही शास्त्रीय प्रमाणिकता के भी दर्शन होते हैं। काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का जो विशद विवेचन हमारे प्राचीन आचार्यों ने किया है उसका गम्भीर अध्ययन करके प्रसादजी ने उन सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लिया था। वे उन तत्वों के अन्तस्तल की गहराई तक पहुँच चुके थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य-सिद्धान्तों में सामंजस्य तथा काव्य की मुख्य-मुख्य धाराओं का दर्शन की प्रधान-धाराओं के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है। रस का दर्शन की विचारधाराओं से सम्बन्ध बताते हुए प्रसाद जी कहते हैं : "आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होंने वहां के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु महेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पक्ष वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की।"[1] प्रसादजी ने 'रस" को आनन्दवाद तथा अलंकार, वक्रोक्ति आदि को तर्क और विवेक की उपज कहा है। इस प्रकार उन्होंने काव्य के सभी तत्वों और वादों का सम्बन्ध दार्शनिक वादों से कर दिया है। प्रसादजी ने दार्शनिक और काव्य-सम्बन्धी मतों के विकास का ऐतिहासिक निरूपण भी किया है। यहाँ पर दर्शन के विकास के साथ-साथ साहित्य के नवीन मतवाद कैसे जन्म लेते गए हैं और उनमें किस प्रकार सामजस्य स्थापित हुआ, यह प्रतिपादन करना ही प्रसादजी का उद्देश्य है।

प्रसाद जी भारतीय रस-सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक हैं। वे रस को अभेदमय आनन्द रस कहते हैं। "रति आदि वृत्तियां साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित होकर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं।"[2] उनकी आनन्द में परिणति ही काव्य का परम

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७४—७६

२—वही, पृ० ७६।

लक्ष्य है। उसे वे ब्रह्मानन्द तुल्य मानते हैं। प्रसाद जी इन दोनों आनन्दों में कोई अन्तर नहीं मानते प्रतीत होते हैं। काव्य को पूर्ण आध्यात्मिक मानने का यही तात्पर्य है। वे काव्यास्वाद को समाधि-सुख के तुल्य ही समझते हैं। अपने मत के समर्थन में क्षेमराज के विचारों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं "इस प्रमातृ पद विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोक-संस्था-आनन्द के नाम से सकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति के रूप में नियोजित था।"[1] इस प्रकार दर्शन और साहित्यिक धारा में सामंजस्य है। प्रसाद जी की दृष्टि में काव्यानन्द आध्यात्मिक आनन्द और समाधि-सुख से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं। काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की असाधारण अवस्था कहने का तात्पर्य भी रस और ब्रह्मानन्द को एक मानना ही है। उन्हें काव्य की आध्यात्मिकता पूर्णतः मान्य है। आत्मा की इस अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति 'रहस्यवाद" में ही होती है। जहाँ कहीं आत्मानन्द की यह अभिव्यक्ति होती है, उसी को प्रसादजी रहस्य-वाद मान लेते हैं, इस प्रकार वे रहस्यवाद को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं।

प्रसाद जी भारतीय रसवाद को अपनाते हुए पूर्ण सौष्ठववादी और स्व-च्छन्दतावादी माने जा सकते हैं। भारतीय रसवाद का आधुनिक स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से बिलकुल भी विरोध नहीं है। इस सम्प्रदाय ने काव्य के प्रयोजन, कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य, कवि और सहृदय में ऐक्य आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। रस-सम्प्रदाय भी काव्य का परम लक्ष्य आनन्द ही मानता है। इस आनन्द में (रस में) मगल भी निहित है। 'रसो वै स:" आदि वाक्यों से यह पूर्ण स्पष्ट है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी तो इतना मानते हैं कि इस सिद्धान्त के द्वारा जिस भावक, या आलोचक की प्रतिष्ठा होती है उसको प्रभावाभिव्यंजक (Im-pressionist) कहा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय अलंकार-शास्त्र का भावक सौष्ठववादी समीक्षक ही है। इसका विवेचन पहले हो चुका है। इस प्रकार इन दोनों सिद्धांतों में परस्पर कोई विरोध नहीं, अतः प्रसाद जी का इन दोनों में सामंजस्य मानने में अपसिद्धान्त नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इनका सामंजस्य स्थूल सामाजिकता के आधार पर नहीं, अपितु सूक्ष्म दार्शनिकता के आधार पर हुआ है।[2] पन्तजी ने पूर्ण स्वच्छन्दता की घोषणा की, पर भारतीय रस-सिद्धान्त अपनी

१—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७७।

२—रस में लोक-मगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर रसवाद में वासना-त्मकता स्थित मनोवृत्तियां, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणी-

व्यापकता के कारण ही इन आलोचकों द्वारा भी अपनाया गया। सौष्ठववादी समीक्षा से इसका विरोध न होने के कारण इसका उपयोग सभी समीक्षकों ने किया है। यह उनके मानदण्ड का एक तत्व हो गया है।

प्रसादजी काव्यानंद को प्रेय और श्रेय का सम्मिश्रण मानते हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि काव्य की स्थूल उपयोगिता अर्थात् नैतिक उपदेश, समस्याओं का समाधान, क्रान्ति का साधन आदि के रूप में अस्वीकार करते हुए ही प्रसाद जी को काव्य-प्रयोजन में श्रेय और प्रेय, आनन्द और मंगल, सुन्दर और शिवं का सामंजस्य मान्य है। भारतीय सवाद को पूर्णतः समझने वाले के लिए इन वादों का झगड़ा रह ही नहीं जाता है। वह तो इनके सामंजस्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है। यही प्रसाद जी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। पाश्चात्य सौष्ठववादी विचार-धारा भारत में आकर भारतीय रस-सिद्धान्त में एकाकार हो गई है, इसलिए इसने उन्हीं व्यक्तियों को मतान्तरों के चक्कर में डाला है जिन्होंने भारतीय विचारधारा को पूर्ण रूप से नहीं समझा है। यही कारण है कि नवीन विचारधारा भी यहां के आलोचकों को चिर परिचित-सी प्रतीत होती है। प्रसादजी, वाजपेयी जी, कवीन्द्र रवीन्द्र आदि रस का इस विचार-धारा के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। हमने ऊपर भी सौन्दर्य और मंगल के सामंजय को इस समीक्षा पद्धति की प्रधान विशेषताओं में स्थान दिया है। यहां पर यह पद्धति भी भारतीय रूप धारण कर गई है।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय समीक्षक भी अनुभूति और अभिव्यक्ति की बातें करने लगे हैं। इस शब्दावली के द्वारा जो कुछ प्रतिपादित होता है, वह भारत के लिए एकदम नवीन अथवा उपज्ञ नहीं है। लेकिन शैली और शब्दावली नई है, यह अवश्य मानना पड़ता है। प्रसाद जी ने भी अपने विचार इन्हीं शब्दों में व्यक्त किए हैं। प्रसाद जी इस वाद-विवाद में नहीं पड़ना

करण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं। इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है वही, पृ० ८६।

१—काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय के रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षणों प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण हैं।
—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ ३८

चाहते हैं कि काव्य में अनुभूति की प्रधानता है अथवा अभिव्यक्ति की। इस वाद-विवाद का लम्बा-चौड़ा विशद निरूपण उन्होंने नहीं किया है। पर उनकी चिन्तन-धारा जिस दिशा में प्रवाहित हो रही है, उससे यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी को अनुभूति की प्रधानता ही मान्य हैं। वे कहते हैं कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति हो जाती है: "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वय परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं।[1] इसमें उन्होंने अभिव्यक्ति एवं अनुभूति का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। अनुभूति की तीव्रता और सौन्दर्य अभिव्यक्ति को पूर्णतः प्रभावित करते हैं। प्रसाद जी सुन्दर अभिव्यक्ति के पीछे सुन्दर अनुभूति को आवश्यक मानते हैं। प्रसाद जी की दृष्टि से सुन्दर अनुभूति के अभाव में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य संभव ही नहीं। वे शब्द-चमत्कार, या वाग्वैचित्र्य को अनुचित महत्व प्रदान नहीं करते। पर वे इतना अवश्य मानते हैं कि असाधारण और तीव्र अनुभूति से भाषा और अभिव्यंजना में एक विशिष्ट लावण्य, विच्छित्ति और वक्रता आ जाती है।[2] प्रसाद जी आन्तरिक भावों के स्पर्शजन्य पुलक से अभिव्यक्ति में वक्रता एवं लाक्षणिकता आना स्वाभाविक मानते हैं। स्वानुभूति की विवृत्ति, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान जैसे शब्दों के प्रयोग से प्रसाद जी के चिन्तन की स्वच्छन्दतावादी चेतना तो स्पष्ट है ही इसके साथ ही प्रसाद जी के चिन्तन पर गहराई से विचार करने पर यह भी स्पष्ट है कि उनके विचारों की मूल आत्मा भारतीय है। उनके प्रतिपादन में, रस-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त आदि प्राचीन मतों का पूर्ण समन्वित रूप नवीन शब्दावाली एवं नूतन चेतना में मुखरित हो रहा है। इस प्रकार वे इन दोनों में सामंजस्य स्थापित कर रहे हैं। प्रसादजी ने अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के समन्वय को मानते हुए अनुभूति को विशेष महत्व दिया है। अनुभूति ही काव्य की आत्मा है, इसी से उन्होंने कवियों के मौलिक अन्तर को समझने के लिए भी अनुभूति का ही आश्रय लिया है। अनुभूति की भिन्नता ही उनके काव्य-स्वरूप और अभिव्यंजना-शैली की भिन्नता का प्रधान कारण है, शब्द-विन्यास अथवा वाक् पटुता नहीं। सूर को वात्सल्य-वर्णन में जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी तुलसी को नहीं। इसका कारण भी प्रसादजी अनुभूति की भिन्नता ही मानते हैं। "सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता है। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल

१—काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ४४।
२—वही, पृ० ४१।

की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतनी समीप न थी जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलायें। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की परम्परा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता की है, न्यायपूर्ण ईश्वरत्वता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति के शुद्धाद्वैतवाद की नहीं।"[1] इन पंक्तियों में लेखक ने कवि की अनुभूति तथा उसके द्वारा निर्मित विशिष्ट व्यक्तित्व का बहुत ही प्रौढ़ विश्लेषण किया है। इससे दोनों महाकवियों के काव्य की मौलिक भिन्नता का स्वरूप मूल भूत कारण सहित स्पष्ट हो जाता है। ये पंक्तियां प्रसादजी की भावयित्री प्रतिभा का प्रौढ़ उदाहरण हैं। प्रसादजी ने कवि के व्यक्तित्व के निर्मायक तत्वों अर्थात् वातावरण पर भी विचार किया है। सौंदर्य-बोध कविता की मूल प्रेरणा है। इसी को दूसरे शब्दों में काव्यानुभूति कह सकते हैं। सौंदर्य-बोध पर देश-काल का पूरा प्रभाव पड़ता है। विभिन्न देशों के सौन्दर्य-बोध के स्वरूप में इसी कारण से वैषम्य रहता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा काल विशेष सौन्दर्य बोध को प्रभावित करते हैं।[2] यह मान कर प्रसाद जी कवि के व्यक्तित्व का उसके परिवेष्ठन से सम्बन्ध स्थापित करते हैं और साथ ही समीक्षा की ऐतिहासिक पद्धति की आवश्यकता की ओर भी वे संकेत करते हैं।

पन्त जी:—पन्तजी में भावयित्री प्रतिभा की अपेक्षा कारयित्री प्रतिभा ही अधिक है। नवीन प्रकार की छायावादी कविता का जब चारों तरफ से विरोध प्रारम्भ हुआ, तो उस नवजात शिशु की रक्षा के लिए पन्त जी को आलोचना का शस्त्र ग्रहण करना पड़ा था। 'पल्लव' की भूमिका के रूप में उनका वह प्रयास हिन्दी-साहित्य के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। इस भूमिका में उन्होंने समीक्षा की नवीन विचारधारा को अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। हिन्दी में इस नवीन पद्धति का वह प्रथम प्रयोगात्मक रूप कहा जा सकता है। इस दृष्टि से इस भूमिका का आलोचना-साहित्य के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके बाद में भी पन्तजी तथा अन्य छायावादी कवि अपनी पुस्तकों के 'आमुख' लिखते रहे हैं, पर साधारणतया वे आमुख भी कविता ही होते हैं। इन आमुखों में कवियों ने अपनी विचारधारा और मान्यताएं संवेदनात्मक प्रणाली में व्यक्त की हैं। अधिकांश कवियों ने (पन्तजी ने भी) भावात्मक और कल्पना-प्रधान शैली का उपयोग किया है, जो

१— प्रसादजी : 'यथार्थवाद और छायावाद।
२—'काव्य और कला', तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ २८।

आलोचना की अपेक्षा गद्य-काव्य के अधिक उपयुक्त है। पर इन भूमिकाओं का पर्याप्त आलोचनात्मक महत्व है। ये उनकी रचनाओं को समझने में सहायक हैं अथवा यह कहना भी अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं होगा कि नितान्त आवश्यक भी हैं। काव्य-धारा के अत्यधिक वैयक्तिक हो जाने का यह भी एक परिणाम है। पन्तजी का विकास भावात्मकता से बौद्धिकता की ओर हुआ है। वे छायावाद से बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगतिवाद तथा भारतीय-साम्यवाद की ओर बढ़ रहे हैं। इसलिए उन्होंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में अपनी बुद्धिवादिता का विश्लेषणात्मक परिचय दिया है, जो उनकी कविताओं के समझने में यथेष्ट सहायक है। इसमें उन्होंने कहीं-कहीं अपनी ही कविता की मूल प्रेरणाओं को स्पष्ट किया है। यह विवेचन मूल रूप में चाहे आलोचनात्मक आत्म-परिचय हैं पर उनकी कविताओं के समझने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। ये भूमिकाएं पन्तजी के प्रौढ अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्री उपस्थित करती हैं। वर्ण्य विषय, स्वरूप, सृजन-समय की प्रेरणाएं, कवि की सहृदयता और बौद्धिकता का विकास, विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप कवि के व्यक्तित्व का विकास तथा उसका कविता से गहरा सम्बन्ध आदि ऐसी सभी बातों का आलोचनात्मक महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन भूमिकाओं से इन विषयों की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, जिसके उपयोग से मनोवैज्ञानिक, चरित-मूलक, ऐतिहासिक, सौष्ठववादी और मूल्यवादी प्रौढ़ तथा प्रामाणिक आलोचनाएं उपस्थित हो सकती हैं। पन्त आदि महाकवियों की भूमिकाओं से तो हिन्दी साहित्य को अत्यन्त प्रौढ आलोचनायें उपलब्ध हुई हैं। वैसे अधिकांश भूमिकाओं में इन सभी शैलियों के अविकसित तत्व विद्यमान हैं ही।

'पल्लव' की भूमिका यह स्पष्ट कर देती है कि कवि का प्रसुप्त आलोचक जाग उठा है। आलोचक और कवि में कोई अन्तर नहीं। Vaughan तो कहते हैं: "It is in virtue of the Poet talent in him, that the plain man has the Power to become a critic. फिर पन्तजी में तो प्रौढ़ कारयित्री प्रतिभा थी। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की बदलती हुई परिस्थितियों की ओर जो संकेत किया है, रीति-काल की काव्य-धारा की मूल प्रेरणा तथा तुलसी और सूर के महत्व का जो विश्लेषण किया है, उससे उनके भावक रूप की क्षमता भी स्पष्ट हो गई हैं। रीतिकाल की प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए पन्त जी कहते हैं: "भाव और भाषा का ऐसा शुष्क प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरा वृत्ति, अनुप्रास एवं तर्कों की ऐसी अश्रान्त

१—'पल्लव' की भूमिका पृ० ८।

उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है।"[1] इन पंक्तियों में रीति-काल की विशेषताओं का परिचय तो है पर आलोचक के लिए अपेक्षित सहानुभूति का अभाव है। इन प्रवृत्तियों के कारणों की उद्भावना अपेक्षित थी, हेयता की व्यंजना नहीं। संभवतः आलोचना में क्रांति उपस्थित करने के लिए पन्तजी को यह आवश्यक प्रतीत हुआ।

स्वच्छन्दतावादी समालोचक काव्यधारा की मूल प्रेरणाओं का अध्ययन करना चाहता है। पन्त जी ने भी अपना यही उद्देश्य बताया है: "पर मेरा उद्देश्य केवल ब्रजभाषा के अलंकृत-काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत् चुम्बक की ओर इंगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युगकी अधिकांश शक्ति और चेष्टाएँ काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई हैं।"[2] पन्तजी ने सूर-तुलसी का सांस्कृतिक महत्व भी माना है। इस प्रकार वे काव्य की स्थूल उपयोगिता में विश्वास न करते हुए भी जीवन और साहित्य का सम्बन्ध मानते हैं। 'आधुनिक कवि' परवर्ती रचनाओं की भूमिकाओं में तो वे इस सम्बन्ध को और भी दृढ़तर मानने लगे हैं। पन्तजी साहित्य को मानव के भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक रूप के समन्वयवादी विकास का साधन मानते हैं। 'उत्तरा' 'लोकायतन' आदि इसी दृष्टिकोण का साहित्य दर्शन है।

पन्तजी का भाषा-सम्बन्धी आलोचना की ओर भी ध्यान आकृष्ट हुआ है। उसमें स्वच्छन्दतावादी एवं सौष्ठववादी चेतना अत्यन्त स्पष्ट है। लेखक शब्दों के अर्थ की अनुभूति, उनका साक्षात्कार करना चाहता है, वह शब्दों के अर्थ बुद्धि से ग्रहण न करके हृदय से ग्रहण कर रहा है। कवि के लिए तो यह आलोचक से भी अधिक अपेक्षित है। शब्दार्थ के इसी साक्षात्कार के फलस्वरूप पन्त भाव और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं: "भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है; जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गए हों, छुड़ाये न जा सकते हों।" ये अलंकार आदि को वाणी की सजावट न मानकर अभिव्यक्ति के विशेष द्वार कहते हैं। पन्तजी की काव्य परिभाषा का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकार उनकी सारी विचारधारा ने नवीन समीक्षा-पद्धति के प्रवर्त्तन में बहुत सहयोग प्रदान किया है। यही इन भूमिकाओं का महत्व है। पन्तजी ने छायावादी काव्य-चेतना का बदले हुए परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है। प्रगतिवादी समीक्षा को भी सम्प्रदायवाद से ऊपर उठाकर स्वस्थ एवं भारतीय स्वरूप धारण करने की प्रेरणा दी है।

१—'पल्लव' की भूमिका, पृ० ८। २—वही पृ० ६

महादेवी जी:—महादेवी जी ने अपने कविता-संग्रहों की भूमिकाओं तथा फुटकर लेखों में अपने आलोचक रूप को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने साहित्य-दर्शन और काव्य की गति-विधि पर विचार किया है। वे काव्य को रहस्यानुभूति मानती हैं: "सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है, और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त। इसी के, साधन के परिचय स्निग्ध, स्वप्न रूप से साध्य की विस्मय भरी अखंड स्थिति तक पहुंचने का क्रम आनन्द की लहर-लहर पर उठता हुआ चलता है।" इस उद्धरण से सुश्री महादेवी ने कविता में सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का सामंजस्य स्पष्ट कर दिया है। ऐसा काव्य उपयोगिता के स्थूल विधि-निषेधों से ऊपर उठकर चरम मंगल को अपना लक्ष्य बनाता है, जिसमें सौन्दर्य का भी सामंजस्य है। कविता का यह दृष्टिकोण बुद्धिवाद की जड़ता से अभिभूत नहीं अपितु रस के माधुर्य से परिप्लावित है। महादेवी जी के काव्य-सम्बन्धी विचार बहुत कुछ रवीन्द्र से मिलते हैं। उनकी दृष्टि से काव्य का आनन्द ऐन्द्रिकता की परिस्थितियों का अतिक्रमण करके पूर्ण मंगलमय हो जाता है। महादेवी जी पूर्ण सामंजस्य और संतुलन की ओर बढ़ती हुई प्रतीत हो रही हैं, पर अभी कहीं-कहीं वे स्थूल नैतिकता का आभास भी दे जाती हैं।

सुश्री महादेवी जी ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर भी विचार किया है। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद की स्वच्छन्दता, सर्ववाद, करुणा-व्यापक चेतना पर अपनी व्यष्टि का आरोप, अमूर्त्त और मूर्त का सामंजस्य, प्रकृति को प्रधान भावभूमि के रूप में ग्रहण करना, कवि का अन्तर्मुख होना आदि विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी आलोचक-दृष्टि कितनी तीव्र है। महादेवी जी ने इन काव्य-धाराओं के ऐतिहासिक विकास का भी निरूपण किया है। महादेवी जी की प्रधान देन प्रयोगात्मक आलोचना नहीं, अपितु साहित्य-दर्शन की सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य वाली व्याख्या है। यही व्याख्या प्रसाद जी ने की है, पर वह शास्त्रीय और बुद्धिवादी अधिक है, जबकि महादेवी जी में स्वानुभूति की प्रधानता है, इसलिए इनकी शैली सर्वत्र ही भावात्मक है।

निराला जी:—स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण और छायावादी कविता के अग्रगण्य कर्णधारों में निराला जी भी प्रमुख हैं। छन्द, भाव और वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में जैसा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण इन्होंने अपनाया वैसा पन्त और प्रसाद भी नहीं अपना सके। इन्होंने सब प्रकार के बन्धनों का तिरस्कार कर दिया। इनके इस स्वच्छन्द स्वभाव के कारण इनकी बहुत अधिक कटु और तीव्र आलोचनाएं भी हुईं। यहाँ तक कि छायावाद के प्रारम्भिक काल में तो बहुत-से छायावादी कवि

और नवीन विचारक भी उनकी शैली और काव्य-पद्धति का पूर्ण समर्थन करने में असमर्थ रहे। निराला जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाएं सौष्ठववादी हैं और इस धारणा के तात्विक विकास में इन्होंने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसका ऊपर निर्देश हो चुका है। ये काव्य को सूक्ति और उपदेश से भिन्न मानते हैं। सूक्तियों के रचयिता को तो निराला जी भांड कहते हैं। वे काव्य को सौन्दर्य की सृष्टि मानते हैं तथा कला और काव्य का प्रायः समान अर्थ में ही प्रयोग करते हैं। कला को अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए वे (निराला जी) रस आदि तत्वों का इसी में अन्तर्भाव कर देते हैं। उन्हें तत्वों की समष्टि, समन्वय और काव्य का सौन्दर्य मान्य है: "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आंखों की पहचान की तरह, देह की क्षीणता-हीनता में तरंग-सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई।"[1] काव्य के इन तत्वों के समन्वय का इन्होंने कई स्थानों पर निर्देश किया है। समन्वय का यह निर्देश स्पष्ट करता है कि निराला जी काव्य-तत्वों के केवल स्थूल और बाह्य रूप तक ही नहीं हैं, अपितु वे उनके अन्तस्तल की गहराई तक पहुँचे हैं। वे काव्य के उस स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं, जिसकी दृष्टि से इन सभी तत्वों में समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। यही कारण है कि निराला जी अश्लीलता के स्थूल दृष्टिकोण को अपनाकर आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली कविता से नाक-भौं नहीं सिकोड़ते। अगर उसके अन्तःस्तल में काव्य का दिव्य स्वरूप झलकता है तो वे उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

निरालाजी की प्रयोगात्मक आलोचनाए यह स्पष्ट करती हैं कि उनके मूल्यांकन का एक मात्र मानदण्ड सौन्दर्य है। वे कविता में कला-सौष्ठव देखना चाहते हैं। इन्होंने विद्यापति और चन्डीदास की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसी को मानदण्ड माना है और विद्यापति की कुछ तथाकथित अश्लील कविताओं के गूढ़ सौन्दर्य का उद्घाटन किया है। ऐसे स्थलों पर निरालाजी स्वयं मुग्ध हुए हैं और उन्होंने पाठकों को भी मुग्ध किया है। वे विद्यापति के रचना-सौन्दर्य का विशेष निरूपण करते हैं। उनका ध्यान नायक की विविधता, भावना के प्राधान्य तथा भावना और वर्णन के समन्वय पर अधिक गया है। विद्यापति और चण्डीदास पर लिखते समय लेखक ने उनके छन्दों को उद्धृत करके उन पर

१— प्रबन्ध-प्रतिमा, पृ० २७५।

भावात्मक तथा अनुभूतिमय शैली में व्याख्या की है। निराला जी उनके सौन्दर्य-तत्वों का उद्घाटन करते हुए स्वयं उन पर मुग्ध होते जाते हैं : "उनकी उक्तियां वैसे ही चमक रही हैं जैसे प्रभात की रश्मि से पत्रों के शिशिर-कण अपने समस्त रंगों को खोल देते हैं। विद्यापति की पंक्तियों का अर्थ बहुत साफ है। अभिसार के समय राधिका की भावना इतनी पवित्र है कि जड़ भूषणों की ओर उनका ध्यान बिलकुल नहीं रहता, बल्कि भूषण भार से मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें निकाल कर फेंक देती हैं। कितना सुन्दर कहा है: 'ते थल मनिमय हार, उच कुच मानय भार'—कुचों में सजीवता ला दी है।"[१] इन पंक्तियों में स्पष्ट है कि निराला जी वर्ण्य विषय की अश्लीलता के कारण कविता की निन्दा करके स्थूल दृष्टिकोण को आश्रय नहीं देते। उनकी सहृदयता उसके अभिव्यंजना-कौशल और भाव-सौष्ठव का रसास्वाद कर लेती है। आलोचना में कहीं-कहीं निराला जी ने तुलनात्मक और निर्णयात्मक तत्वों का भी उपयोग किया है। ऐसा विवेचन पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली का स्मरण करा देता है। लेकिन शर्मा जी की तरह निराला जी वाह-वाह की शैली को दाद नहीं देते, अपितु छन्दों के भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं। प्रशंसा तो उस विवेचन से अपने-आप व्यंजित हो जाती है। 'बंगाल के वैष्णव कवियों का शृंगार-वर्णन' नामक निबन्ध इसी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्लीलता के व्यापक दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए निराला जी कहते हैं : 'नग्न सौन्दर्य की ज्योति में अश्लीलता की जरा भी स्याही नहीं लग पायी है क्योंकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नंगा नहीं करती, पवन के झकोरे से उसका वदन नंगा हो जाता है। एक ओर है उसकी विवश लज्जा, जहाँ तक दूसरे सौन्दर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर है उसके नवीन यौवन से सुदृढ़ झलकते हुए अंगों की आनन्द द्युति।"[२] इन उद्धरणों से निराला जी की विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से मूल्यांकन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। वे सौष्ठव के साक्षात्कार एवं मूल्यांकन को ही काव्य की वास्तविक समीक्षा मानते हैं। वाजपेयी जी के समीक्षक रूप की प्रशंसा करते हुए निराला जी ने उनमें सौष्ठव के विवेचन का वैशिष्ट्य देखा है।

निराला जी ने कवि के व्यक्तित्व तथा कविता की अन्तःप्रवृत्तियों और विशेषताओं का भी निर्देश किया है। 'जूही की कली' नामक अपनी कविता की कवि ने स्वयं आलोचना की है। इसमें उन्होंने उसके गूढ़ार्थों को स्पष्ट किया है। उसमें जो ध्वन्यात्मकता है, जो गूढ़ तत्व व्यंजित हैं, उनका विश्लेषण और उद्घाटन

१—प्रबन्ध-प्रतिमा, पृ० १६९-१७०।
२—प्रबन्ध प्रतिमा, पृ० १२३।

है। यह उनकी सौष्ठववादी व्याख्या है। इसमें उन्होंने रस, अलंकार आदि तत्वों का निर्देश करके सौन्दर्य पर स्थूल दृष्टि नहीं डाली है, अपितु उसकी सूक्ष्म हृदय-स्पर्शिता का भी विश्लेषण किया है। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि कविता में स्थूल उपदेश की प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं, सौन्दर्य स्वयं ही उपदेश का रूप धारण कर गया है। निराला जी ने छायावाद में अन्तर्निहित गहन शक्ति का भी विवेचन किया है। ऐसे स्थानों पर उनकी शैली में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता हो जाती है। निराला जी के आलोचनात्मक निबन्ध प्रौढ़ सौष्ठववादी समीक्षा के उदाहरण हैं। उनमें प्रभावाभिव्यंजक, अभिव्यंजनावादी, और तुलनात्मक शैलियों के तत्व भी विद्यमान हैं। इस प्रकार इन सभी शैलियों का सामंजस्य हो गया है।

पं॰ नन्ददुलारे वाजपेयी:—स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के प्रधान प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी समालोचक के रूप में हिन्दी-साहित्य वाजपेयी जी से परिचित है। वाजपेयी जी ने द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया था। इनकी समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। ये प्रारम्भ से ही समालोचना के नवीन दृष्टिकोण के समर्थक रहे हैं। उस काल की निर्णयात्मक और स्थूल तुलनात्मक समालोचना के, जिसमें प्राय: समालोचक राग-द्वेष से प्रभावित होकर कवि की अनुचित निन्दा-स्तुति किया करते थे, वाजपेयी जी प्रारम्भ से ही विरोधी थे। वे समालोचक का कार्य तटस्थ और पक्षपात-शून्य होकर सौन्दर्य का अध्ययन करना ही मानते रहे हैं। संवत् १९८५ में मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित 'साहित्य-समालोचक' में इन्होंने 'सत्समालोचना' नामक निबन्ध लिखा था। इसमें उन्होंने द्विवेदी-दल और मिश्रबन्धु-दल की चर्चा की है। इनका अभिप्राय आलोचकों की दलबन्दी से है। इसी लेख में इन्होंने वाल्टर पेटर और एडीसन आदि के आलोचना सम्बन्धी विचार उद्धृत किये हैं।"[1] और उसी प्रकार की समालोचना के लिए आलोचकों से आग्रह किया है। इन दोनों उद्धरणों को देने का एक-मात्र तात्पर्य यह दिखाना है कि वे प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दता और सौष्ठव का आदर्श मानकर चलते हैं। इनके मत में सौष्ठव का तटस्थ उद्घाटन ही समीक्षा का उद्देश्य है। परवर्ती काल में उनके आलोचक-रूप का विकास इसी आदर्श पर हुआ है।

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतियां समानान्तर होते हुए भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार उनका

1. To peep beauty, to detach beauty and to express beauty is true criticism (Waltor Pater.) Criticism is a disinterested endevour to learn and propagate the best that is known and thought to the world. (Addition)

विकास होता रहता और कभी-कभी दोनों मिलकर एक नवीन तीसरी धारा में परिणत भी हो जाती हैं। हिन्दी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदी जी, मिश्रबन्धु आदि की प्रणालियों का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन प्रौढ़ और शास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा-सम्बन्धी, निर्णयात्मक, तुलनात्मक नीतिवादी आदि पद्धतियां एक दूसरे के कुछ समानान्तर चलीं, लेकिन शुक्ल जी में इन सबने मिलकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसादजी आदि में जिस स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा का विकास हो रहा था, उसने शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति से आदान-प्रदान किया, भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। यह कलाकार और कला-कृति में सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्लेषणात्मक नवीन समीक्षा-पद्धति के रूप में विकसित होगई। इस प्रकार इस पद्धति ने शुक्ल जी की प्रगति का पूरा उपयोग किया। उनकी शैलियों को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति में इस सामंजस्य की अवस्था के दर्शन होते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढ़कर पूर्णत: निगमनात्मक (Inductive) कर दिया, उनके वर्ण-व्यवस्था वाले नीतिवादी दृष्टिकोण को कल्याण और लोक-मंगल में बदल दिया। साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण और संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य संवेदनीयता से सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। रस की यह व्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित थी, यह हम प्रसाद जी के प्रसंग में कह चुके हैं। वाजपेयी जी की उपज्ञता तो इसको ग्रहण करने में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयीजी शुक्लजी की अमूल्य निधि को लेकर जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढ़ते हैं और हिन्दी-साहित्य में नवीन अध्याय प्रारम्भ करते हैं। इस अध्याय का उपक्रम तो प्रसाद जी में बहुत पहले ही हो चुका था। पन्त, निराला, पं० इलाचन्द्र जोशी, गंगाप्रसाद पाण्डेय, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि अनेक व्यक्तियों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। पर इसका पूर्ण विकास वाजपेयी जी में ही मिलता है। आज फिर हिन्दी-साहित्य में समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐतिहासिक, प्रगतिवादी, फ्रायडवादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभी शैलियां कुछ दूर तक सामान्यत: पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर मिल रही हैं, इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी-समीक्षा की विभिन्न शैलियां एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई समानान्तर चलती हुई, कभी मिलकर मोटी धारा बनाती हुई फिर पृथक्

होती हुई आगे बढ़ रही हैं। यही प्रगति का लक्षण है। अन्य पद्धतियों की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन और विकास हुआ है, और हो रहा है। इस समन्वय का सब से अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है। इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से आगे की अवस्था मानी जा सकती है।

वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। प्रयोगात्मक आलोचना में प्रासंगिक रूप से जितने विवेचन की आवश्यकता हुई है उतने के आधार पर ही उनको काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण करना पड़ता है। उन्हें भारतीय रसवाद का सिद्धान्त मान्य है। उन पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने इसकी व्याख्या शास्त्र के भारतीय साहित्य-रूढ़ शब्दों में नहीं की है। वस्तुत: वे काव्य में हृदयस्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। अलौकिकता एवं ब्रह्मानन्द सहोदरत्व का जो अर्थ प्राचीन आचार्यों ने लिया था, उसी अर्थ में इनके खण्डन की आवश्यकता नहीं है। पर इस युग ने इनका जो अर्थ ले लिया था उसी का ग्रहण वाजपेयी जी ने भी किया और उससे सहमत होना उनके लिये सम्भव नहीं था। जैसे छायावाद ने काव्यानुभूति को आध्यात्मिकता का सिद्धान्त माना है पर वाजपेयी जी भावुकता में बहने वाले समीक्षक नहीं हैं। वे सौष्ठववादी चिन्तक हैं। वे साहित्य को जीवन निरपेक्ष रूप में नहीं देखना चाहते हैं इस प्रकार उनमें उदार प्रगतिवादी दृष्टि भी है। यही कारण है उन्होंने कहा है कि रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है।[1] उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई है और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धांत को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। इसके लिए वे उसमें पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत और प्रणालियों का आकलन अत्यधिक आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार से रस साहित्य-मात्र की समीक्षा का मानदण्ड हो सकता है। इस सब का तात्पर्य केवल रस को वेद्यांतर-संस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानन्द सहोदरत्व आदि विशेषणों द्वारा प्राप्त सीमित अर्थ से मुक्त करके केवल उसे आह्लादकता का सूचक मानकर भाव, रसाभास, भावाभास, अलंकार-ध्वनि, वस्तु ध्वनि आदि सबके आनन्द का प्रतीक मानना और कला-मात्र के आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है। रस की अलौकिकता की आड़ में बहुत से

१—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ६७।

असाँस्कृतिक चित्र उपस्थित किए गए हैं तथा रस की परिधि को इन विशेषणों से संकुचित कर बहुत सा सत्साहित्य भी उपेक्षित हुआ है। इसलिए रस के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि संवेदनीयताजन आह्लाद को आनन्द मानने की प्रवृत्ति है। वाजपेयी जी के रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं। वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं अभिव्यंजना को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं : "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सीधा सम्बन्ध सौंदर्य-प्रकाशन से है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजना के अनावश्यक महत्व का ही विरोध करते हैं। अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामन्जस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य हैं। उनकी यह मान्यता उनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलंकारों को रस-सिद्धि का साधक मात्र मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सर्वमान्य है। अलंकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बधे हुए प्रकारों से ही प्रतीत होता है, शब्द की भंगिमा से नहीं; जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्व है। वाजपेयी जी का कहना है कि "कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुंचकर अलंकार-विहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुंचकर अलंकार-विहीन हो जाती है वहां वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहां बह जाते और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।"[2] वाजपेयी जी तो यहां तक कहते हैं : "इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी।"[3] अलंकार-शास्त्र ने काव्य-तत्वों और कवि-कर्म की जो बंधी हुई प्रणाली बताई है, उसके सम्बन्ध में यह धारणा सर्वथा समीचीन है। पर अभिनवगुप्त आदि ने इन्हें जिस व्यापक अर्थ में ग्रहण किया हैं वहां इनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वहां अलंकार कवि-प्रयत्न-सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अंश हो जाते हैं। आलोचक भी इनमें आह्लाद की वृद्धि की क्षमता देखता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतः सौष्ठववादी है,

१—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृ० ६८।
२—वही, पृ० ५८
३—वही, पृ० ६६।

जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामन्जस्य-मात्र है। उनके अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनवगुप्त आदि के मतों से भी पूर्ण सामंजस्य है।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नहीं है। वे काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नहीं है पर वे काव्य पर नैतिक सिद्धान्त का नियन्त्रण परोक्ष ही मानते हैं। उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचार-धारा का साहित्य की उत्कृष्टता से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध उन्हें बिलकु मान्य नहीं है। फिर भी वे काव्य के सम्बन्ध में उठाये गए श्लील-अश्लील के प्रश्न की नितान्त अवेहलना नहीं करते हैं। उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील हो ही नहीं सकता। पर उनकी श्लील और अश्लील-सम्बन्धी धारणाएँ रूढ़ नहीं हैं। वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं, धम-शास्त्र की सीमित परिभाषाओं के आधार पर नहीं। "मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूपों में यदा-कदा श्लील-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्ति काल में ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक अस्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।"[१] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निरुद्देश्यता के समर्थक नहीं हैं। वे विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना ही साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते हैं। साहित्य में निर्बल भावनाओं का चित्रण केवल अपर पक्ष के लिये ग्रहण करना चाहिए। उसी को आदर्श मान लेना साहित्य के उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश-वृत्ति को भी साहित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीवन-संदेश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनाएँ भी साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं।"[२] काव्य-शास्त्र के तत्वों से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।"[३] उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदण्ड हैं।"[४]

प्रयोगात्मक आलोचनाओं में वाजपेयी जी का ध्यान कलाकार के मनोभावों

१—हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, भूमिका भाग, पृ० २३।
२—जयशंकर प्रसाद, पृ० २४-२५।
३—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ७४।
४—जयशंकर प्रसाद, पृ० ११-१२।

और व्यक्तित्व के विकास की ओर ही अधिक आकृष्ट हुआ है। कलाकार की अन्तःप्रेरणा और चिन्तन-धारा का अनुसंधान एवं विश्लेषण उनकी समीक्षा के मूल तत्व हैं। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामाजिक परिस्थितियों तथा दार्शनिक विचार-धाराओं का भी वे निरूपण करते हैं। वे कला-कृति और कलाकार के व्यक्तित्व तथा जीवन की प्रक्रिया में भी समन्वय स्थापित करने में सफल हुए हैं। वाजपेयी जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि लेखक को अपने व्यक्तित्व को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने में कितनी सफलता प्राप्त हुई है और कला-कृति पाठक के हृदय को कितना स्पर्श कर सकी है। वाजपेयी जी अपने दृष्टिकोण को स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'साहित्य के मानसिक और कलात्मक-उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूं।'[1] वाजपेयी जी की आलोचनाओं की दो ही प्रधान विशेषताएँ हैं--कलाकार की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन तथा कला-कृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन करते समय वे काव्य के बाह्य स्वरूप, अलंकार, शैली आदि पर भी विचार कर लेते हैं। पर प्रधानतः उनका ध्यान रस अथवा काव्य के अनुभूति पक्ष पर ही रहता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी शुक्ल जी से भिन्न पथ का अनुकरण करते हैं। वे यह भी निर्देश नहीं करते कि प्रस्तुत पद में अमुक रस या रसाभास है। पर यह देखने की चेष्टा करते हैं कि यह रसानुभूति कितनी छिछली अथवा सौम्य है, इसकी अभिव्यंजना सशक्त है अथवा निर्बल और सामाजिक जीवन पर इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी।[2] इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना पहले से कुछ भिन्न पथ का अनुसरण कर रही है। कलाकार के व्यक्तित्व की अन्तःप्रेरणाओं का अध्ययन करते समय उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी वे विचार करते हैं, पर यह विवेचन अपेक्षाकृत गौण ही रह जाता है। साहित्य में जीवन की प्रेरणा कितनी सबल है, इसकी ओर तो वाजपेयी जी का ध्यान बहुत ही कम गया है। लेकिन वे इसका अध्ययन करना अवश्य चाहते हैं। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि कलाकार के व्यक्तित्व तथा कलात्मक सौष्ठव के अतिरिक्त आलोचना सम्बन्धी अन्य प्रश्नों पर उनका ध्यान क्रमशः कम होता गया है और जीवन-संदेश वाले सूत्र को तो उन्होंने सबसे अन्त में गिनाया है।[3] कवि की दार्शनिक और सामाजिक विचारधाराओं पर भी गौण रूप से ही विचार

१—हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी, पृ० २९।
२—वही, पृष्ठ ५६। ३—वही, पृष्ठ २७।

हुआ है। महाकवि सूर की दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता पर सौष्ठववादी नवीन शैली में अनुभूति के सौष्ठव एवं गहराई का साक्षात्कार करने वाली तत्वस्पर्शी व्याख्या से वाजपेयी जी ने इस अभाव की भी पूर्ति कर दी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति एक प्रकार से सर्वांगीण है। उसमें कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति और अभिव्यक्ति के सौष्ठव के साथ ही चरित्र-चित्रण, वस्तु, काव्य-शैली आदि पाश्चात्य तत्वों पर भी विचार हुआ है। वाजपेयीजी कला और कलाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा दार्शनिक चिन्तन का आलकन करते हुए कला-वस्तु और कलाकार के जीवन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद' 'सूर-संदर्भ की भूमिका' 'आधुनिक साहित्य', 'महाकवि सूरदास' 'नया साहित्य नये प्रश्न'—ये वाजपेयी जी के प्रधान समीक्षा-ग्रन्थ हैं। प्रथम रचनाओं में तो वाजपेयी जी प्रधानतः कलाकार की अन्तःवृत्तियों का अनुसधान करते हैं और उनका कला-कृति से समवन्य स्थापित करते हैं। कहीं-कहीं कलात्मक सौष्ठव और कवि की चिन्तन-धारा का भी विश्लेषण हो जाता है। 'जयशंकर प्रसाद' में 'कामायनी' की कथा-वस्तु और भाव-विन्यास की भी अनुभूतिमयी व्याख्या है। आलोचक ने प्रसादजी के दार्शनिक विचारों का भी अध्ययन किया है। 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में तो प्रधानतः उनका ध्यान कवि की अन्तर्वृत्तियों के विश्लेषण की ओर ही रहा है। पर 'सूर-सदर्भ' की भूमिका में आलोचक पूर्ण सौष्ठव-वादी हो गए हैं। कलाकार के व्यक्तित्व तथा अन्तःवृतियों की ओर उनका ध्यान उतना ही आकृष्ट हुआ, जितना कि भाव-सृष्टियों की मौलिक विशेषताओं के उद्घाटन के लिए अनिवार्य था : 'कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना होगा और अन्ततः कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है।"[1] इस भूमिका में आलोचक ने सूर-साहित्य के गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है। वे इन पदों के अन्तस्तल में पैठकर उनके तन्मय करने वाले भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र का समन्वय स्पष्ट देख लेते हैं। इससे वे सूर की उच्च प्रतिभा का स्पष्ट परिचय देते हैं। सूर के पदों को केवल मुक्तक रचना मानकर हृदय को सतोष-सा ही नहीं होता है। सहृदय पाठक का मन वास्तविक सौंदर्य की तह में पहुँच कर भावानुभूति की असीम तल्लीनता का अनुभव नहीं कर पाता। मुक्तक और प्रबन्ध के भेदों पर आश्रित आलोचना से उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कवि के सौन्दर्य का बहुत ही हल्का-सा आभास ग्रहण कर पाया है। पाठक को स्वयं आत्म-तृप्ति नहीं हो पाती।

१—'सूर-संदर्भ', पृ० २४

वाजपेयी जी की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने उस भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन किया है जिसमें पाठक तल्लीन होकर आह्लाद से उछल पड़ता है। मुझे तो इस आलोचना के पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानों जिस भाव-सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास सहृदय पाठक को कभी-कभी होता है उसका विशद और स्पष्ट अनुभूतिमय निरूपण करके आलोचक ने एक अस्पष्ट मानसिक आकांक्षा की परितृप्ति की है। अस्पष्ट आभास के स्पष्ट अनुभूति और साक्षात्कार के फलस्वरूप पाठक आह्लाद से उछल पड़ता हैं। यहां पर वाजपेयी जी को स्पिनगार्न के शब्दों में Interpreter between the inspired and the uninspired. कह सकते हैं। यह वाजपेयी जी की ही सूक्ष्म दृष्टि है जिसने सूर के पदों में भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र के समन्वय को एक साथ देखा है। रूप-सौन्दर्य और कथा-सूत्र के विचित्र सम्मिश्रण का भी वाजपेयी जी ने उद्घाटन किया है। इस उत्कृष्ट भाव-व्यंजना और कौशल को प्रत्यक्ष कर लेने के बाद पाठक कलाकार के व्यक्तित्व पर मुग्ध हो जाता है। भाव-सौन्दर्य, रचना-चातुरी, कलाकार की मौलिक उद्भावना और कौशल पर सहज ही मुग्ध हो जाने के कारण इस आलोचना की शैली में अनुभूति-व्यंजकता और एक स्वाभाविक लालित्य आ गया है। आलोचक की निर्णयात्मक प्रवृत्ति न होते हुए भी कवि पर मुग्ध होकर मानो प्रशंसा के प्रवाह में उसका भावाक्षिप्त हृदय बह उठा है: "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएं, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गो-चारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक हैं। किन्तु उन कथाओं को भी सजाकर भाव-गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं, अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं।"[1] लेखक ने कृष्ण के व्यक्तित्व की कल्पना का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया है। वे व्यक्तित्व के विकास के कारणों का भी उद्घाटन करते गए हैं। शुद्धाद्वैतवाद और भक्ति के सिद्धान्तों के अनुरूप कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास करना ही सूर को अभिप्रेत था। इसीलिए सूर उसी आदर्श पर कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास दिखाते हैं। आलोचक की तीव्र दृष्टि उसके इस रूप के उद्घाटन में सफल हुई है। सूर स्वाभाविकता में अलौकिकता के दर्शन कराना चाहते थे। कृष्ण के व्यक्तित्व की यही कुञ्जी है, पर उसमें अलौकिकता का उतना ही आभास है जितना माधुर्य की अनुभूति के लिए अपेक्षित था। ऐश्वर्य

१—सूर सन्दर्भ, पृ० १५

के हल्के-से आभास से सम्पन्न कृष्ण का व्यक्तित्व ही शुद्धाद्वैतवादी भक्ति के उपयुक्त हो सकता था। वाजपेयी जी का तलस्पर्शी आलोचक ही इसकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है : "कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी संभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतना गहरा वह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े। यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हल्की आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है। बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य-निर्लिप्त दीख पड़ती है।...पाप-पुण्य-निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती। अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रछन्न काव्य-वर्णन का अंग बनकर आया है, यही सूरदास की विशेषता है।"[1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कलाकार के व्यक्तित्व, कलात्मक सौष्ठव और उन दोनों के समन्वय का उद्घाटन करना वाजपेयी जी की शैली की प्रधान विशेषता है। आलोचक कितनी गहराई में जाकर कवि के भाव-सौष्ठव और चरित्र-कल्पना की उच्चता तथा महत्ता का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है एवं अपनी अनुभूतिमयी शैली से उसका उद्घाटन करके पाठकों को भी आह्लादित होने का अवसर प्रदान करता है। आलोचक सौन्दर्य का मूल्यांकन कर रहा है, पर केवल इंगित शैली में।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सौष्ठववादी समालोचक भावों की असीमता और अनन्तता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ़ क्षमता और भाव पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की असीमता, अथवा विराट् भावना (Sublimity) का उद्घाटन करता है, वह स्वयं तो असीम अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करता ही है साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव-भूमि में ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य में इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक जाने का प्रयत्न करते हैं। ऊपर सूर के भाव-सौंदर्य के चित्रण में वाजपेयी जी ने इस गम्भीर पद्धति का अनुसरण किया है। भावों की असीमता की अनुभूति और चित्रण में आलोचक को जिस विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है, उसी का थोड़ा आभास नीचे की पंक्तियों में मिलता है। लेखक की इन पंक्तियों में पाठक के हृदय में अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस असीमता का अनुभव कराने का सफल प्रयास है : "रास के वर्णन में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल 'श्रीमद्भागवत' की अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन्

१—सूर संदर्भ, पृ० १५-१६

वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्जवल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो लज्जा, गोपियों-का-जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रियकरण दिखाया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बंधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किए गए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।' [1]

वाजपेयी जी में हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। हिन्दी की सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति में स्वच्छन्दता एवं सौष्ठव -- दोनों की दृष्टियों का पूर्ण-समन्वय है। समीक्षक अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा उसके मूल में रहने वाली ध्वनि के समन्वित सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। समन्वय की इस स्थिति में अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों ही अपनी रूढ़िग्रस्तता एवं परम्परामुक्तता की जड़ कारा से मुक्त होकर, स्वच्छन्द होकर जिस सौष्ठव को व्यंजित करते हैं, उसीका अनुभूतिमय साक्षात एवं मूल्यांकन सौष्ठववादी समीक्षक का प्रधान प्रयोजन है। वह उस स्वच्छन्दता को अपने आप में साध्य नहीं, साधन मानता है। साध्यता है सौष्ठव। अनुभूति और अभिव्यक्ति का सहज सौष्ठव उभर कर ऊपर आ सके, सहृदय श्लाघ्य बन सके, यही इस स्वच्छन्दता का प्रयोजन है। इस स्वच्छन्दता के बिना सौष्ठव कुंठित ही रह जाता है। इस प्रकार सौष्ठववाद में स्वच्छन्दतावाद साधन या कारण रूप में अन्तर्हित है। वाजपेयी जी ने द्विवेदी युग तथा शुक्लजी के प्रबन्ध-काव्यवाद, मर्यादावाद और नैतिकतावाद से हिन्दी समीक्षा को मुक्त करने के लिए जिस स्वच्छन्दतावाद का प्रश्रय लिया वह वस्तुतः काव्य मात्र के सहज सौष्ठव, प्रगीत के सहज सौन्दर्य (प्रगीतों का युग आ गया था) के साक्षात्कार एवं साहित्यिक-मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही है। वाजपेयी जी साहित्य को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से भी आंकते हैं। पर वहां भी वे साहित्य के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सौष्ठव का भावात्मक साक्षात्कार ही कराते हैं। यही उनका मूल्यांकन है। साहित्य-समीक्षक का प्रकृत स्वरूप भी यहां है। वाजपेयी जी स्वयं आलोचना को साहित्यिक सौंदर्य को स्पष्ट करने का साधन ही मानते हैं। निराला जी ने भी उनकी समीक्षा-पद्धति का मुख्य सौन्दर्य साहित्यिक-सौष्ठव का परीक्षण माना है। काव्येतर भावों की अपेक्षा विशुद्ध काव्य की दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन ही साहित्य समीक्षा का प्रकृत स्वरूप है। वाजपेयी जी का समीक्षक प्रमुखतः विशुद्ध

१—सूर सन्दर्भ, पृ० २६

काव्य (pure poetry) की दृष्टि से मूल्यांकन की ओर अभिमुख रहा है।

वाजपेयी जी की आलोचना पूर्णतः निगमनात्मक और इंगित शैली की कही जा सकती है। उन्होंने भारतीय अलंकार-शास्त्र से तथा पाश्चात्य-समीक्षा-शास्त्र से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। उन दोनों के सम्मिलित तथा समन्वित रूप को आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति भी रस सिद्धांत के व्यापक और विशद स्वरूप को अपना कर चली है, इसलिए वह पश्चिम की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नहीं कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैंने इसे सौष्ठववादी कहना अधिक समीचीन समझा है। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त, पण्डितराज आदि द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है यह हम पहले कह चुके हैं। वाजपेयीजी में इसी के प्रयोगात्मक रूप के दर्शन होते हैं। इस पद्धति का हिन्दी में पूर्ण विकास हो गया है, यह नहीं माना जा सकता। वाजपेयी जी में इसके विकसित और प्रौढ रूप के दर्शन अवश्य होते हैं। उनमें भी विकास हुआ है। वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिचायक थे, और धीरे-धीरे काव्य-सौष्ठव के परीक्षक बने हैं। अभी इस समन्वय में विकास की क्षमता है। वाजपेयीजी में इसके तत्व विद्यमान हैं। इस समीक्षा-पद्धति के सभी आलोचक जीवित हैं, इसलिए अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका इत्थंभूत रूप यही है। अभी यह विकासशील है, स्थिर नहीं हुई है। वाजपेयी जी के आलोचक का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है, पर अभी वह विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की ओर भी उनका ध्यान गया है। पर इन शैलियों में उनका सत्य का आंशिक रूप ही दिखाई पड़ता है। इनमें काव्य के सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावों की सार्वजनिकता तथा जीवनसंदेश की सर्व-व्यापकता से लेते हैं। पर उनका यह रूप अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। प्रगतिवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ क्या सारे साहित्य की ही प्रतिक्रियायें कही जा सकती हैं, यह अभी पूर्णतः निश्चित नहीं है।

नगेन्द्र जी:—डॉ० नगेन्द्र भी इसी पद्धति के प्रधान समालोचकों में से हैं। उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएं प्रायः वे ही हैं जिनका निरूपण हम इस पद्धति के सामान्य स्वरूप तथा वाजपेयी जी के प्रसंग में कर आए हैं। नगेन्द्र जी का काव्य-बोध ही मूलतः छायावादी है। वे न तो छायावाद से पूर्व के इतिवृत्तात्मक काव्य में रम पाये और न ही छायावाद-काल के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नयी-कविता के नये भाव-बोध तथा नयी अभिव्यंजना शैली में कवित्व देख पाये। इसी ने उनको 'रस' की ओर

आकृष्ट किया। इस सौष्ठववादी काव्य चेतना को आत्म-सात करने के कारण भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-दर्शन के समन्वय में ही नगेन्द्रजी की मूल आस्था जम सकी। यही आस्था सौष्ठववाद एवं स्वच्छन्दतावाद की आधारभूत चेतना है। वे साहित्य को व्यक्ति की चेतना का परिणाम समझते हैं। उनके मत में साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामूहिक चेतना का महत्व गौण है। वह साहित्यकार के निर्माण में सहायक हैं, पर साहित्य तो साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति ही है। इसे डा० नगेन्द्र भी मानते हैं कि साहित्य-समीक्षा में प्रधानतः साहित्यकार के व्यक्तित्व का महत्व तथा उसकी सफल अभिव्यक्ति पर ही विचार होना चाहिए। अन्य सारे मानदंड उनकी दृष्टि से गौण हैं, अतः उतने विश्वसनीय नहीं हैं। आत्माभिव्यक्ति की सफलता भी रस में है। रस शब्द से उनका भी तात्पर्य वही है, जो इस सम्प्रदाय के आलोचक मानते आये हैं। वे रस शब्द को संवेदनीयता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। कवि की आत्माभिव्यक्ति—उसकी भावुकता तथा बौद्धिकता में, दोनों का समावेश है। वे आलोचक के लिए भी एक विशेष रसज्ञता की आवश्यकता मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति कवि के सौन्दर्य का उद्घाटन करने में असमर्थ होता है। परिमार्जित रुचि वाले आलोचक का ही यह कार्य है। इसके अतिरिक्त वे कुछ शास्त्रीय आधार का होना भी आवश्यक मानते हैं। नगेन्द्रजी समीक्षा की वैयक्तिकता में विश्वास नहीं करते। आलोचक आलोच्य वस्तु को अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है, उसका मूल्यांकन भी अपनी ही दृष्टि से करता है, पर फिर भी उसे दूसरों को आलोच्य रचना का महत्व स्पष्ट करने तथा उसके सौन्दर्य का आस्वाद कराने की इच्छा अवश्य रहती है। इसलिए नगेन्द्र जी साहित्य-समीक्षा में भी साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानते हैं। यही कारण है कि उनको आलोचना का एक शास्त्रीय आधार भी मानना पड़ा है। इस कारण से उनकी समीक्षा इन दोनों सम्प्रदायों की मिलन-रेखा मानी जा सकती है। उनकी समीक्षा में पाश्चात्य और भारतीय तत्वों पर विचार हुआ है। उन्हीं को आधारभूत मानकर कृति के मूल्यांकन की प्रवृत्ति है। वे रस, अलंकार आदि पूर्वी तथा आवेग, कल्पना, चिन्तन अनुभूति बिम्ब आदि पाश्चात्य तत्वों के आधार पर ही समीक्षा करते हैं। इस प्रकार उनकी समीक्षा-पद्धति पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कही जा सकती, उनकी समीक्षा उनका प्रौढ़ शास्त्रीय आधार है। नगेन्द्र जी की काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को आलोचना का मानदण्ड बनाने में आस्था है। यही कारण है कि रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि भारतीय सिद्धान्तों का उन्होंने प्रौढ़ विवेचन किया है। इनके साथ ही उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन का भी समन्वय किया है। काव्य में बिम्ब सिद्धान्त मूलतः पाश्चात्य है। पर उसका विवेचन करते समय नगेन्द्र जी ने भारतीय दृष्टि का भी पूरा उपयोग

किया है। उनकी समीक्षा विश्लेषणात्मक और अनुभूतिव्यंजक अवश्य है। नगेन्द्रजी साहित्य का उद्देश्य प्रधानतः रसानुभूति या आनन्द ही मानते हैं, पर सामूहिक जीवन को चेतना प्रदान करने की साहित्य की क्षमता को भी अस्वीकार नहीं करते। वे साहित्य का जीवन से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करते। जीवन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके अग्रसर होता है, यह उन्हें मान्य है। पर काव्य की आत्मा रस है, इसमें उनका अटल विश्वास है।

नगेन्द्र जी प्रयोगात्मक आलोचना की अपेक्षा समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं में सौष्ठववादी अधिक कहे जा सकते हैं। उन्होंने आलोचना की जो शैली अपनाई है, वह वाजपेयी जी की अपेक्षा शुक्लजी के अधिक सन्निकट है। उसमें कवि की विचारधारा का अध्ययन अवश्य हुआ है। पन्त जी के चिन्तन और मानव-विकास का अच्छा मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुआ है।[1] कई स्थानों पर कवि के व्यक्तित्व से उसकी रचना का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ है। कवि का व्यक्तित्व ही किस प्रकार की कविता का रूप धारण कर गया है, इसकी ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त रचना से कवि के व्यक्तित्व का अनुमान भी होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगेन्द्र जी ने मनोवैज्ञानिक शैली का पर्याप्त प्रयोग किया है और यही उनकी शैली की प्रधान विशेषता भी है। पर काव्य-वस्तु, भाव-व्यंजना, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से किए गए उनके अधिकांश विवेचन का शुक्ल-पद्धति में अन्तर्भाव मानना असमीचीन नहीं है। कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा समीक्षा की मान्यताओं के आधार पर वे कुछ नवीन समीक्षा-पद्धति के समर्थक माने जा सकते हैं, वरना तो इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति के तत्व अधिक प्रबल हैं। उनका देव का अध्ययन इसी शैली का एक वृहद् ग्रन्थ है। इसमें देव के ग्रन्थों का परिचय है, कवि की विशेषताओं का विश्लेषण करते समय उन्होंने शृंगार तथा उसके भेदों को ही दृष्टि में रखा है। कहीं-कहीं उनकी अनुभूति आदि का भी विश्लेषण हुआ है, जिसमें साधारणतः निगमनात्मक शैली का आभास भी मिल जाता है।[2] देव की रूप और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं का भी निरूपण है। उनके आधार पर देव की कविता का अध्ययन हुआ है। पर प्रायः काव्यांग, संचारी भाव आदि ही आलोचना के आधारभूत तत्व रहे हैं। देव में ही नहीं, अपितु पन्तजी की कविता में भी मनोदशाओं के चित्रण की ओर नगेन्द्र जी का ध्यान अधिक गया है।

१—सुमित्रानन्दन पन्त: नगेन्द्र।
२—रीतिकाल और देव, शृंङ्गार-वर्णन का अध्याय।

'सरल मौग्ध' या 'किशोर-सारल्य' का उदाहरण देकर शुक्ल जी की तरह 'कितना-मुग्धकारी' भी कहा है।[1] कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति का स्पष्टतः अनुसरण है, और उन तत्वों के दर्शन होते हैं जिन्हें सौष्ठववादी पद्धति के अन्य आलोचकों ने नहीं अपनाया। लेकिन साथ में ही इनमें व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाली प्रवृति भी है। वहाँ पर भी आलोचक का ध्यान कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर न जाकर केवल कतिपय विशेषताओं पर ही गया है। नगेन्द्रजी की समीक्षा-पद्धति शुक्ल-समीक्षा का वह विकास है जिसने छायावादी काव्य-चेतना को आत्मसात करके सौष्ठववादी, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक तत्वों का भी समाहार कर लिया है। नगेन्द्र जी में शुक्ल जी की सी प्रतिभा, गहरी पैठ और रसग्राहकता तो नहीं हैं पर उसके साथ ही नैतिक आग्रह भी नहीं हैं। इसी से वे काव्य की स्वच्छन्दतावादी चेतना को अपना सके हैं। इसी सम्मिश्रण के कारण हमने उन्हें दोनों पद्धतियों की मिलन-रेखा पर बताया है। नवीन दृष्टिकोण से नगेन्द्र जी की समीक्षा का बहुत बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्वों का अध्ययन पाश्चात्य मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर किया है। इसके फलस्वरूप उन्होंने जिन तथ्यों की उद्‌भावना की है उनका उपयोग भी अपनी समीक्षा में किया है। इस प्रकार व्यक्ति, कला-कृति और सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी समीक्षा की प्रधान विशेषता है। नगेन्द्र जी पर मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का थोड़ा प्रभाव है, उसके तत्वों का उन्होंने कुछ उपयोग भी किया है। पर उन्हें मनोविश्लेषक समीक्षक कहना समीचीन नहीं। वे मूलतः रसवादी समीक्षक हैं, पर उन्होंने रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। इसमें उन्होंने काव्यगत सम्पूर्ण भाव-सम्पदा का अन्तर्भाव माना है। संवेदन, स्पर्श, चित्त-विकार, संस्कार आदि रागात्मक अनुभूति के सभी प्रकारों का इसमें अन्तर्भाव है। 'रस-समीक्षा' नगेन्द्र जी के आलोचक रूप की उपलब्धि है।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का पुनराख्यान, भारतीय दृष्टि से उनमें समन्वय के सफल प्रयास एवं एक सार्वभौम भारतीय मानदण्ड के खोज के सूक्ष्म प्रयास—नगेन्द्रजी के आलोचक रूप की आज तक की सशक्त उपलब्धियां हैं। अगर उनके आलोचक में समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि का उन्मेष और हो जाता तो काव्यालोचन के अधिक प्रौढ़, व्यापक एवं सर्वाङ्गीण रूप के दर्शन होने लगते। इस स्वरूप के विकास की प्राप्त्याशा है। कामायनी के अध्ययन की समस्या

१—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ ३२-३३

में उन्होंने साहित्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन का स्पष्ट आभास दिया है। नगेन्द्र जी का आलोचक एवं काव्य-शास्त्रज्ञ रूप चिर-विकासशील रहा है। वह अभी विकासमान है।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी—कुछ के व्यक्तित्व निर्मित होते हैं, इसलिए वे सुस्पष्ट भी होते हैं। उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का कोई भी स्थल उनकी सम्पूर्णता का द्योतन कर देता है। उनके सम्बन्ध में एक स्थान से जो धारणा बना ली जाती है, वह सर्वत्र ठीक उतरती है। ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशेषताओं का परिस्थितियों से प्रेरित होकर उद्घाटन-मात्र करते हैं। परिस्थितियां उद्घाटन की प्रेरणा के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में कुछ परिमार्जन अथवा परिवर्तन नहीं करतीं, आवरण को हटाकर अधिक स्पष्ट भर कर देती हैं, उसके प्रकाश को अवरुद्ध करने वाली वस्तुओं को हटा-भर देती हैं। पर ऐसे व्यक्तित्व परिस्थितियों से निर्मित नहीं होते। एक प्रकार का उन्हें स्थिर व्यक्तित्व कह सकते हैं। एक-दूसरे प्रकार का व्यक्तित्व भी होता है, जो निरन्तर विकासशील है। परिस्थितियां उसको बनाती रहती हैं। वे गतिशील हैं, इसलिए उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के दर्शन एक स्थान पर कभी नहीं हो सकते। एक स्थल की घटना तद्देशीय, तत्कालीन ही होती है। उससे सम्पूर्णता का अनुमान प्रायः ठीक नहीं होता। हिन्दी-साहित्य में प्रायः पहले प्रकार के व्यक्ति ही अधिक हैं। पर पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी दूसरे प्रकार के व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन विकासशील प्रतीत होता है। परिस्थितियां उनके बाह्य जीवन को ही प्रभावित नहीं करती हैं,पर उनके अन्तस् में भी आमूल परिवर्तन कर देती हैं। उनका जीवन सामूहिकता की धारा में यों ही निष्क्रिय और चेतना-रहित होकर नहीं चलता, अपितु बराबर प्रतिक्रियाशील है। इसीलिए उनमें वैयक्तिकता की प्रधानता है। वे जीवन की अपने ढंग से आलोचना करते हुए कुछ संग्रह और त्याग करते हुए आगे बढ़ते हैं।

द्विवेदी जी प्रमुखतः निबन्ध-लेखक हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी इतिवृत्तात्मक कविता की अपेक्षा छायावादी काव्य में अधिक सौन्दर्य एवं जीवन को प्रेरणा देने की क्षमता मानने वाले आलोचकों में से हैं। उनका विवेचन-क्षेत्र प्रधानतः छायावाद ही है। वे छायावाद को पाश्चात्य देन नहीं,अपितु यहीं की युगचेतना का सहज परिणाम मानने वाले समीक्षक हैं। द्विवेदी छायावाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले समीक्षकों में से हैं। स्वच्छन्दतावादी चेतना का एक तत्व जीवन-दृष्टि से,जीवन को प्रेरणा देने की दृष्टि से काव्य पर विचार करना भी है। शान्तिप्रिय द्विवेदी काव्य-दृष्टि की अपेक्षा जीवन-दृष्टि एवं ऐतिहासिक पद्धति के समीक्षक अधिक कहे जा सकते हैं। काव्य-दृष्टि में वे भाव, प्रवण होकर प्रभाववादी हो गये हैं,पर जीवन-दृष्टि की समीक्षा

में वे व्याख्यात्मक हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता है। यही कारण है कि उनकी समीक्षा शुक्ल-पद्धति का शास्त्रीय रूप ग्रहण नहीं कर पाई है। उनकी आलोचना आत्म-प्रधान (Subjective) अधिक है, अगर वे विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण न करते तो उनकी समीक्षा पूर्णत: प्रभावाभिव्यंजक कोटि की हो जाती। वे साहित्य को उद्देश्य-विहीन नहीं मानते हैं। उनका गांधीवाद या समाजवाद का आग्रह यह स्पष्ट कर देता है कि वे काव्य से जीवन की प्रेरणा ग्रहण करना चाहते हैं। इसीलिए महायुद्ध के समय कवियों के विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति के संदेश की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होता है।[1] द्विवेदी जी साहित्य को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहते। इन्हीं सब कारणों से उनकी समीक्षा-पद्धति स्वच्छन्दतावादी एवं व्याख्यात्मक ही कही जा सकती है, प्रभाववादी नहीं। उन्होंने जिस शैली को अपनाया है वही आगे प्रगतिवाद में विकसित हो जाती है। पर द्विवेदी जी रस और संवेदनीयता को भी काव्य के उद्देश्य में ही स्थान देते हैं, अत: वे स्वच्छन्दतावादी ही हैं। द्विवेदी जी प्रारम्भ से छायावादी थे, लेकिन धीरे-धीरे गाँधीवाद और प्रगतिवाद की ओर बढ़े हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाव-राज्य से वे संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं। सामयिक परिस्थितियों के कारण आर्थिक विषमताओं से आक्रान्त मानवता के कल्याण के लिए वे प्रगतिवाद की ओर भी झुके हैं। पर उनकी दृष्टि से प्रगतिवाद में मानव जाति को दुःखों से स्थायी मुक्ति नहीं मिलती। यह स्थायी मुक्ति तो द्विवेदी जी गाँधीवाद से मानते हैं। गाँधीवाद उनकी अन्त:स्फूर्ति रहा है। वह उनकी छायावादी और प्रगतिवादी चिन्तन-धारा के अन्तस्तल में प्रवाहित होता रहा है। लेकिन 'सामयिकी' में वही अन्त:-स्फूर्त अन्तस्तल की प्रवाहित धारा अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। यह शुक्लोत्तर समीक्षा का गाँधीवादी परिणति का अच्छा उदाहरण है। अन्त तक द्विवेदी जी का विश्वास गाँधीवाद में ही रहेगा, इसी में मानव का स्थायी-कल्याण मानते रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए उनकी साहित्यिक धारणा भी परिवर्तनशील कही जा सकती है। अब तक उन्होंने रस तथा सांस्कृतिक चेतना को ही काव्य का प्रयोजन माना है। उनका स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण नहीं है। वे प्रगतिवादियों की तरह वर्ग-संघर्ष में भी विश्वास नहीं करते। वे सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य ही कला का उद्देश्य मानते हैं। "अतएव कला की सार्थकता केवल सुन्दरता में नहीं है, बल्कि उसके मंगल-प्राण होने में है।"[2] द्विवेदीजी

१—साहित्यिका, प्रथम लेख।
२—संचारिणी, पृ० ९०।

नग्न यथार्थता के विरोधी हैं। वे साहित्य को केवल व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं मानते प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार किसी कलाकार की शैली और वर्ण्य विषय के चुनाव के लिए तत्कालीन परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी हैं। किसी युग का विशिष्ट समाज जब परस्पर के हार्दिक वार्तालाप से परितृप्ति पा चुका होगा तब उसे कुछ अतिरंजकता की भूख लगी होगी। वही भूख वाग्विदग्धता द्वारा काव्य में शान्त की गई। इसमें लेखक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को भी अपनाता हुआ प्रतीत होता है। रत्नाकर जी की चमत्कार-वृति का कारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन किया है। इस प्रकार इनमें स्वच्छन्दतावादी काव्य-समीक्षा की ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय शैली के अधिक दर्शन होते हैं।

द्विवेदी जी काव्य को जीवन के रसात्मक स्पर्श की दृष्टि से जांचते हैं और रसात्मक स्पर्श-हीन काव्य को हेय समझते हैं। जिनमें वैचित्र्य या चमत्कार की प्रधानता है, उसे वे प्रकृत-काव्य ही नहीं मानते। यही कारण है कि द्विवेदी जी रत्नाकर जी के काव्य को सूक्ति कह रहे हैं। उनकी दृष्टि से उसमें हृदय को तल्लीन करने की अपेक्षा चमत्कृत कर देने की प्रवृत्ति अधिक है। यह आलोचना-दृष्टि सौष्ठववादी ही है: "रत्नाकर जी सूक्ति के कवि हैं। कथन की वक्रता —चाहे इसमें स्वाभाविक कल्पना का अतिक्रमण करके अतिशयोक्ति ही क्यों न करनी पड़े, रीति प्रेरित कवियों में (जिनमें रत्नाकर जी भी हैं,) अधिक दीख पड़ती है, जिससे भाव का "अनूठापन नहीं, बल्कि कथन का अनोखापन प्रकट होता है...जहाँ भाव द्वारा सीधे हृदय से लगाव की आवश्यकता है, वहाँ इस प्रकार की नाटकीयता एक काव्या-भिनय-मात्र मालूम होती है।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी में निबन्ध-लेखक की वैयक्तिकता के साथ ही आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि भी है। उनकी धारणाओं से कुछ व्यक्तियों का विरोध भी हो सकता है, पर इतना तो निश्चय ही है कि वह विश्लेषण और अनुभूति पर आधारित हैं। उनमें सौष्ठववादी आलोचक की तल-स्पर्शिता भी है। द्विवेदी जी कला कृतियों और काव्य-धाराओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं। इसी दृष्टि से उनके विकास का अध्ययन करते हैं। साहित्य इन परिस्थितियों का स्वाभाविक और सहज परिणाम कैसे है और यह जीवन-धारा को कैसे प्रभावित करता हैं। इस प्रकार उनकी शैली में सौष्ठववादी दृष्टि की ऐतिहासिक प्रणाली का बहुत प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता हैं।

सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति हिन्दी की आधुनिकतम प्रवृतियों में से हैं। इसलिए इसने वर्तमान काल के प्राय: सभी आलोचकों को प्रभावित किया है। सब

१—संचारिणी, पृ० ३६।

लोगों ने इसको किसी-न-किसी रूप में अपनाया है। जिन आलोचकों पर शुक्लजी का प्रभाव था, वे भी धीरे-धीरे इस पद्धति को अपनाते गए हैं। इसलिए कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनकी कुछ रचनाएं शुक्ल पद्धति की तथा कुछ इसकी है। पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की 'सूर-साहित्य' नामक रचना शुक्ल-पद्धति के कुछ समीप है किन्तु इसमें भी वे सौष्ठववादी समीक्षक अधिक है। पर कवि में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट बदला हुआ है, वह इस पद्धति की रचना है ही। उनमें ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग अधिक हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वच्छंदतावादी चेतना के प्रमुख उन्नायक समीक्षकों में से हैं। उन्होंने भावसौष्ठव तथा साहित्य के ऐतिहासिक दृष्टिकोण— दोनों ही दृष्टियों से रूढ़िमुक्त स्वच्छंद चेतना को प्रश्रय दिया है। इस प्रकार वे सौष्ठववादी समीक्षक हैं। भाव संवेदना के सूक्ष्मतम एवं मर्मस्पर्शी रूप की अनुभूति के साक्षात्कार एवं कलात्मक मूल्यांकन की अच्छी उनमें क्षमता होते हुए भी वे प्रधानतः सांस्कृतिक समीक्षक हैं। उनकी एक पृथक पद्धति है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा। वहीं पर उनकी सौष्ठववादी चेतना का विश्लेषण होगा। उसमें समाज-शास्त्रीय मानवतावादी चेतना के दर्शन होते हैं, यह हम पहले कह चुके हैं।

सौष्ठववादी आलोचकों ने भावुक, कल्पना-प्रधान और रहस्यमयी शैली को अपनाया है। उन्हें यही शैली अपनी पद्धति और रुचि के अनुरूप प्रतीत होती है। काव्य की अनुभूतिमयी व्याख्या के लिए यह आवश्यक भी है। अन्य आलोचकों में तो बौद्धिकता की ओर झुकाव होने के कारण विश्लेषण-शैली का भी उपयोग है। पर महादेवी जी में अनुभूति की प्रधानता है, इसलिए उनकी शैली प्रायः सर्वत्र ही भावुकतामय है। पर उसके अन्तस्तल में विचार-धारा की प्रौढ़ धारा के दर्शन भी स्पष्ट होते हैं। भावुकतामय एवं कल्पना-प्रधान होने के कारण सौष्ठववादी आलोचना कहीं-कहीं अस्पष्ट भी है, नितान्त प्रभाववादी-सी प्रतीत होती है। इसलिए कुछ लोग इस शैली को आलोचना के उपयुक्त नहीं समझते। वे तथ्य-निरूपणात्मक और तर्क-प्रधान शैली के समर्थक हैं। इसे तो वे गद्य-काव्य के उपयुक्त ही मानते हैं।

हिन्दी में सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति अभी विकासशील है। इसने मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का पर्याप्त विकास किया है। कवि और कला-कृति के मनोवैज्ञानिक और तात्विक विश्लेषण की प्रवृत्ति तो हिन्दी में इतनी लोकप्रिय हो गई है कि शुक्ल-पद्धति के आलोचक भी इसका उपयोग करते हैं। इस प्रकार इन दोनों पद्धतियों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित हो रहा है। विश्वविद्यालय के पंडितों ने विभिन्न कवियों और काव्य-धाराओं पर जो विशद अध्ययन प्रकाशित किये हैं, उनमें इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त, डा० माताप्रसाद

गुप्त, पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र, डा० देवराज उपाध्याय आदि में मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का जो प्रौढ़ रूप दृष्टिगत होता है, वह इस पद्धति के प्रभाव से असम्पृष्ट नहीं है। उसमें वस्तु के तात्विक विवेचन तथा कवि की विचारधाराओं के विश्लेषण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति भी इसकी द्योतक है।

ऊपर प्रसंगवश जिन समीक्षकों की समीक्षा-पद्धति पर कुछ विशद विचार हुआ है, उनके अतिरिक्त श्री सुधांशुजी, जानकीवल्लभ शास्त्री, डा० रामकुमार वर्मा, डा० देवराज, रामनाथ सुमन, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय आदि इस पद्धति के अन्य प्रौढ़ समीक्षक हैं।

हिन्दी की स्वच्छदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा अभी तक विकासशील है। पन्त, आचार्य द्विवेदी, वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० देवराज आदि के प्रयास अभी इस दिशा में अग्रसर हैं। इनमें समन्वयवादी दृष्टि से विकास हो रहा है। सांस्कृतिक, दार्शनिक, रसवादी, मानवतावादी आदि, कई आधारों पर यह समन्वयवादी धारा विकास कर रही है। इस पद्धति के विभिन्न तत्व विभिन्न शैलियों और पद्धतियों में भी विकसित हुए हैं। मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति इसी का एक दिशा में विकास है। प्रभाववादी, सौन्दर्यान्वेषी, अभिव्यंजनावादी, चरितमूलक, ऐतिहासिक आदि स्वतंत्र समीक्षा शैलियाँ इसी के विभिन्न तत्वों के विकसित रूप हैं। इन पर आगे विशद रूप से विचार किया जायेगा।

इस समीक्षा-पद्धति का विकास अगर अबाध गति से होता रहता तो स्वस्थ मार्गों को अपनाती हुई हिन्दी समीक्षा एक अधिक प्रौढ़ एवं व्यापक मानदण्ड तथा शैली का विकास कर पाती, पर यथार्थवादी साहित्य-चेतना ने इसके स्वच्छद विकास में बाधा उपस्थित कर दी। छायावाद की अतिशय कल्पना - प्रधान दृष्टि का स्थान जीवन का यथार्थ चित्रण देने वाली साहित्य-चेतना ने ले लिया। अब व्यष्टि सत्य और समष्टि सत्य की समन्वयवादी एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक मंगल को प्राधान्य देने वाली दृष्टि धीरे-धीरे पारस्परिक विरोध और भौतिक उपयोगिता की ओर बढ़ी। प्रारम्भ में साहित्य की यथार्थवादी प्रतिक्रिया समवेत धारा में बही। उसने फ्रायड और मार्क्स का प्रभाव भी समवेत रूप में ही ग्रहण किया, पर बाद में यही समवेत यथार्थवादी साहित्य - चेतना दो भागों में बंट गई और समीक्षा क्षेत्र में व्यष्टि सत्य को लेकर चलनेवाली धारा मनोविश्लेषणात्मक तथा समष्टि सत्य की मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धतियों में परिणत हुई। ये तो प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मी धारायें हैं। पर स्वच्छंदतावादी चेतना स्वयं भी विकास कर रही है। उसकी मूल चेतना के अतिरिक्त उसमें समाजशास्त्रीय मानवतावादी पद्धति का भी विकास हुआ है।

: ११ :

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

भारतीय आलंकारिकों ने काव्य के हेतु और प्रयोजन पर विशद विवेचन किया है। इन दोनों का सम्मिलित रूप साहित्य की प्रेरणा का कुछ आभास देता है। साहित्य के प्रयोजनों में 'यशसे', 'अर्थकृते' आदि वस्तुतः काव्य की प्रत्यक्ष प्रेरणाएं नहीं हैं। काव्य-सृजन के पूर्व यश, अर्थ आदि की आकांक्षा रह सकती है, अथवा काव्य-ग्रन्थ से उसे उनकी प्राप्ति भी सम्भव है, पर इनको सृजन-समय की प्रेरणा मानना विशेष समीचीन नहीं प्रतीत होता। संस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य "सद्यः परनिर्वृत्तये" को अवश्य साहित्य की प्रेरणा कहा जा सकता है। तुलसीदासजी का 'स्वान्तः सुखाय' का सिद्धान्त तो साहित्य की प्रेरणा के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट कर रहा है। वस्तुतः इन दोनों प्रयोजनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। काव्य के हेतुओं में भी काव्य की प्रेरणा पर स्पष्टतः विचार नहीं हुआ है। इनमें भी काव्य के बाह्य साधनों का निर्वचन-मात्र हुआ है। कवि की उस मनःस्थिति का निरूपण नहीं हुआ जिससे उसे काव्य-सृजन की प्रेरणा प्राप्त होती है। वस्तुतः संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप तथा सृजन के समय कवि की मानसिक स्थिति पर बहुत कम विचार किया है। यह भी विवादास्पद ही है कि 'साधारणीकरण का सम्बंध केवल पाठकों से ही है, अथवा कवि से भी। कवि अपने वर्ण्य विषय, भाव आदि के साधारणीकृत रूप को ग्रहण करता है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। विभाव और भाव का साधारणीकरण काव्य के सृजन में होता है अथवा काव्य के अनुशीलन में, यह प्रश्न

भारतीय आचार्यों ने नहीं उठाया है। पर भारतीय अलंकार-शास्त्र की परम्परा का समग्र रूप सामने रखकर यह कहना असमीचीन और अपसिद्धान्त नहीं है कि साधारणीकरण की क्रिया कवि-व्यापार में भी होती है और कवि-व्यापार से ही यह पाठक में भी सम्भव है। साधारणीकरण के मूल में यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि और पाठक का तादात्म्य होता है। आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य तो उसी का सहज और स्वाभाविक परिणाम-मात्र है और यह सर्वत्र होता भी नहीं। रावण जब सीता के प्रति रति की व्यंजना करता है, उस समय पाठक का रावण के साथ तादात्म्य नहीं होता, क्योंकि कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं है, अथवा यों कहिए कि कवि को उसके साथ तादात्म्य अभीप्सित नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतने सारे विवेचन के उपरान्त इस सिद्धान्त को भारतीय घोषित किया जा सकता है कि कवि-व्यापार में साधारणीकरण है। काव्य सृजन की प्रक्रिया के एक तत्व को यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है। पर संस्कृत-आचार्यों ने इसका इस तरह स्पष्ट निरूपण कहीं नहीं किया है। "नियतिकृतनियम रहिताँ" तथा "अपारे काव्य संसारे" आदि में भी काव्य के वर्ण्य-विषय के स्वरूप पर तो थोड़ा संकेत है, पर सृजन के समय कवि की मनःस्थिति क्या होती है? उससे काव्य-सृजन की प्रेरणा किस मनःस्थिति में मिलती है? इस प्रश्नों पर भारतीय आचार्यों ने विचार नहीं किया है। पश्चिम के आचार्य का प्रारम्भ से ही इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। उसने प्रारम्भ से ही सृजन की प्रेरणा एवं स्वरूप पर विचार किया है। अनुकरण, रेचन आदि काव्य सिद्धान्तों का मूल काव्य-प्रेरणा का निरूपण है। वहां साहित्य-शास्त्र का यह भी एक प्रमुख विषय रहा है। प्रायः सभी प्रधान आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा पर विचार किया है। पर इस क्षेत्र में मनोविज्ञान के आचार्यों की महत्वपूर्ण देन है। अपेक्षाकृत आधुनिकों के सिद्धान्तों ने तो इस क्षेत्र में एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी है। उनके विवेचन ने साहित्य में नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों और पद्धतियों को जन्म दे दिया। इन आचार्यों में प्रमुख फ्रायड, एडलर और युङ्ग हैं। कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यूरोप में जो सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमें से प्रमुख तीन इन्हीं की मान्यताओं पर आधारित हैं।

फ्रायड की कला-संबंधी मान्यता के तीन प्रमुख आधार हैं। उसका कहना है कि मानव की अनेक इच्छाएं और वासनाएं सामाजिक, धार्मिक या अन्य प्रकार के प्रतिबंधों के कारण अतृप्त रह जाती हैं। ये अतृप्त वैयक्तिक वासनाएं तथा कुछ मूलभूत सामूहिक सहजात वृत्तियाँ नष्ट नहीं होतीं, अपितु अन्तर्मन के अतल में दब जाती हैं। ये वृत्तियां उपचेतन मस्तिष्क में रह कर चेतन क्षेत्र में आने तथा अभिव्यक्त होने का निरंतर प्रयत्न करती रहती हैं। मानव की स्वाभाविक विरोध-वृत्ति सामाजिक

दमन को स्वीकार करके इन दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण कर देती है। इस प्रकार ये वासनाएं उदात्तीकृत रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इनकी अभिव्यंजना के ये उदात्तीकृत प्रकार समाज द्वारा निषिद्ध नहीं होते। फ्रायड कहते हैं कि जीवन के सभी कार्यों के मूल में काम-वासना है। यह बाल्य-काल से ही जीवन की प्रधान प्रेरक शक्ति बन जाती है। बाल्य-काल की यह काम-वासना मातृ-रति (Oedipus complex) में परिणत हो जाती है। फ्रायड तो बाल्य-काल की कामवासना ही को चरित्र-निर्माण की मूल प्रेरणा मानते हैं।[1] इसका शमयन या उदात्तीकरण (Sublimation) भी विभिन्न प्रकार से होता है, इनकी अभिव्यक्ति में एक विशेष आनंद है। दमित इच्छाओं और वासनाओं की अभिव्यक्ति से मानव हल्का हो जाता है। यह रेचन (catharsis) से प्राप्त आनंद है। इन वासनाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न, दैनिक भूल, हास्य विनोद और कला में होती है। कला और साहित्य इन इच्छाओं की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर साधन है।[2] कला इन कुंठाओं को ऐसा छद्मवेश देती है कि समाज के समक्ष इनको अभिव्यक्ति में दिवास्वप्न के समान लज्जा का अनुभव नहीं होता है। यही इनका कला द्वारा उदात्तीकरण है। कवि की सृजन शीलता से इन कुंठाओं की अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है उसे सहृदय पाठक भी स्वीकार कर लेता है और उसमें रमकर उन से छुटकारा पा लेता है, अतः उसे भी आनन्द की अनुभूति होती है। कला, कवि और सहृदय रुग्ण मानस के

---

1. He came to see in the unconscious conflicts over the young child's sexual attitudes towards its parents, wnich together with accompanying jealousy and hostility, he refers to oedipus complex. (Freud; His dream and sex theories by Joseph Jasterol)
2. An unconscious mind where-in lurk and moil, basic instinct of the race, also thwarted personal desires (2) an inner censor that recognising society ban on these impulses forcing their repression seeks to sublimate them in more allowable forms of expression (one of which is Art) (3) a basic libido or rest drive (life force) A basic libido of sex drive (life force) which when checked may produce oedipus complex; distorted if not broken lives. Thus it sets love (the chief topic of modern Poetry, Modern Drama etc.) at the root of all human actions. —(The dictionary of world literature.

उपचार का साधन बन जाती है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इसके तीन प्रमुख आधार हैं—१. दमन, २. कामवासना और ३. उदात्तीकरण। इन्हीं का विशद विवेचन फ्रायड के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वालों ने किया है।[1] फ्रायड ने यह माना है कि अन्तर्मन के अतल में दमित ये वैयक्तिक और सामूहिक प्रवृत्तियां मानव-जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती हैं। मानव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के परिचालन की प्रमुख शक्ति यही हैं। मानव-विकास का सारा इतिहास इसी सत्य को प्रमाणित कर रहा है। मानव की पाशविक वृत्तियाँ अब तक भी अपने स्वरूप बदलकर अभिव्यक्त होती रहती हैं। सभ्यता और संस्कृति की मूल प्रेरणा ये प्रवृत्तियां ही हैं। इनके उन्नयन में ही संस्कृति का वास्तविक विकास है। इसी में मानव का व्यष्टिगत और समष्टिगत कल्याण है। इन प्रवृतियों की अस्वस्थ अभिव्यक्ति उसे ध्वंस और नाश की ओर परिचालित करती है। साहित्य में इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ उन्नयन ही कल्याणकर है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों के इन आधार पर पाश्चात्य जगत् में कला की समीक्षा का एक सम्प्रदाय बन गया है। यह सम्प्रदाय कला और साहित्य की मूल प्रेरणा शमित वासनाओं को अभिव्यक्ति को ही मानता है। फ्रायड के अनुसार इन दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वस्थ और अस्वस्थ दो प्रकार की हो सकती है। स्वस्थ अभिव्यक्ति वाला साहित्य ही चिरस्थायी और मानव-कल्याण का हेतु है। अस्वस्थ दमन तो मानव को ध्वसात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है। फ्रायड द्वारा स्वप्न और कला सृष्टि की तुलना करने के कारण साहित्य-जगत् में प्रतीकवाद का सिद्धान्त आ गया है। स्वप्न में जैसे वासनायें प्रतीकों में प्रकट होती हैं, वैसे ही कला-सृष्टि में प्रतीक आगये और उनमें से अधिकाँश अत्यधिक गूढ़ एवं अस्पष्ट रहे। सहृदय-जन के लिए सुबोध नहीं रहे, उनकी व्याख्या अपेक्षित हो गई। प्रतीकों के माध्यम से अतीन्द्रिय अनुभवों की यथार्थ अभिव्यक्ति की भावना ने साहित्य में अति यथार्थवाद को जन्म दिया।

फ्रायड के ही समसामयिक और उनके शिष्य एडलर ने भी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है। उनका कहना है कि मानव अपने व्यक्तित्व को समाज में महत्वपूर्ण देखना चाहता है। वह अपने व्यक्तित्व की उपादेयता और महत्ता समाज पर व्यक्त करने का बाल्य-काल मे ही इच्छुक हो जाता है। उस समय उसको दूसरों की तुलना में अपनी शारीरिक अनुपयोगिता और निर्बलता का भी अनुभव होने लगता है और इसके परिणाम-स्वरूप उसमें हीनता की भावना

1. Encyclopaedia Britanica Vol. 18 Psychoanalysis.

जाग्रत हो जाती है। इसे ही एडलर हीनता-ग्रन्थि कहते हैं। इसी हीनता-जन्य अभाव की पूर्ति की कामना उसके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति होती है। बालक में बुद्धि के विकास का यह प्रधान कारण है। बुद्धि से किसी बात को समझने की क्षमता रहने पर भी वह जब शरीर से उस कार्य का सम्पादन नहीं कर पाता तब उसमें यह बुद्धि प्रबल हो जाती है। जब मानव समाज के लिए शारीरिक, आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के पार्थिव रूप में अनुपयोगी सिद्ध होता है तो वह अपने व्यक्तित्व की महत्ता का प्रतिपादन दूसरे क्षेत्रों में करता है। शारीरिक हीनता की क्षतिपूर्ति मानसिक विकास में होती है। इस प्रकार मानव अपनी हीनता की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, कला, दर्शन आदि में भी करता है। अभाव की अनुभूति मानव को आत्मग्लानि से भर देती है और व्यक्ति जितना ही प्रतिभावान और मेधावी होता है उसकी आत्म-ग्लानि की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। आत्म-ग्लानि उसकी प्रभुत्व-कामना को उग्र कर देती है। मानव अपने अभाव की पूर्ति के लिए छटपटाता है और वह उसी क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र में क्षति-पूर्ति कर लेता है; इतना ही नहीं वह अतिरिक्त क्षति-पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कभी-कभी बाल्यकाल में जो व्यक्ति क्षीण शरीर वाला होता है, वह युवावस्था में पहलवान बनने का प्रयत्न करता है। अपनी शक्ति के सामान्य-अभाव की ही पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं अपितु वह अपने में अतिरिक्त शारीरिक शक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। क्षति-पूर्ति का यह प्रयत्न वैयक्तिक स्वार्थपरायणता और अहंकार का हेतु है। मनुष्य में अपने प्रभुत्व की कामना अत्यधिक प्रबल होने के कारण वह अपने विशेष क्षेत्र के प्रभुत्व की रक्षा हर प्रकार से करना चाहता है। उसमें इसके प्रति मोह जाग्रत हो जाता है। वह आपातत: शक्तिशाली प्रतीत होते हुए भी वस्तुत: दुर्बल रहता है। उसे अपनी अर्जित शक्ति या यश के चले जाने का भय सदैव बना रहता है। उसकी रक्षा के लिए वह औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी खो बैठता है। उसमें वास्तविक चारित्रिक सबलता नहीं आ पाती है। जिस कलाकार के व्यक्तित्व का विकास इन्हीं सरणियों में हुआ है, उसकी कला में प्रतिक्रियावादी तत्वों का आधिक्य हो जाता है। उसे कुछ विशेष विचारधाराओं के प्रति अनावश्यक मोह हो जाता है, इसलिए वह जीवन के प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्वच्छन्दतापूर्वक अपनाने में असमर्थ रहता है। उसमें अहंकार भी प्रबल हो जाता है जो उसके जीवन-दर्शन को अस्वस्थ कर देता है। पर दूसरी तरफ हीनता की पूर्ति की आकांक्षा मानव में प्रभुत्व की कामना के साथ ही मानव-प्रेम एवं विश्वप्रेम की भावना भी जगाती है। व्यक्ति में विश्व बन्धुत्व की भावना को सुदृढ़ करती है। अपने अहं को विश्व के साथ मिलाने में ही साहित्य की उच्चता है। यही महान साहित्य का मानदण्ड है। कला की प्रेरणा का यह दूसरा

सिद्धान्त है, जो मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित है ।

युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की प्रधान वासना कहा है । उनकी मान्यता है कि मानव में जीवित रहने तथा अमर रहने की प्रबल आकांक्षा है । इसी से प्रेरित होकर वह सब कार्य करता है । यही मूल वासना उसे ऐसे कार्यों के लिए भी प्रेरित करती है, जिनसे वह अपने पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीवित रह सके । यही जीवनेच्छा लोक, वित्त और पुत्र नामक —तीन एषणाओं की मूल प्रेरणा है । ये तीनों इसी एक की प्रधान जीवन-धाराएँ हैं तथा अभिव्यक्ति के तीन मार्ग हैं । मानव इन्हीं तीन एषणाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है । मानव के साहित्य-सृजन और कला-निर्माण के मूल में भी ये ही भावनाएं कार्य कर रही हैं । साहित्य और कला में उसके जीवित एवं अमर रहने की आकांक्षा ही अभिव्यक्त होती है प्रभुत्व-कामना और काम-वासना को, जो क्रमशः एडलर और फ्रायड के अनुसार जीवन की प्रधान प्रेरणाएं हैं, युङ्ग जीवनेच्छा में ही अन्तर्हित मानता है । पहली दोनों जीवनेच्छा की ही दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं, अर्थात् जीवनेच्छा इन दो भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है । इन्हीं के आधार पर युङ्ग ने अन्तर्मुखी (entrovert) और बहिर्मुखी (extrovert)—दो प्रकार के मानव माने हैं । अन्तर्मुखी मनुष्यों में प्रभुत्व की कामना का प्राधान्य रहता है और बहिर्मुखी में काम वासना का। प्रथम शासक बनना चाहता है और दूसरा शासित । पहले को अपने महत्व का ध्यान अधिक रहता हैं तथा दूसरा अन्य लोगों का ध्यान अधिक रखता है । ये दोनों वासनाएं प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं । लेकिन युंग ने प्राधान्य के आधार पर इस प्रकार का अन्तर किया है – इनमें से जो वृत्ति प्रबल होती है, वही मानव की जीवनेच्छा की धारा का दिशा-निर्देश तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति का नियन्त्रण करती है । इसीलिए इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के सृजन, जो उनकी जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति-मात्र हैं, दो भिन्न प्रकार के होते हैं । साहित्य और कला के क्षेत्र में भी ये दोनों व्यक्ति दो भिन्न प्रकार के साहित्य और कला का निर्माण करते हैं । उनके वर्ण्य-विषय, विचार, चरित्र, शैली आदि सभी-कुछ में एक मौलिक अन्तर होता है । अन्तर्मुखी कलाकार व्यक्ति प्रधान रचना अधिक करता और बहिर्मुखी विषय-प्रधान । इन दोनों का जीवन दर्शन भिन्न हो जाता है । मानव की जीवनेच्छा और अमर रहने की आकांक्षा जब साहित्य के माध्यम से पूर्ण होती है तो वह सामूहिक अचेतन से जागती है । व्यक्ति का चेतन जब समयानुकूल नहीं रहता है जन-मन में व्याप्त भावना उसमें उद्वेलित होने लगती है, तब व्यक्ति का सच्चा कवित्व जन्म लेता है । उस समय कवि मानव की अन्तर्हित भावनाओं को वाणी देता है । और युग-भूलों को दूर करके उसमें एक नवीन संतुलन की सृष्टि करता है । यही महान

साहित्य का प्राप्तव्य है।

साहित्य-प्रेरणा के ये तीन सिद्धान्त पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में भी पूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं। यह मानना कि प्रत्येक कलाकार एक मात्र अतृप्त काम-वासना, प्रभुत्व की कामना अथवा जीवित रहने की आकांक्षा से ही काव्य-रचना करता है, ठीक नहीं है। प्रत्येक क्रिया के मूल में काम-वासना को मानने का सिद्धान्त अतिवादी दृष्टिकोण है। कालिदास, भवभूति, प्रसाद, पन्त, गुप्त आदि सभी लोग किसी-न-किसी रूप में अतृप्त रहे हैं और उनके काव्यों में अतृप्त वासनाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। उनकी शैली पर भी इस अतृप्ति का प्रभाव है अथवा उन्होंने अपने को समाज के लिए अनुपयोगी माना है और अपने महत्व के प्रतिपादन के लिये प्रभुत्व-कामना से ही वे काव्य में प्रवृत्त हुए हैं अथवा काव्य के रूप में अमर रहने की आकांक्षा ने ही उन्हें काव्य-सृजन की प्रेरणा दी है—ऐसा कुछ भी निश्चय पूर्वक कहना उपयुक्त नहीं है। कभी-कभी इन तीनों के सम्मिलित रूप के दर्शन कलाकार की मानसिक प्रेरणा में होते हैं, और कभी इनसे भिन्न मानसिक स्थिति में भी साहित्यिक प्रेरणा होती है। जिनकी ये तीनों वासनाएं जीवन के अन्य क्षेत्रों में परितृप्त हो चुकती हैं, जो न अतृप्त है और न समाज के लिए उपयोगी, वे भी कला-सृजन में प्रवृत्त होते हैं। अभिव्यक्ति मानव का स्वभाव ही है, उसमें उसे आनन्द की प्राप्ति होती हैं, यह स्वयं ही प्रेरणा है। इसके लिए किसी अन्य चेतन अथवा उपचेतन प्रेरणा की अपरिहार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। 'एकोऽहं बहुस्याम' में चेतना के मूलभूत स्वभाव की ओर निर्देश है। इस विकास में आनन्द है। यह आनन्द की अभिव्यक्ति है। इसमें प्रेरणा, कार्य और प्राप्तव्य तीनों ही आनन्द हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि एक से अनेक होने के पूर्व वह आनन्दमय नहीं था। उसे आनन्द के अभाव की प्रतीति थी और उसी अभाव की पूर्ति के लिए यह विकास है—ऐसा कुछ भी मानना दार्शनिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। वह पहले भी आनन्दस्वरूप ही था और इस विकास में भी आनन्द स्वरूप ही रहता है। यह शान्त, स्वानुभूति रूपआनन्द की अपनी शक्ति या माया के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है; अमूर्त का मूर्त विधान मात्र है। अभिव्यक्ति चित्त-शक्ति का स्वभाव है और यही आनन्द का व्यक्त स्वरूप है। कला के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता है। वह मन की स्वच्छन्द और स्वाभाविक अभिव्यक्ति-मात्र है। कलाकार को अभिव्यक्ति में सहज आनन्द का अनुभव होता है। कभी-कभी सृजन की प्रेरणाएँ पृथक् व्यक्तित्व धारण करके स्पष्ट हो जाती हैं और कभी-कभी ऐसी किसी भिन्न प्रेरणा का अनुमान असंभव और व्यर्थ प्रतीत होता है। यह कहना भी पूर्ण सत्य का अवलम्बन नहीं है कि कला में अतिरिक्त शक्ति

(Superfluous energy) की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रान्त और प्रायः शक्ति का नितान्त अभाव अनुभव करने वाला मानव भी कभी-कभी बहुत ही उत्कृष्ट कला-कृति को जन्म दे देता है। लेकिन इन सभी सिद्धान्तों में सत्यांश अवश्य है। अतृप्त वासना, प्रभुत्व की कामना, अमर रहने की इच्छा, अतिरिक्त शक्ति की अभिव्यक्ति और स्वान्तः सुखाय—इन सबमें कला की पृथक अथवा युगपत प्रेरणा है। स्वान्तः सुखाय सब में प्रमुख है। इसमें अभिव्यक्ति को मानव की सहज प्रवृत्ति मानने का सिद्धान्त अन्तर्हित है। कलाकार का "मन" जब मानव की दिव्यता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उस समय उसका स्वान्तः सुखाय भी मंगलमय हो उठता है और ऐसी कृति में स्वान्तः और परान्तः तथा आनन्द एवं मंगल का सामंजस्य हो जाता है। शेष सब प्रेरणाओं के अभाव में भी काव्य-सृजन हो जाता है। स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की मूलभूत कामना से कला का सृजन होता है और ये उपर्युक्त कारण कभी-कभी उसके सहायक हो जाते हैं। कभी-कभी मानव को इन्हीं में से किसी एक अथवा सबको मूल प्रेरणा मान लेने की भ्रान्ति होती है। साहित्य की प्रेरणा की इसी अनिर्वचनीय अवस्था की कल्पना करके ही सम्भवतः संस्कृत का आचार्य इस प्रसंग पर मौन रहा है। वह कवि की मानसिक स्थिति की ओर केवल काव्य के प्रयोजनों में साधारण संकेत-भर करता है। "सद्यःपरनिर्वृत्तये" को प्रधान प्रयोजन मानकर अभिव्यक्ति की सहज कामना के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहा है। फिर भी मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों में आंशिक सत्य अवश्य है। अन्तर्मन की शक्तियां मानव के व्यक्त जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। ये जीवन की परिचालक शक्ति की सहयोगिनी हैं। इन शक्तियों का विश्लेषणात्मक ज्ञान भी कलाकार के व्यक्तित्व का और कला-कृति के स्वरूप के लिए सहायक अवश्य होता है। ये सिद्धान्त भी कला की दृष्टि से नितान्त उपेक्षणीय नहीं हैं।

ऊपर साहित्य प्रेरणा के जिन सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है उनका मनोविश्लेषण-शास्त्र से सम्बन्ध हैं। साहित्य के सृजन और मानव-क्षेत्र में इन तीनों का सम्मिलित रूप मनोविश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के नाम से अभिहित होता है। इन्होंने काव्य-सृजन को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया हैं। एक समय था जब पाश्चात्य देशों में इसका बहुत मान था। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर काव्य के चरित्रों और वर्ण्य विषय की कल्पना होती थी। साहित्य-समीक्षा में भी इन सिद्धान्तों का पर्याप्त उपयोग किया गया है। स्वयं फ्रायड ने कई-एक उदाहरणों से मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को स्पष्ट किया है। उन्होंने इसको समीक्षा-पद्धति का रूप भी प्रदान कर दिया था। इन सिद्धान्तों ने साहित्य के एक विशेष रूप के सृजन की प्रेरणा भी दी है। पर यह प्रेरणा ठीक वैसी ही नहीं है जैसी छायावाद और प्रगतिवाद में है। इस

सिद्धान्त के मानने वाले कलाकारों ने तो उदाहरणों द्वारा इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही किया है, इन सिद्धान्तों के उदाहरण उपस्थित किये हैं। हिन्दी में अज्ञेय जी और पं० इलाचन्द्रजी जोशी के उपन्यास इसी विचारधारा से प्रभावित हैं। कला-कृति को समझाने के लिए उसके गूढ़ रहस्यों और सौन्दर्य के स्वरूप को समझकर रसास्वाद करने में यह ज्ञान उपयोगी भी है।

साहित्य-समीक्षा का यह सिद्धान्त यह मानता है कि काव्य-सृजन कवि के सामाजिक दायित्व का परिणाम नहीं, अपितु उसकी प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित है। उसमें चिन्तन, विवेक आदि का भी विशेष महत्व नहीं, वह तो प्रवृत्तियों का सहज उन्मेष मात्र है। रचनाकार के मस्तिष्क की दमित वासनाएं ही उपन्यास के प्रधान पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।[1] साहित्यकार की प्रेरणा प्रायः उपचेतन मस्तिष्क में ही रहती है। काव्य के पात्र, वर्ण्य-विषय, शैली, अप्रस्तुत विधान आदि सभी वस्तुओं पर इन दमित इच्छाओं अथवा प्रभुत्व की कामना और जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति के स्वरूप का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। ये ही कला-कृति के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कलाकार के चेतन मस्तिष्क की विचार-धारा और चेतन व्यक्तित्व से कला-कृति का सम्बन्ध मान्य हुआ। कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही कला मानी गई, इसलिए कला-कृति को ठीक ठीक समझने के लिए कलाकार के व्यक्तित्व को समझना आवश्यक प्रतीत हुआ। कलाकार की मानसिक स्थिति को समझ लेने के बाद काव्य कभी-कभी अधिक गूढ़ और आस्वाद्य प्रतीत होता है। जब मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ और मानव के व्यक्तित्व-निर्माण में उप-चेतन मस्तिष्क की शक्तियां भी प्रधान मानी जाने लगीं तथा स्वयं इन मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रतिपादकों ने अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण काव्य और कला के उदाहरणों से किया तो साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी मनोविश्लेषणात्मक के नाम से एक नवीन सम्प्रदाय की उद्भावना हो गई।

साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में इस सिद्धान्त की भी उपयोगिता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि कलाकार को सृजन के लिए ये प्रेरणाएँ भी जिनका प्रतिपादन इस सम्प्रदाय में हुआ है, कभी कभी बाध्य करती हैं। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में काव्य के कुछ नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। दूसरे जब मानव का व्यक्तित्व उपचेतन वासनाओं से अत्यधिक प्रभावित होता है (यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय) तो कलाकार के व्यक्तित्व को समझने के लिए इन सिद्धान्तों का

1 That the chief figures in a great novel are unconcious projections of unreconciled factors in authors own charectre.
The Dictionary of Wold Literature. p. 329.

उपयोग भी आवश्यक है। समीक्षा की दृष्टि से इसका उपयोग आवश्यक है— पर हर स्थान पर इसी का उपयोग करना, प्रत्येक कलाकार में केवल दमित वासनाओं के अन्वेषण की आलोचना करना दुराग्रह-मात्र है। कलाकार के उपचेतन मस्तिष्क का अध्ययन उसके व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में ही सहायक है, उससे काव्य के कुछ स्थलों के स्वरूप और गूढ़ता स्पष्ट अवश्य हो जाते हैं पर काव्य के रसास्वाद में ये सिद्धान्त बहुत दूर तक सहायक नहीं होते। क्यों किसी को एक 'रस' अधिक प्रिय है? उसमें उसे अधिक तन्मयता का क्यों अनुभव होता है? आदि प्रश्नों को कभी-कभी प्रस्तुत वासनाओं की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या से कुछ सुलझाया जा सकता है। समीक्षा का प्रमुख रूप तो स्वयं रसास्वाद करना और पाठकों को कराना है। उनमें इसका उपयोग सीमित है। काव्य-सौष्ठव के स्वरूप और उसके प्रसाधनों का अनुभूतिमय विश्लेषण ही समीक्षा का प्रकृत क्षेत्र है। कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी परिस्थिति आदि का विश्लेषण, काव्य का नैतिक आधारों पर अध्ययन आदि तो समीक्षा के गौण रूप हैं। इस दृष्टि से मनोविश्लेषण-शास्त्र का समीक्षा से गौण और परोक्ष सम्बन्ध-मात्र है। उपचेतन मस्तिष्क की वस्तु होने के कारण समीक्षा में इन सिद्धान्तों का उपयोग बहुत ही दूर की वस्तु है। इस समीक्षा पद्धति में व्यापक एवं सार्वदेशिक मानदण्ड तथा साहित्य-दर्शन देने की क्षमता नहीं है। सब प्रकार के साहित्य की महत्ता का समुचित मूल्यांकान इस पद्धति द्वारा सम्भव नहीं है। इसके द्वारा रचना प्रक्रिया, वस्तु के स्वरूप, शैली आदि पर एक विशेष दृष्टि अवश्य डाली जा सकती है। यह पद्धति कलाकार की मनोवृत्तियों के विकार अथवा स्वस्थता को समझने के लिए अवश्य उपादेय है। यह साहित्य में विकृत मनोवृत्तियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के अवरोध में भी सहायक हो सकती है। फिर इसमें अन्य पद्धतियों के से प्रौढ़ आधार एवं विशाल आयाम नहीं माने जा सकते हैं।

पाश्चात्य जगत् की अन्य साहित्यिक प्रगतियों की तरह इस सम्प्रदाय ने भी हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है। सृजनात्मक क्षेत्र में इन सिद्धान्तों का उपयोग सामान्यत: सभी विधाओं में और विशेषत: कहानी, उपन्यास आदि में हुआ है। प्रभुत्व-कामना तथा दमित काम-वासना के उग्र रूप से आक्रांत चरित्रों की कल्पना की गई है। व्यक्ति इन वासनाओं से प्रेरित होकर क्या करता है, यह दिखाना ही इन कथाओं और उपन्यासों का प्रधान लक्ष्य है। इन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर हिन्दी के एकाध कहानीकार एवं उपन्यासकार ने माता-पिता के प्रति रति के उन्मुक्त और अश्लील वर्णन वाले वर्ण्य-विषयों का भी आश्रय दिया है। उपन्यास के नायक अपने माता-पिता की रति का काम-वर्णन विस्तार पूर्वक बिना किसी हिचकिचाहट के करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है—मानो वे उसका आस्वाद ले रहे हैं। विमाता से पुत्र उत्पन्न करने पर

भी नायक लज्जित नहीं है। नायक नायिका शिशु प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं, जैसे मानों उनका व्यवहार पूर्णतः विहित है। दो-एक कलाकार तो रति-क्रीड़ा के नग्न चित्रों को रुचि सहित खींचते हैं। उन्होंने समाज के शिष्टाचार और शील का बिलकुल भी ध्यान नहीं रखा है। कहानी का नायक चुपचाप पीछे की खिड़की से नायिका के घर में घुस जाता है। उसके साथ जिस समय वह रति-क्रीड़ा में प्रवृत्त रहता है, उसी समय उस नायिका की सास आ जाती है। कहानी का नायक बहू को छोड़ कर सास को पकड़ लेता है और उसके साथ वही क्रीड़ा चलने लगती है। लेखक ने "साँस फूलनी" आदि कई-एक क्रियाओं द्वारा इस दृश्य में नग्न चित्रोपमता का सृजन किया है। स्वयं लेखक इस दृश्य का आस्वाद लेता हुआ प्रतीत होता है। यथार्थवाद के नाम पर अंकित ये चित्र मानव के संस्कृत रूप के विरूद्ध हैं। क्या मानव इतना पशु हो जाता है ? अगर मानव के इस पाशविक रूप की सत्यता में विश्वास करने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र हमें बाध्य भी कर दे तब भी यह भारतीय जीवन की मर्यादा के विरुद्ध हैं। फिर अगर यह किसी के विरुद्ध न हो तब भी इन चित्रों में समाज और व्यक्ति का कौन-सा कल्याण निहित है ? इसमें लेखक की विलासिता की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या है ? इनमें मानव की पशुस्तर की वासनाओं का उदात्तीकरण भी नहीं है। हिन्दी में मनोविश्लेषण-शास्त्र ने कुछ ऐसे ही श्लील-अश्लील के भेद का उन्मूलन करने वाले साहित्य को प्रेरणा दी है। हिन्दी में आज इस प्रकार की कहानियों और उपन्यासों का अभाव नहीं है। मनो-विश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित यह समीक्षा-सम्प्रदाय उच्चस्तरीय मानवता तथा काव्य के मूल में रहने वाली लोक-मंगल की भावना का उच्छेद करता है। इसने नैतिक धारणाओं को बहुत-कुछ शिथिल कर दिया है। पर दूसरी ओर इसने रूढ़ एवं संकुचित नैतिक काराओं से तथा तथाकथित अनैतिकता से नाक-भौं सिकोड़ने वाली प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाने वाला नया युग-बोध भी दिया। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित हिन्दी का साहित्य मूलतः रस का साहित्य न होकर अधिक से अधिक प्रसादन अथवा अवसादन का साहित्य ही हो सकता है।

अज्ञेय जी :

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग तो प्रायः सभी समालोचकों ने किया है। कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन इसी शैली से हुआ है। शुक्ल जी से लेकर परवर्ती-काल के सभी समालोचकों में इस शैली के दर्शन होते हैं। पर मनो-विश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएं हिन्दी में कम हैं। पं० इलाचन्द्र जी जोशी तथा अज्ञेय जी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य आलोचकों ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों की समीक्षा में कहीं-कहीं निर्देश-भर किया है। नगेन्द्रजी ने मनोविश्लेषण-

वादी साहित्य-सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है तथा उन सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन भी थोड़ा-बहुत किया है। पर नगेन्द्रजी मूलतः नूतन रसवादी हैं—यह मैं अन्यत्र प्रतिपादित कर चुका हूँ। अज्ञेय जी और जोशी जी को सृजन के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली है, इसका निर्देश पहले हो चुका है। समीक्षा में उन्होंने फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं सिद्धान्तों के आलोचन में हिन्दी साहित्य की—प्रधानतः आधुनिक छायावादी और प्रगतिवादी काव्य-धारा का विवेचन किया है। जोशी जी फ्रायड और एडलर—दोनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं और उन दोनों का ही उपयोग करते हैं, पर अज्ञेय जी ने विशेषतः एडलर के सिद्धान्तों को ही अपनाया है। अज्ञेय जी ने अपने 'त्रिशंकु' नामक निबन्ध-संग्रह में 'प्रभुत्व कामना' और क्षति-पूर्ति के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों का उपयोग उनकी प्रयोगात्मक आलोचना में भी हो गया है। अज्ञेयजी कहते हैं कि व्यक्ति में जब अपनी "व्यक्ति-सत्ता' की अनुभूति जाग्रत होती है, तब वह अपने आपको एक सन्तोषजनक समाज का अंग अनुभव करना चाहता है। जब व्यक्ति की महत्वपूर्ण कृतियां समाज की मान्यताओं के अनुकूल घोषित की जाती हैं, तभी वह अपने आपको एक सन्तोषप्रद समाज का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार करता है। अगर उसके व्यक्तित्व और कृतियों को समाज की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती है, तो उसमें एक विद्रोह जाग्रत हो जाता है। अगर व्यक्ति प्रतिभावान है तो वह रूढ़िग्रस्त, ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों में हड़कम्प उत्पन्न कर देता है, अन्यथा उसमें केवल एक भूख, एक अतृप्ति, एक दोहृद-मात्र जाग्रत होता है। कभी-कभी मानव अपनी इच्छाओं और रुचियों के लिए अतीत से स्वीकृति प्राप्त करता है। इस स्वीकृति के मूल्य के रूप में अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर, अपनी कुछ इच्छाओं को समाज के अनुकूल बदलकर स्वीकृति का मूल्य भी चुकाता है, पर जब उसके मर्म का स्पर्श होने लगता है, तब वह विद्रोह कर उठता है। व्यक्ति परिस्थितियों के अनुकूल बनता है, उनसे संस्कार ग्रहण करके उनको अपने स्वरूप का अंश बनाता रहता है। पर एक वस्तु उसके व्यक्तित्व की प्राण-वायु होती है, यही उसकी मौलिकता का घनीभूत रस है. यह अंश परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बदल सकता। यही अंश स्वीकृति चाहता है।[1] इसी अंश में व्यक्ति की प्रभुत्व-कामना का रहस्य गर्भित है। इस अंश की अस्वीकृति ही उसमें अनुपयोगिता और हीनता का भाव जाग्रत करती है। वह अंश विद्रोह करता है, अशक्त होने पर इसी के कारण दोहृद उत्पन्न होता है। इसी में उन्नयन

१—अज्ञेय: 'त्रिशंकु,' 'परिस्थिति और साहित्यकार' पृष्ठ २८-२०।

(Sublimation) और क्षति-पूर्ति की प्रेरणा है। इसकी उपयोगिता की समाज द्वारा स्वीकृति को ध्यान में रखकर अज्ञेय जी कला के स्वभाव का निरूपण करते हैं। "कला का सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[१] मानव जीवन के एक क्षेत्र की अनुपयोगिता की भावना की क्षति-पूर्ति किसी अन्य क्षेत्र में करता है। शारीरिक अथवा अन्य कारणों से समाज के लिए साधारणतया अनुपयुक्त होने पर, मानव अपनी उपयोगिता को असाधारण क्षेत्रों में सिद्ध करता है। वह अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए अपनी प्रभुत्व की कामना के लिए नवीन क्षेत्रों का निर्माण कर लेता है, समाज की नवीन उपयोगिताओं का सृजन कर लेता है। अज्ञेय जी का कहना है कि कला भी एक इसी प्रकार की क्रिया है। मानव-सभ्यता की आदिम अवस्था में समाज और परिवार के अनुपयुक्त मानव को अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के प्रयास ने ही कला को जन्म दे दिया। सौन्दर्य-बोध, जो कला का प्राण है, इसी प्रकार की नवीन सृष्टि है। अज्ञेयजी लिखते हैं—"हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है, उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी।"[२] यह विवेचन स्पष्टतः एडलर के सिद्धान्तों से प्रभावित है, पर अज्ञेय जी ने फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का भी उपयोग किया है। वे वासनाओं के दमन और उन्नयन (Sublimation) के सिद्धान्त का भी कला से सम्बन्ध मान रहे हैं। एडलर और फ्रायड के सिद्धान्त—दो विरोधी सम्प्रदायों से सम्बद्ध नहीं हैं, अपितु उन्हें परस्पर में पूरक कहना अधिक समीचीन है। इसीलिए काव्य के क्षेत्र में इनका समन्वित रूप ही गृहीत हुआ है। अज्ञय जी की मान्यता है कि सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती है। पर यहां पर लेखक नीति का अर्थ आचार मात्र (मॉरलिटी) नहीं, अपितु उससे अधिक के अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। अज्ञेय जी का चिन्तन अभी विकासशील है। वे अब व्यक्ति-सत्ता की स्वीकृति के स्थान व्यक्तित्व एवं भाव से मुक्ति को काव्य का प्रयोजन मानने लगे हैं। उन्होंने साहित्य को सामाजिक परिस्थितियों में रखकर भी देखा है पर वह दृष्टि भी मार्क्सवादी और हिन्दी साहित्य की परम्परागत ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भिन्न तथा सम्प्रदाय-मुक्त है। अज्ञेयजी नयी समीक्षा के उन्नायक कवि-चिन्तकों में से हैं। यह चिन्तनधारा

१—अज्ञेय : त्रिशंकु—'कला का स्वभाव और उद्देश्य', पृष्ठ २३।
२—वही, पृष्ठ २६।

भी इस चिन्तन से सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी का, विशेष प्रभावों के कारण विशेष दिशा में विकास है—इस पर आगे विचार किया जायेगा।

श्री इलाचंद्र जी जोशी

जोशी जी के कला-विवेचन में भी फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों का उपयोग हुआ हैं। उन्हें कला-सम्बन्धी फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग करने का अवसर मिला है। फिर भी एडलर का सिद्धान्त उन्हें अमान्य नहीं है, इसलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं हुई है। छायावादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए जोशीजी ने फ्रायड के अतृप्ति तथा एडलर के प्रभुत्व कामना के सिद्धान्त का विवेचन किया है। कला का दमित वासनाओं से सम्बन्ध स्थापित करते हुए जोशी जी लिखते हैं: "वहां वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से ऊपर को उठ नहीं पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती हैं। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी "अज्ञात शक्ति" की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है। कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं।"[२] वे मानते हैं कि जैसे स्वप्न में मानव की वासनाएं अपना रूप बदल कर आती हैं, वे अपने आपको कुछ प्रतीकों के आवरण में अभिव्यक्त करती हैं, उसी प्रकार कला-कृति भी कलाकार की मानसिक स्थिति की ही रूपकों के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है। कला और स्वप्न के साम्य का सिद्धान्त भी फ्रायड की ही देन है। जोशी जी इसी आधार पर अस्पष्टता और रूपक रस को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं। जोशी जी ने हीनता के भाव की क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त का भी कला से सम्बन्ध माना है। इस प्रकार इनको भी इन दोनों मनोविश्लेषक आचार्यों के सिद्धान्त मान्य हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के सभी अंगों का विशद विवेचन हुआ है। फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए जिन तत्वों का निर्देश हो चुका है वे सभी इनको मान्य हैं। हिन्दी-साहित्य की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति के ये दोनों व्यक्ति प्रतिनिधि हैं। इन्होंने अपने विवेचन से यह प्रमाणित कर दिया कि "समीक्षा में मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पांडित्य-प्रदर्शन की आकांक्षा-मात्र नहीं है।" ये सिद्धान्त काव्य के वास्तविक स्वरूप के निरूपण तथा उसके स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने के लिए प्रेरणा देने में सहायक

१—वही।
२—विवेचना, पृष्ठ ५४।

हैं। काव्य में अस्वस्थ वृत्तियों की प्रेरणा का उद्घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर ले चलना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है।" जोशी जी इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं : "···इसी प्रकार किसी कलाकार की किसी कृति से उनके मन के भीतर के द्वन्द्व, उनकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक प्रवृत्तियों के ताड़ना अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।"[1] आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवात्मा के अन्तःपुर की ऐसी कुञ्जी हमें दे दी है कि अब "स्वर्गीय" अथवा "प्रगतिशील" भावापन्न कलाकार के अन्तर में निहित वास्तविक मनोवृत्तियों का पर्दा-फाश बड़ी सरलता से हो सकता है।"[2] हम पीछे देख चुके हैं कि जोशीजी सौन्दर्यान्वेषी हैं। वे काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य ही मानते हैं, उनकी दृष्टि से काव्य का लक्ष्य प्रयोजनातीत आनन्द है। यह सौन्दर्य सृष्टि द्वारा ही सम्भव है। स्थूल नैतिकता से इसका सम्बन्ध नहीं है।"[3] पर उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल का भी अंतर्भाव है। जोशीजी 'कामायनी' में इस मंगलमय भावना को ओतप्रोत मानते हैं और उसको साहित्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड भी समझते हैं। वे साहित्य की चिरन्तनता इसी तत्व पर आश्रित मानते हैं। साहित्य में चिरन्तन एवं मंगलमय सौन्दर्य की सृष्टि प्रत्येक कलाकार नहीं कर सकता है। जोशीजी मनो-विश्लेषणात्मक समीक्षा का उद्देश्य यह अध्ययन करना मानते हैं कि किस कलाकार के व्यक्तित्व में स्वस्थ साहित्य-सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है? शमित इच्छाओं का अध्ययन एवं हीनता की भावना की क्षति पूर्ति का प्रयास अगर स्वस्थ दिशा में अग्रसर है तो कलाकार महान् कृति उपस्थित कर सकता है, अन्यथा आपाततः मधुर होते हुए भी उसमें जीवन-शक्ति का अभाव ही रहता है। जीवन की महान् कल्पना कलाकार के अवचेतन मन की भावनाओं के स्वस्थ विकास द्वारा ही नियंत्रित होती हैं। अज्ञेय जी सत्-साहित्य के स्वरूप तथा कलाकार के अवचेतन मन से उसका सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं: "यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्य पूर्वक अपनी आन्तरिक मांग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और जुगुप्सा की भावनाएं जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है तो उसकी रचनाएं महान् साहित्य बन सकेंगी।···यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय,

१—विवेचन, पृष्ठ ५५।

२—वही, पृष्ठ ५५।

३—'त्रिशंकु, पृष्ठ ३०-५१।

घबराहट और पलायन की भावना जगाई है तब उसकी रचनाएं मधुर होकर भी घटिया रहेंगी।"[1] अज्ञेय जी मां के आँचल के भीतर के मधुर स्वप्नों को शैशवोचित चेष्टा कहते हैं, उनमें जीवन-शक्ति का अभाव मानते हैं। ये आलोचक स्थूल उपयोगितावाद या नीति के उपदेश को काव्य का उद्देश्य नहीं मानते । प्रगतिवाद के विरोध का एक यह भी कारण है । लेकिन दूसरी तरफ विलासिता की तृप्ति करने वाली सौन्दर्य-साधना को भी वे काव्य का स्वस्थ और प्रौढ़ स्वरूप नहीं मानते। छायावाद के कतिपय कवियों में जीवन का जो पलायनवादी दृष्टिकोण है, उसके मूल में वासना ही है। वह जीवन का स्वस्थ संदेश देने में असमर्थ है, इसीलिए उन्होंने उसका भी विरोध किया है। जोशीजी ने सामंजस्य के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य पर हम पहले विचार कर चुके हैं। जोशीजी ने नाशमयी और निर्माणमयी शक्तियों के समन्वय में स्वस्थ साहित्य की प्रेरणा मानी है। जोशीजी का कहना है कि इसी स्वस्थ प्रेरणा-शक्ति से प्रभावित होकर जो कवि लिखता है वह युग-युगान्तर में जीवित रह सकता है ।[2] वे मानते हैं कि कला पाठक के लिए भी जीवन को सहनीय बनाती है, अर्थात् उसे संघर्ष की शक्ति प्रदान करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन लोगों ने काव्य का उद्देश्य जीवनी-शक्ति प्रदान करना माना है। इनकी दृष्टि से यही काव्य की नैतिकता है । यह काव्य के प्रयोजन का स्वस्थ दृष्टिकोण है। जोशीजी सौन्दर्यान्वेषी समीक्षक हैं, अतः उनकी तत्सम्बन्धी साहित्यिक मान्यताओं तथा व्यावहारिक समीक्षा पर हमने इसी प्रबन्ध में अन्यत्र उसी के प्रसंग में विचार किया है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र ने काव्य के स्वस्थ और अस्वस्थ स्वरूप का अनुमान कलाकार के व्यक्तित्व के आधार पर किया है। अगर कलाकार का व्यक्तित्व पलायनवादी और विध्वंसक है तो उसका निर्मित साहित्य भी अस्वस्थ और विध्वंसक ही हैं। वे ऐसे साहित्य के प्रोत्साहन के घोर विरोधी हैं। समीक्षा के क्षेत्र में मनोविश्लेषण-शास्त्र की यह उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती, पर केवल उसी दृष्टिकोण को चरम सत्य मान लेना साहित्य और कला के उन्मुक्त वातावरण को कुण्ठित करना है।

यह समीक्षा-पद्धति साहित्य-सृजन को वैयक्तिक विवशता का परिणाम मानती है। देश, काल की परिस्थितियां कलाकार को प्रभावित अवश्य करती हैं, पर साहित्य-सृजन से उनका सम्बन्ध परोक्ष हैं, सीधा नहीं। इनका कहना है कि समाज या देश के सुधार की भावना, उनके प्रति कर्त्तव्य आदि तो कलाकार के हृदय को स्पर्श करके उसकी

१—साहित्य सर्जना, पृष्ठ १४।
२—विवेचना, पृष्ठ ६०।

अनुभूति को तीव्र करने में ही सहायक होते है, पर कला का वास्तविक हेतु वैयक्तिक विवशता ही है। साहित्य को प्रेरणा देने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। "साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती। कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति, उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता उसे निश्चित करती है।" "कलाकार की प्रेरणा-शक्ति एक निगूढ़ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।"[1] जोशी जी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में बुद्धि के आभिजात्य (aristocracy) को आवश्यक मानते हैं। काव्य में वे व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत चेतना का महत्व स्वीकार करना चाहते हैं।[2] वैयक्तिकता और आभिजात्य का तात्पर्य कला को उद्देश्यहीन बनाना नहीं है। कला के उद्देश्यों पर अभी विचार हो चुका है। अज्ञेय जी कला को पथ-भ्रष्ट होने से बचाने का उत्तरदायित्व आलोचक पर ही मानते हैं।[3]

हिन्दी मे मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के समालोचकों ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर विचार करते हुए कला की वैयक्तिकता और जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता के सिद्धान्तों को अपनी आलोचना के मान के रूप में ग्रहण किया है। जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता ही कला की श्रेष्ठता का मानदण्ड माना गया है। जहां पर उन्हें इस प्राण-शक्ति का अभाव प्रतीत हुआ है, वहां उन्होंने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर उसके कारणों का अनुसंधान किया है। मनोविश्लेषण इन आलोचकों की शैली है पर काव्य की श्रेष्ठता की धारणा प्रायः सर्वमान्य कही जा सकती है। शुक्लजी तथा अन्य वैसे ही मूल्यवादी आलोचकों के सिद्धान्तों से यह बहुत भिन्न नहीं है। ये उनकी अपेक्षा स्थूल नैतिकता और चारित्रिकता के स्थान पर सौंदर्य और मंगल के सामंजस्य पर जोर देते हैं। साहित्य में प्राण-शक्ति खोजते हैं, उपदेश या विलासिता नहीं। इस दृष्टि से ये सौष्ठववादी, समन्वय के समर्थक हैं। यही कारण है कि इन आलोचकों ने छायावादी, प्रगतिवादी तथा इतिवृत्तात्मक—तीन वर्तमान काव्य-धाराओं का खंडन और समर्थन दोनों किया है। वे अविकल रूप में इनमें से एक के भी समर्थक नहीं हैं। इतिवृत्तात्मक कविता में जहां स्थूल उपदेश और केवल कथा-प्रवाह है, उसका समर्थन वे लोग नहीं कर सके। छायावाद के कलात्मक सौष्ठव की मुक्त कंठ से

१—विवेचना, पृष्ठ ६६।

२—साहित्य-सर्जना, पृष्ठ ५६-६०, ६४-६५

३—त्रिशंकु, पृष्ठ ७२।

प्रशंसा करते हैं, पर उसकी विलासिता-जन्य पलायनवादी प्रवृत्ति के घोर विरोधी हैं। प्रगतिवाद भी नग्न चित्रण के आवरण में इसी की तृप्ति कर रहा है, ऐसा उनका मत है। साहित्य का अर्थ की समस्याओं से गठबन्धन करना उसके स्वच्छन्द विकास के मार्ग को अवरुद्ध करना है। इनके अनुसार यह साहित्य में अस्वस्थ दृष्टिकोण को प्रश्रय देना है। जोशी जी के 'छायावादी और प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' नामक निबन्ध में यही दृष्टिकोण है। जीवन की विध्वंसक शक्तियों को प्रश्रय देने वाला साहित्य जोशीजी की दृष्टि से हेय और बहिष्कार के योग्य है। आधुनिक उपन्यासों के नायकों की इसी विलासिता की उन्होंने घोर निन्दा की है।[1] साहित्य को प्रधानतः व्यष्टिचित का कार्य मानने के कारण समष्टिचित्त को काव्य का कारण मानने वाले मार्क्सवादियों की धारणा का ये लोग कतई समर्थन नहीं कर पाये हैं।

जोशीजी छायावादी कवियों में स्वर्गीय कल्पनाओं का कारण जीवन-संघर्ष की अक्षमता-जन्य आत्मग्लानि मानते हैं। इन कवियों में विश्व-कल्याण की भावना का अभाव है। वे अपनी दाम्भिकता और विकृत मनोभावों की तृप्ति-मात्र करते हैं। छायावादी कवियों में समाज पर अपनी धाक जमाने की भावना है। उस शक्ति-प्राप्ति की आकांक्षा के भीतर से उनकी पुरुषार्थ-हीनता भी स्पष्ट झांक रही है। "अहंकार-प्रसूत शक्ति-प्राप्ति की मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। पर इस अहंभावापन्न शक्ति के बाह्याडम्बर के भीतर पुरुषार्थ हीनता का भयंकर पोपलापन छिपा हुआ रहता है।"[2] "आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश अतृप्ति, या कह लीजिये लालसा के इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।...अपनी स्त्री का आदर्शीकरण, स्त्री के नाम से कहानियां छपाकर लेखिका स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति, ये सब प्रवृत्तियाँ इसी प्रकार समझी जा सकती हैं—लेकिन ये सब हमारे साहित्य में व्यक्त होने वाली कुण्ठा का एक ही पहलू हैं।"[3] अज्ञेय जी भी अपने इन विचारों द्वारा जोशीजी के विचारों की पुष्टि कर रहे हैं। इन आलोचकों द्वारा प्रगतिवादी कविता के विरोध के कारणों में से सबसे प्रबल कारण उसमें जीवन की स्वस्थ शक्ति का अभाव ही है। हिन्दी का प्रगतिवाद भी कुछ कुण्ठाओं का ही परिणाम हैं। वे मानव के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, अपितु अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा तथा यथार्थता के नाम पर

१—विवेचना, पृ० ६० - ६१।
२—वही, पृ० ६३।
३—आधुनिक हिन्दी-साहित्य, पृ० २० - २१।

वासना-तृप्ति का प्रयास-मात्र हैं। जोशी जी के विचार में छायावादियों का अपने महत्व-स्थापन का दूसरा प्रकार ही प्रगतिवाद है। जोशीजी का प्रगतिवाद के सिद्धान्तों से नहीं अपितु व्यावहारिक क्षेत्र की उनकी अस्वस्थता से विरोध है: "छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धौंस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुयी सहज प्रवृत्तियों को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़ करके निर्द्वन्द्व हो उठे हैं।...समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुंचाने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप व्यक्त हुआ।...हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विद्रोही उद्‌गारों द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमांण्टक' रस का स्वाद पा रहे हैं जो छायावादी रस का अच्छा (सब्स्टीच्यूट) है।"[१]

यह पहले कहा जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक आलोचक साहित्य की श्रेष्ठता का माप मानव के कल्याण तथा उसके सांस्कृतिक विकास में सहयोग की क्षमता मानते हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर जोशी जी का पक्का विश्वास है कि मानव की अज्ञात चेतना की मनोवृत्तियां ही उसके जीवन को परिचालित करती हैं। सभ्यता के विकास के साथ मानव की पाशविक वृत्तियां अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। जोशी जी कहते हैं कि इन पाशविक वृत्तियों को अपने अज्ञात चेतन से उखाड़ फेंक देने में ही मानव का कल्याण है; उनका विध्वंसक रूप में विस्फोटन न होकर नियत रूप में स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करके प्रस्फुटन-मात्र हो।[२] उनकी यह मान्यता है कि व्यक्तिगत जीवन की समस्याएं ही विश्व की सब चीजों के मूल में हैं, इसलिए व्यक्ति की सारी प्रगति अज्ञात चेतना द्वारा ही प्रेरित है। व्यक्ति का स्वस्थ विकास ही इन समस्याओं का वास्तविक हल है। बाह्य परिस्थितियों को प्राधान्य देकर मानव-चेतन और अन्तर्विज्ञान की उपेक्षा में विश्व की समस्याओं का समाधान नहीं है, इसलिए वही साहित्य श्रेष्ठ है जो मानव के स्वस्थ विकास में सहायक है। अवचेतन मन का शास्त्रीय ज्ञान ही कलाकार को उन विषयों और शैली का निर्वचन करने में समर्थ

१—विवेचना, पृ० १६९ - १७०।
२—वही, पृ० १६४ - १७२।

करता है जिससे वह पाशविक वृत्तियों को दृढ़तर करने में इसी ज्ञान से समर्थ होता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित साहित्य-दर्शन की यह बहुत बड़ी उपादेयता है। इस विकास का अध्ययन मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर भी हो सकता है। साहित्य के प्रति इनकी सद्भावना है। अज्ञेय जी साहित्य को ही आलोचना का विषय मानते हैं, पर उसके सम्यक् अध्ययन के लिए कलाकार के व्यक्तित्व के अध्ययन की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं। वे कलाकार के मानस का, उसके अवचेतन मन की चेतनाओं का अध्ययन आवश्यक मानते हैं।[1] साहित्य में अवस्था वृत्तियों के अवरोध, बाह्य और अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य तथा स्वस्थ उन्नयन द्वारा साहित्य को मानव-कल्याण और स्वाभाविक विकास में सहायक बनाने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र को सहायक रूप में ग्रहण करना ही समीचीन है। प्रत्येक कलाकार या कलाकृति में दमित वासना अथवा प्रभुत्व-कामना का अस्वस्थ विकास के अनुसन्धान का साहित्य, समालोचना की दृष्टि से केवल साम्प्रदायिक है।

सर्जन एवं भावन—दोनों ही क्षेत्रों में मनोविश्लेषण शास्त्र ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है। इसने साहित्य को व्यक्तिनिष्ठ यथार्थवादी चेतना प्रदान की है। इससे नैतिकता सम्बन्धी रूढ़, संकुचित एवं जड़ धारणाओं का उन्मूलन हुआ तथा नीति की उदार कल्पना के लिए भूमि तैयार हुई है। कवि व्यक्तित्व के स्वस्थ अथवा अस्वस्थ दिशा में विकास, काव्य वस्तु के चुनाव, प्रतीक विधान आदि को समझाने के लिए एक चिन्तन-पद्धति भी इस सम्प्रदाय से प्राप्त हुई। पर इसने हिन्दी में साहित्य-दर्शन एवं समीक्षा की किसी स्थायी एवं सर्वांगीण पद्धति को जन्म नहीं दिया। आज हिन्दी की दृष्टि से यह शैली भर मानी जा सकती है। इस समीक्षा के विभिन्न तत्व अन्य पद्धतियों द्वारा आत्मसात् अवश्य कर लिए गए हैं। अज्ञेय जी ने नई समीक्षा पद्धति की आधारशिला रख दी है, अतः वे विशुद्ध मनोविश्लेषण शास्त्री नहीं कहे जा सकते हैं। अब तो वे साहित्य की मूल चेतना व्यक्तित्व का उद्घोष नहीं, अहं का विलय मानते हैं। साहित्य को निर्वैयक्तिकता का साधन मानने लगे हैं। इस प्रकार मनोविश्लेषण-शास्त्र से दूर हट गए हैं। जोशी जी में भी सौन्दर्यवादी एवं समन्वयवादी समीक्षात्मक चेतना अधिक प्रखर हुई है। वे मनोविश्लेषण-शास्त्र की सीमाओं के प्रति अधिक सजग हैं। इस प्रकार अद्यतन परिस्थितियों में हिन्दी में मनोविश्लेषण शास्त्र पर आधारित समीक्षा पद्धति न रहकर शैली मात्र बनती जा रही है।

१—देखिये—'रूढ़ि मौलिकता।'

: १२ :

[illegible]

साहित्य और दर्शन का चिर सम्बन्ध रहा है। साहित्य की चिरन्तनता, महत्ता और विकास-क्षमता उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही निर्भर है। जिस साहित्य का सांस्कृतिक सन्देश व्यापक और मानव-मात्र के कल्याण के लिए है, वह उतना ही महान एवं दीर्घायु होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रौढ़ और व्यापक जीवन-दर्शन वाला साहित्य ही चिरस्थायी होता है। प्रत्येक संस्कृति का एक अपना जीवन-दर्शन है। वही उसका प्राण-स्पन्दन है। दर्शन वह शक्ति-केन्द्र है जहां से जाति की सारी सांस्कृतिक क्रियाओं का परिचालन होता है। साहित्य भी मानव की एक प्रधान और महत्वपूर्ण सांस्कृतिक सम्पत्ति है। संस्कृति और साहित्य का यह दृढ़ और अभिन्न सम्बन्ध तथा चिरञ्जीवी संस्कृति के साहित्य की चिरन्तनता का नियम सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। 'रामायण', 'महाभारत' आदि काव्यों की इतनी दीर्घ आयु और लोकप्रियता का श्रेय हिन्दू-संस्कृति तथा उसके जीवन-दर्शन को ही है। दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव में अथवा संकुचित एवं अल्पजीवी जीवन-दर्शन पर आधारित होने से साहित्य कपड़ों के फैशन की तरह क्षणस्थायी होता है। वह कुछ समय तक लोक-रंजन करके समाप्त हो जाता है। आज का प्रगतिवादी साहित्य भी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन, जीवन की समस्याओं के नवीन समाधान और जीवन के नवीन मूल्यों के साथ साहित्य क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। इसकी भौतिकतावादी विचारधारा ने आज के युग में अपनी उपादेयता के कुछ पुष्ट प्रमाण अवश्य दिये हैं। पर भारतीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में

इसके स्थायित्व का अनुमान समय-सापेक्ष है। यह अभी भविष्य के गर्भ में है कि इसके सांस्कृतिक संदेश में मानव-कल्याण की कितनी क्षमता है। दर्शन, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ मार्क्सवाद है, वही साहित्य के क्षेत्र में 'प्रगतिवाद' के नाम से अभिहित हो रहा है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कलात्मक अभिव्यक्ति को 'प्रगतिवाद' कहना उसका साम्प्रदायिक और संकुचित अर्थ में प्रयोग अवश्य है। पर ऐसा ही कुछ लोगों को अभिप्रेत है, यह कहना भी गलत नहीं है। इसी संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ में मार्क्सवादी जीवन दर्शन के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता, उपादेयता और स्थायित्व का मूल्यांकन करना हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के विकास में साहित्य की देन का, किसी सम्प्रदाय-विशेष के जीवन-दर्शन से न बंधकर उदार दृष्टिकोण से मूल्यांकन, व्यापक अर्थ में प्रगतिवादी समीक्षा कही जा सकती है। इस व्यापक अर्थ में समीक्षा के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की मान्यताओं को ही चरम सत्य मानकर चलना आवश्यक नहीं। वह आवश्यकतानुसार गान्धीवाद, अध्यात्मवाद आदि दर्शनों का भी उपयोग कर सकती है। भारत का तो चिर विश्वास रहा है कि मानव का वास्तविक कल्याण भौतिकवाद से नहीं, अध्यात्मवाद से ही सम्भव है। भारत का अध्यात्मवाद भौतिकतावाद का विरोधी कभी नहीं रहा। इसके मूल जीवन-दर्शन में दोनों का समन्वय है। सौन्दर्य कला एवं साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण में कला-कृति सामाजिक वस्तु मानी जाती है। कला के निर्मायक तत्त्व—प्रेरणा, उसके मूल्य आदि सभी कुछ समाज-सापेक्ष एवं समाज-नियंत्रित होते हैं। यह साहित्य के प्रगतिवादी दृष्टिकोण की मूल आधार-भूमि है। पर यह अनिवार्य नहीं कि मार्क्सवाद ही इसका जीवन-दर्शन हो, अन्य समाजशास्त्रीय दृष्टियां भी हो सकती हैं – जैसे द्विवेदी, पन्त जी आदि की हैं। पर हिन्दी में प्रगतिवाद का मार्क्सवाद के साथ गठबन्धन हो गया है। इसलिए प्रगतिवाद के व्यापक स्वरूप को समझने के लिए भी पहले साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का परिचय आवश्यक है।

मार्क्स-दर्शन—मार्क्स दर्शन का नाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस नाम से ही इसका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट है। तर्क, वैज्ञानिक तथा द्वन्द्वात्मक वास्तविक सत्य का अनुसन्धान इस दर्शन का उद्देश्य है। मार्क्स जगत् के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मानता है। हीगेल का विरोध करते हुए मार्क्स ने भूत को ही चरम सत्य तथा चेतना बुद्धि विचार अथवा आत्मा को उसी का विकसित रूप कहा है। मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक जगत् का मानव-मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही

विचार है। हीगेल ने प्रत्यय को सत्य तथा भौतिक जगत् को उसी की बाह्य अभिव्यक्ति माना था, पर मार्क्स का दर्शन ठीक इसके विपरीत है।[1] ऐंजिल्स ने तो यहाँ तक कह दिया है कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष जगत् ही सत्य है और इन्द्रियातीत प्रतीत होने वाली चेतन-सत्ता तो इसी का परिणाम-मात्र है। आत्मा भूत तत्व के विकसित रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] मार्क्स ने भी इसी सत्य का समर्थन करते हुए मस्तिष्क को पदार्थ का चरम विकास कहा है और दृश्यमान भौतिक जगत् को ही परम सत्य माना है। मार्क्स के अनुसार भूत की प्रकृति द्वन्द्वात्मक है, यह द्वन्द्वात्मक उससे विकसित तत्वों में, अवस्थाओं में रहती है। भूत द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया निरन्तर विकासशील है। इस दर्शन के अनुसार जगत् की कोई भी वस्तु पूर्णतः स्वतन्त्र और शेष जगत् से नितान्त विच्छिन्न सत्ता वाली नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व शेष जगत् पर आश्रित है, इसलिए उसका ज्ञान भी शेष जगत् के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। यह सारा वस्तु-जगत् चिर परिवर्तनशील है। इसका एक अणु-उभेक्षण भी स्थिर नहीं माना जा सकता। जगत् की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्व उपस्थित रहते हैं और उनका शाश्वत संघर्ष चलता रहता है। वस्तु में ही उनके विनाश के तत्व भी विद्यमान होते हैं। वस्तु के दो पक्ष हैं—एक मरणशील (निगेटिव) और दूसरा विकास-मान (पोजीटिव)। वस्तु का प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) ही अपने विरोधी तत्वों के नैसर्गिक और आंतरिक संघर्ष के फलस्वरुप प्रत्यवस्थान (एण्टीथीसिस) में परिणत होता है। पर उनमें संघर्ष बराबर चलता रहता है और एक अवस्था ऐसी आती है जब वस्तु के दोनों पारस्परिक विरोधी तत्वों का समन्वय हो जाता है। इसी अवस्था को मार्क्सवादी साम्यावस्थान (सिंथीसिस) कहता है। कुछ काल तक वस्तु इस अवस्था में रहती है, लेकिन धीरे-धीरे उसमें पुनः क्षोभ प्रबल हो जाता है। पूर्ववत संघर्ष फिर चलने लगता है और इस प्रकार नवीन अवस्थान-क्रम की सृष्टि हो जाती है, सारा वस्तु-जगत् इन्हीं अवस्थाओं के चक्र में चिर विकासमान है। एक अवस्था का

1 To Hegeal......the real world is only the external phenomenal form of idea. With me the contrary, the idea is nothing else than the material world reflected by human mind and translated into form of thought, (Karl Marx : Capital volume 1, P. 30)

2 The palpable world which perceive with our senses to which we belong, ourselves, is the only real world. Our conciousness and thought however super-sense like they may seem, are the product of matter; spirit is only higher product of matter. This is pure materialism.

धन-तत्व (पौजीटिव) दूसरी अवस्था में ऋण (निगेटिव) तथा ऋण-धन हो जाता है। मार्क्स परिवर्तन को निरर्थक-चक्र नहीं मानता, उसे विकास का सिद्धान्त ही मान्य है। वस्तु का परिवर्तन हमेशा ही उन्नयन और उत्कर्ष का हेतु है। उसके परिमाण में वृद्धि होती है और परिमाण की वृद्धि उसके तात्विक तथा गुणात्मक अन्तर का कारण बन जाती है। प्रत्येक वस्तु की परवर्ती अवस्था अपनी पूर्ववर्त्ती से अधिक प्रौढ़, विकसित और उत्तम होती है।[1] स्टालिन के शब्दों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वस्तु-तात्विक और आन्तरिक संघर्ष का अध्ययन ही है। विरोधों के संघर्ष का ही दूसरा नाम विकास है। परिवर्तन का तात्पर्य क्रमिक विकास नहीं है, अपितु क्रांति है। एक अवस्था दूसरी अवस्था में सहसा परिवर्तित हो जाती है, धीरे-धीरे क्रमिक विकास से नहीं। इस समन्वय के परिणामस्वरूप एक तीसरी वस्तु उत्पन्न हो जाती है जो पूर्ववर्ती वस्तु से भिन्न होती है। वस्तु का विकास अपने पूर्वरूप को पूर्णतः साथ लेकर नहीं होता। वह तो पहले उसका समूल विनाश कर देता है, तब एक नवीन वस्तु का रूप धारण करता है। वस्तु अपने पूर्ववर्ती स्वरूप से परिणाम और मूलभूत तत्व—दोनों में पूर्णतः भिन्न हो जाती है। विनाश पर ही नवीन स्वरूप या अवस्थान की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार इस दर्शन का मार्ग क्रमिक विकास का नहीं, विध्वंसात्मक क्रान्ति का है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के आधार पर समाज के विकास की प्रक्रिया की व्याख्या ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाती है। मानव की चेतना पर मानव का अस्तित्व निर्भर नहीं है, अपितु उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्माण करता है।[2] समाज की भौतिक एवं आर्थिक अवस्थाओं का समाज के स्वरूप एवं विकास पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। उसके नीति-शास्त्र, राजनीति, सौन्दर्य-शास्त्र आदि सभी शास्त्रों के नियम तत्कालीन भौतिक जीवन के स्वाभाविक एवं अपरिहार्य परिणाम हैं। वे नियम ही उस काल के जीवन के लिए सत्य हैं। किसी भी नियम का वस्तु की तरह अपनी परिवृत्तियों से विच्छिन्न करके मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सारे पदार्थ-जगत् की तरह

1 In its proper meaning, dialectics is the study of the contradiction within the essence of things.... ...Development is the struggle of opposits. (Stalin : The problems of Leninism P. 573)

2 It is not the conciousness of men that determines their being but on the contrary, their social being that determines their concious-ness. (Karl Marx. Quoted by Stalin)

सारा मानव-जीवन और समाज भी चिरन्तन परिवर्तनशील और प्रवहमान है, इसलिए जीवन का कोई भी नियम शाश्वत सत्य नहीं है। नीति-शास्त्र या समाज-शास्त्र का कोई ऐसा सर्वकालीन मानदण्ड नहीं हो सकता जो हमेशा के लिए उपादेय माना जा सके। समाज और शासन की कोई ऐसी पद्धति सम्भव ही नहीं है जो हमेशा श्रेयस्कर हो। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध चिर-परिवर्तनशील है। नैतिकता की धारणा भी हमेशा एक नही बनी रह सकती है, इसलिए मार्क्सवाद शाश्वत मूल्यों की सम्भावना को ही अस्वीकार करता है। सामन्त-काल की सामाजिक और नैतिक मान्यताएं, राजनीतिक संस्थाएं और शासन-पद्धति उस काल के भौतिक जीवन के सहज परिणाम होने के कारण उस काल के लिए तो पूर्णतः उपयुक्त थीं, पर भौतिक जीवन की अवस्थाओं के बदल जाने के बाद ये सब विचार-धाराए और धारणाएं अनुपयुक्त हो गईं। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना के बाद ये ही विकास के प्रतिगामी तत्व हो गए। भौतिक जीवन पर देश-काल की परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव होता है, पर जीविकोपार्जन के प्रकार एव उत्पादन की पद्धति का तो सबसे अधिक नियन्त्रण रहता है। समाज और मानव-जीवन का सारा ढांचा ही इसी पर आश्रित है। किसी समय की विहित दास-प्रथा आज की आर्थिक परिस्थितियों में अनुपयोगी ही नहीं अपितु भौतिक समृद्धि में भी बाधक है, अतः वह आज अवैध और अनैतिक है,पर कुछ द्वीपों की आर्थिक स्थिति आज भी इसी के उपयुक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव का पारस्परिक सम्बन्ध, उसका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक धारणाएं—सभी कुछ उपार्जन की पद्धति पर आश्रित हैं। सारी संस्कृति की मूल-प्रेरणा-शक्ति अर्थ-व्यवस्था ही है। इसलिए साहित्य का नियन्त्रण भी इसी के द्वारा होता है। अर्थ-व्यवस्था और उपार्जन पद्धति चिरपरिवर्तन शील हैं, इसीलिए इनके साथ सारा जीवन-दर्शन ही बदलता जाता है। उपार्जन-पद्धति के साथ उत्पादकों के पारस्परिक सम्बन्ध बदल जाते हैं और उससे सारे सामाजिक नियम नवीन हो जाते हैं। उत्पादकों का पारस्परिक सम्बन्ध भी उपार्जन-पद्धति के परिवर्तन का कारण बनता है। इनका परस्पर में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

साहित्य और अर्थ :

पहले हम साहित्य का युग और समाज के साथ सम्बन्ध दिखा चुके हैं। साहित्य की ऐतिहासिक व्यवस्था में टेन आदि ने साहित्य को युग, परिवृत्ति और जातीयता की अभिव्यक्ति-मात्र कहा है। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या में भी युग और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध सिद्धान्ततः मान लिया गया है। एडवर्ड अपवर्ड साहित्य के वर्ण्य-विषय, शैली आदि सभी पर युग का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार करते

हैं।[1] मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार सारे चिन्तन, सारी विधाओं, सब शास्त्रों को परिस्थितियों द्वारा परिचालित ही नहीं अपितु परिस्थितियों की उपज ही माना जाता है। इनमें साहित्य का भी अन्तर्भाव है। उसके अनुसार समाज-संगठन की मूल भित्ति ही आर्थिक सम्बन्ध है। उत्पादन के प्रकारों के साथ समाज में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध बदलता जाता है और उसी के अनुसार आचार-शास्त्र, साहित्य आदि भी बदलते जाते हैं। काडवेल कविता के मूल आधार को जातीय अथवा देशगत नहीं मानना चाहते, उन्हें उसे आर्थिक मानने का पूरा आग्रह है।[2] कविता के इस आधार के सम्बन्ध में मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन आदि सभी एकमत हैं।[3] मार्क्स अन्ततः अर्थ-उत्पादन के प्रकारों द्वारा ही साहित्य के स्वरूप-नियन्त्रण का सिद्धान्त मानते हैं। इसकी अधिक सूक्ष्म व्याख्या करते हुए मार्क्स-दर्शन के प्रधान चिन्तकों ने अर्थ से साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानने का निराकरण भी कर दिया है। एंजिल्स ने अपने एक पत्र में अर्थ और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानने का विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि अधिक आकाशचारी विचारधारायें हैं, इसलिए उनका अर्थ से परोक्ष और घुमावदार सम्बन्ध ही सम्भव है, सीधा नहीं।[4] यूदिन नामक मार्क्सवादी समालोचक ने अर्थ और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानने को मार्क्सवादी सिद्धान्त की आत्मा का हनन करना कहा है।[5] मार्क्सवाद की मान्यता है कि विचार अन्ततोगत्वा अर्थ एवं वस्तु जगत् के द्वारा ही निर्मित होता है। पर उनके निर्मित हो जाने पर वे अपने विकास के स्वतन्त्र मार्ग को अपना लेते हैं। वे स्वयं भी वस्तु-जगत के ही तथ्य हो जाते हैं। यही साहित्य के लिए भी कहा जा सकता है। इसका विकास भी स्वतंत्र मार्ग का अवलंबन करके ही होता हैं। ऍंजिल्स भी निर्विवाद रूप से विचारों के क्षेत्र में आर्थिक विकास का नियंत्रण मानते हैं। पर उनका भी यही कहना है कि आर्थिक प्रभाव विचार-जगत पर मर्यादाओं के

१—साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, हंस प्रगति-अंक, प्रथम भाग।

2—"Poetry is regarded then, not as something racial, national, genetic or specific in it essence, but as some thing economic."
(Illusion and Reality P.7)

3—Literature like all products of the human mind is ultimately determined by society's economic relationships; its means of material production. (Marx Quoted by F. Yudin in Lenin on art and Literature. P. 126)

४—लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ १२७।

५—'वही', १२७।

अनुसार ही पड़ सकता है।[1] इतना ही नहीं मार्क्सवादी-दार्शनिक को विचारों द्वारा भी अर्थ—व्यवस्था का स्वरूप-निर्धारण मान्य है। साहित्य, दर्शन आदि भी मानव के आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रधान प्रेरणाएँ हैं। अगर इस सिद्धान्त को न माना जाय, तो साहित्य का साम्यवाद-प्रचार के लिए शस्त्र के रूप में उपयोग का कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता है।

ऊपर साहित्य पर अर्थ के परोक्ष नियन्त्रण की बात कही गई है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण उसकी अपनी भौतिक परिस्थितियों तथा अपने वर्ग की मान्यताओं द्वारा होता है। मार्क्सवादी वर्ग-विभाजन का आधार अर्थ-उत्पादन के प्रकार मानता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में जो मजदूर और मालिक अथवा व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध होता है, वही समाजवादी व्यवस्था में नहीं होता। इसलिए इन दोनों समाजों की मान्यताएं एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न होंगी, यह निर्विवाद सत्य है। इन दोनों की भौतिक परिस्थितियां व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित तथा निर्मित करेंगी। कलाकार भी वर्ग की मान्यताओं के इस नियन्त्रण से प्रायः मुक्त नहीं हो सकता। कलाकार इन्हीं मान्यताओं से बंधकर साहित्य का सृजन करता है। मार्क्सवाद इसी अर्थ में साहित्य पर भौतिक परिस्थितियों का नियंत्रण मानता है। पर ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अर्थ का यह नियंत्रण प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष है। अर्थ—वर्ग की मान्यता तथा कलाकार के व्यक्तित्व के दोहरे आवरण वाले माध्यम से साहित्य में प्रतिध्वनित होता है। इसी को समझाते हुए यूदिन कहते हैं कि कला में आर्थिक आधार कला तथा उसके वर्ग के राजनैतिक विचारों और नैतिक मान्यताओं द्वारा प्रतिबिम्बित होता है।[2] इस प्रकार मार्क्सवादी व्याख्या में साहित्य और कला पर अर्थ का परोक्ष नियन्त्रण ही मान्य है—यह समन्वय जटिल है, सरल, सीधा और प्रत्यक्ष नहीं। अर्थ-उत्पादन के प्रकार साहित्य में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा प्रत्यक्ष दिशा-निर्देश करते हैं, ऐसा मानना मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार भी साहित्य के मूल स्वरूप को न समझना है।

वर्ग-चेतना और साहित्यः—मार्क्स ने मानव-सभ्यता के विकास का आर्थिक आधारों पर विभाजन और अध्ययन किया है। उनके अनुसार यह लम्बा काल कई युगों में विभाजित है। प्रागैतिहासिक काल में मानव आदिम साम्यवाद की अवस्था में था, उस समय कोई साहित्य सम्भव ही नहीं था। उसके उपरान्त मानव

१—लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ० १२७।
२—'वही' 'परिशिष्ट भाग'।

वर्गों में बँटने लगा और एक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर पूर्ण नियंत्रण रहने लगा। आज जो लिखित साहित्य उपलब्ध होता है, वह मानव के वर्गों में बँट जाने के पूर्व का नहीं है । एडवर्ड अपवर्ड इसको ऐतिहासिक सत्य मानते हैं कि साहित्य-रचना मानव के वर्गों में विभक्त होने के बाद ही प्रारम्भ हुई है।[1] सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य दास-प्रथा के समय का ही है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक युग में केवल दो ही वर्ग होते हैं—शासक और शासित अथवा शोषक और शोषित। समाज का एक भाग ऐसा होता है, जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व होता है। उसी को मार्क्सवादी शासक-वर्ग कहता है। (यही वर्ग अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रयत्न में शोषक का रूप धारण कर लेता है।) शासक-वर्ग के विचारों का ही राजनीति, नीति-शास्त्र आदि के क्षेत्रों में प्रभुत्व रहता है। ये क्षेत्र उसी के स्वार्थों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। शासकवर्ग की विचार-धारा अपने युग की प्रमुख और प्रतिनिधि विचारधारा हो जाती है। साहित्य भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है। कलाकार इन विचारों को आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंश बना लेता है। उसकी रचना में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही है। मानव-सभ्यता और साहित्य-रचना के प्रारम्भ होने के बाद से अब तक वर्ग-हीन समाज का निर्माण नहीं हुआ है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि वर्ग-हीन समाज में ही वर्गहीन साहित्य की रचना सम्भव है। साहित्य अपने युग और वर्ग के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता है। लेनिन साहित्यकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को केवल विडम्बना मानकर उसका खण्डन करते हैं।[2] लेकिन युग की विचारधाराओं का साहित्य पर रूढ़ और जड़ नियन्त्रण मानना उससे भी बड़ी विडम्बना है। पूंजीवादी युग का प्रत्येक कलाकार स्वयं पूंजीवादी मनोवृत्ति का है अथवा उस विचारधारा का पूर्ण समर्थक है, यह कहना समीचीन नहीं है। आज तक का सारा साहित्य शोषक वर्ग का ही रहा है, इसलिए वह मानव-सभ्यता का प्रतिगामी है यह कहना भी सत्य का हनन करना है। ऐसा मानना तो मार्क्सवाद का एक रूढ़, जड़ दृष्टिकोण है। स्वयं एंजिल्स ने रूढ़िवादिता का खण्डन किया है। इन्होंने इब्सन के नाटकों की इन रूढ़ धारणाओं के अनुकूल की गई आलोचना को मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिकूल बताया है।[3] कलाकार को युग की विचारधारा का प्रतिनिधि कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक युग में चिंतन की एक सीमा होती है। उस सीमा

१—'हंस', प्रगति अंक, पृष्ठ ३९०।
२—लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ४७।
३—वही, पृष्ठ १२० : १२५।

से कलाकार भी मर्यादित रहता है। साहित्यकार अपने युग की समस्याओं पर विचार करता है तथा उनका कोई एक समाधान उपस्थित करता है। उसका इन पर विचार करने का ढंग तथा समाधान—दोनों ही युग की मर्यादाओं से सीमित और प्रभावित रहते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कलाकार अपने वर्ग के स्वार्थों और प्रतिनिधि विचार-धारा का विरोध करता ही नहीं है। कभी-कभी वह अपने समसामयिक विचारों के विरुद्ध व्यापक विद्रोह कर उठता है। अगर साहित्यकार अपने युग का उपभोक्ता-मात्र ही हो तो संस्कृति के विकास में साहित्य का कुछ भी उपयोग नहीं रह जाय। वह केवल अतीत का निर्जीव और मूक भण्डार-मात्र हो जाता है: मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा कलाकार को युग का उपभोक्ता और निर्मायक—दोनों ही मानती है। इसलिए उसे युग की मर्यादाओं में सीमित रहते हुए भी साहित्य के द्वारा वर्ग की विचारधारा के खण्डन का सिद्धान्त मान्य है। वह उस वर्ग में रहकर भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्वों का विरोध कर सकता है। पर यह विरोध भी एक सीमा तक ही सम्भव है। सामंतशाही का कलाकार जीवन के उन मूल्यों की कल्पना नहीं कर पाता था जो आज के युग की देन हैं। मार्क्सवाद इसी अर्थ में साहित्य को वर्गवाद की उपज कहता है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन रूढ़िवादी और जड़ नहीं है, वह चिरन्तन प्रगति का समर्थक है। इसलिए उसमें कलाकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य का समर्थन नहीं है तो वह कलाकार को युग की शृङ्खला से जकड़ भी नहीं देना चाहता। ऐसा संकुचित दृष्टिकोण तो द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद को रूढ़ और जड़ रूप में ग्रहण करने का परिणाम है।

कविता का जन्म—

मार्क्सवाद की काव्य की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा है। उसका कहना है कि उपज, युद्ध आदि मानव की सहज वृत्तियों द्वारा परिचालित नहीं होते। वे परोक्ष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होते हैं। ऐसे समय पर सामाजिक संगठन द्वारा मानव को इस कार्य के लिए तैयार करना पड़ता है। ऐसे ही अवसरों पर सामूहिक भाव की तरंगें उठती हैं और मानव के समक्ष प्रत्यक्ष उद्देश्य प्रत्येक स्थान पर एक काल्पनिक उद्देश्य प्रस्तुत हो जाता है। सामूहिक भावों और संगीत की तरंगों में वह इसी काल्पनिक उपज या विजय को सत्य मान लेता है। उपज का पूर्ण विश्वास ही उसे कृषि-कार्य में प्रवृत होने की प्रेरणा प्रदान करता है। मानव कल्पना द्वारा पहले से ही उपज को देख लेता है। यह भ्रांति ही उसे कर्म में प्रवृत्त करती है। उपज, युद्ध आदि के कार्यों में मानव को प्रवृत्त करने के लिए सामूहिक भावों को अभिव्यक्ति द्वारा सामूहिक भ्रान्ति का वातावरण उपस्थित करना आवश्यक होता है। इस वातावरण से मानव को श्रम की प्रेरणा मिलती है और उसको श्रम

हल्का प्रतीत होता है। काडवेल ने अपनी पुस्तक Illusion and Reality में काव्य के सम्बन्ध में इसी मान्यता का प्रतिपादन किया है। वे काव्य के लिए सामूहिक भावों द्वारा सामूहिक भ्रान्ति के वातावरण को उत्पन्न करना आवश्यक मानते हैं। Marxism and poetry नामक पुस्तक में भी आदिम काल की कविता का उद्देश्य काल्पनिक उपज में सत्य की प्रतीति कराके मानव को उपज में सामूहिक रूप से प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करना माना गया है। आदिम काल का मानव नृत्य-संगीत आदि में इसी विश्वास से प्रवृत्त होता था कि इससे उसकी उपज की रक्षा होगी। इस दृढ़ विश्वास के कारण उपज की रक्षा और वृद्धि होती भी थी। इस लिए परोक्ष रूप से कला भी उपज का साधन ही मानी गई।[1] मार्क्सवादी कला के जन्म का यही प्रयोजन मानता है। इस पुस्तक में साहित्य की विभिन्न विधाओं (ट्रेजेडी आदि) के विकास की ऐतिहासिकता पर भी विचार किया गया है। लेखक इन विधाओं के तात्विक विकास का तत्कालीन समाज या वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करता है। दो कालों के नाटकों में तात्त्विक अन्तर का कारण वर्ग-संस्कृति है। एलिजाबेथन युग के नाटक में ग्रीक नाटक से इतना भेद होने का कारण उन्होंने दोनों युगों के दो भिन्न वर्गों की संस्कृति का वैषम्य माना है। ग्रीक नाटक कृषि-युग की देन हैं इसलिए उनमें कोरस है। एलिजाबैथन नाटक पूंजीवाद की उपज है।[2] मार्क्सवादी काव्य की कतिपय विधाओं को पूंजीवाद अथवा सामंतशाही की देन होने की स्पष्ट घोषणा करता है। इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य को वर्गवाद की उपज मानता है और उस पर वर्ग-चेतना का कठोर नियंत्रण स्वीकार करता है।

साहित्य का उद्देश्य—

ऊपर के विवेचन से काव्य के वर्ण्य-विषय तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी धारणा की मूल आधारभित्ति स्पष्ट होती है। उसकी दृष्टि से काव्य में मानव के सामूहिक भावों को ही स्थान मिलना चाहिये। मार्क्सवाद व्यक्ति-वैचित्र्य के आधिक्य की प्रतिक्रिया है। कला में हमेशा ही व्यक्तिवाद की अभिव्यंजना रही है, ऐसा मार्क्सवादी मानने को तैयार नहीं है। वह कलाकार की प्रतिभा के साथ

1. Inspired by the dance in the belief it will save the crop, they proceed to the task of tending it with greater confidence & so with greater energy than before. And so it does have an effect on the crop after all. It changes their subjective attitude to reality and so indirectly it changes reality P. 11.
2. Marxism and Poetry P. 40.

ही कला का मानव के सामूहिक जीवन से स्पर्श बना रहना भी अत्यन्त आवश्यक मानता है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण ही उसकी भौतिक परिस्थितियाँ करती हैं। 'हम कह सकते हैं कि कला जीवन का अन्तर्मुखी दर्शन है। किन्तु जिस मन के दर्पण में कलाकार जीवन का दर्शन करता है, वह स्वयं परिस्थितियों के अनुरूप बनता-बदलता रहता है।''[1] जीवन से सम्पर्क तोड़ लेने तथा सामूहिक भावों के स्थान पर व्यक्ति-वैचित्र्य को स्थान देने से कला में प्राण-शक्ति का अभाव हो जाता है। इसीलिए वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती। इस प्रकार चिरस्थायी साहित्य का वर्ण्य-विषय सामाजिक और सामूहिक होना चाहिए। उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए नहीं अपितु सामूहिक भावों के लिए ही स्थान हैं। मार्क्सवादी ऐसी रचनाओं को ही प्रकृत साहित्य मानता है। उसकी मान्यता है कि काव्य में प्रकृति-चित्रण भी मानव-सापेक्ष ही होना चाहिए। जीवन के केवल सुन्दर और कोमल पक्ष अथवा निरपेक्ष प्रवृत्ति के चित्रण का काव्य के वास्तविक रूप में कोई उपयोग नहीं है। इसमें तो पूंजीवादी कलाकार की उपभोग-वासना की परितृप्ति-मात्र होती है। काव्य का परम लक्ष्य आनन्द है, ऐसा मान लेने से उसमें सामूहिक चेतना का अभाव और वैयक्तिकता की प्रधानता हो जाती है। मार्क्सवादी आनन्द को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते, अपितु उसको केवल साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। काव्य का उद्देश्य तो मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा प्रदान करना है। लेनिन आदि ने स्थान-स्थान पर साहित्य को क्रान्ति का साधन तथा जो कुछ प्रतिगामी है, उसको नष्ट करने का शस्त्र कहा है। इसके अनुसार क्रान्ति और नव-निर्माण की बुद्धि जाग्रत कर देना साहित्य का उद्देश्य हैं। मार्क्सवादी साहित्य की रसानुभूति-मात्र से संतुष्ट नहीं। वह उसे बौद्धिक ज्ञान का पथ-प्रदर्शक बनाना चाहता है।[2] अंचल जी ने अतीत की समस्त सांस्कृतिक निधि की रक्षा और भविष्य के नव-निर्माण की कठिन जिम्मेदारी, इन दोनों को ही साहित्य का उद्देश्य कहा है। कला के मूल्य के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। हम पहले देख चुके हैं कि कुछ लोग कला का मूल्य केवल उसकी आनन्द-क्षमता मानते हैं, कुछ की उसमें सुन्दर और मंगल का समन्वय देखने की प्रवृत्ति है, कुछ साहित्य का उद्देश्य मानव की प्रमुख मानसिक वृत्तियों की परितृप्ति तथा उनके संतुलन-स्थापन को मानते हैं। शुक्ल जी ने साहित्य का उद्देश्य मानव का रागात्मक प्रसार माना है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के उपर्युक्त

१—'हंस', प्रगति-अंक, पृष्ठ ४०३।
2--Soviet Literature: Features of Socialist Realism, P. 30-31.

सभी उद्देश्य किसी-न-किसी रूप में व्यक्तिवाद से सम्बद्ध हैं। मार्क्सवाद ने जीवन और कला की समाज की दृष्टि से व्याख्या की है। उसमें काव्य का प्रारम्भ ही सामूहिक चेतना अथवा सामूहिक भाव से माना गया है, इसलिए काव्य के उद्देश्य और वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सामाजिक, सामूहिक अथवा समाजवादी कहा जा सकता है। अंचल जी ने साहित्य को सामाजिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब और अस्त्र दोनों कहा है। साहित्य को समाज की चेतना के घनीभूत करने का एक आवश्यक माध्यम कहा गया है। अंचल जी उसको केवल प्रचार का साधन न मानकर वस्तुसत्ता से पूर्ण सामाजिक जीवन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति का साधन मानना समीचीन समझते हैं। सिद्धान्त: मार्क्सवादी मानव के भौतिक विकास को साहित्य का चरम लक्ष्य मानता है, पर भौतिक विकास की निश्चित रूपरेखा में अटल विश्वास रखने के कारण व्यावहारिक रूप में उसने विशुद्ध प्रचारवादी दृष्टि को अपना लिया है। वह इस युग के साहित्य की श्रेष्ठता का एक-मात्र मानदण्ड साम्यवाद का प्रचार तथा पूंजीवाद का विरोध मानता है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवाद कला के उद्भव, उसके प्रयोजन, हेतु तथा वर्ण्य-विषय का पूर्णत: भौतिकवादी दृष्टि से ही विवेचन करता है। उसे व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का महत्व मान्य है।

साहित्य और सामूहिक भाव

प्रत्येक युग की कुछ विशेष मान्यताएं, विश्वास और संस्कार होते हैं। राजनैतिक और आर्थिक स्थिति के अनुकूल युग की विचारधारा बन जाती है। जिस विचारधारा का जन-साधारण पर निरन्तर प्रभाव पड़ता है और वह उसे स्वीकार कर लेती है। उस युग का प्रत्येक व्यक्ति उसी विचार-सरणी का अवलम्बन करके सोचता है, अपने युग के विश्वासों और मान्यताओं की वह अवहेलना नहीं कर सकता है। युग-युगान्तर तक बाह्य जगत के प्रति मानव की एक ही प्रतिक्रिया अक्षुण्ण नहीं रहती। वह एक ही वस्तु के महत्व को युगानुकूल भिन्न-भिन्न तरह से आंकता है, लोक या जन-मन के इन्हीं विश्वासों, मान्यताओं, संस्कारों, प्रभावों और प्रतिक्रियाओं के समष्टिगत या राशिभूत रूप को काडवेल सामूहिक भाव के नाम से पुकारना चाहते हैं। "सामूहिक भाव" अपने युग के लोक-हृदय के पुष्प की गन्ध होती है। मार्क्सवाद जगत् और जीवन को चिर परिवर्तनशील मानता है। प्रत्येक युग की आर्थिक और राजनीतिक अवस्थाएं भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिए एक युग का सामूहिक भाव दूसरे युग का सामूहिक भाव नहीं हो सकता। दूसरे युग में वही प्रतिगामी तत्व हो जाता है। आज भारत में राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावना सामूहिक भाव है। पर आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस भाव की स्थिति

इसी रूप में नहीं थी। उस समय धर्म और जातीयता की भावना का प्राबल्य था। जातिगत स्वाभिमान की वह पुरानी भावना आज प्रतिक्रियावादी तत्व मानी जाने लगी है। जीवन में नीति सदाचार, आचार-विचार के मानदण्ड भी बदल गए हैं। उनको हठपूर्वक पकड़ रखने की भावना प्रतिगामी दृष्टिकोण है। इस प्रकार एक काल का सामूहिक भाव परवर्त्ती काल के लिए उपादेय नहीं, क्योंकि उसमें विकास की क्षमता नहीं रह जाती। वह तो ह्रास का प्रतीक हो जाता है। उनको अक्षुण्ण बनाए रखने का आग्रह तो संस्कृति के विकास में बाधक ही है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन प्रत्येक कलाकार के लिए जन-जीवन में घुल-मिल कर उसका वास्तविक स्थिति को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करना आवश्यक मानता है। सम्पूर्ण जन-जीवन के साथ अपने आपको एकाकार कर देने से ही कलाकार सामूहिक भावों को समुचित रूप में ग्रहण कर पाता है। महान् कलाकार के लिए यह नितान्त आवश्यक ही है। प्रेमचन्द जी का साहित्य वास्तविक अर्थ में प्रगतिवादी है। उसमें देश के किसानों के जीवन का सच्चा चित्र है। उनमें उनकी दीनता, पीड़ा आदि के साथ जीवन की आशाओं और आत्म-विश्वासों का भी चित्र है। उसकी लोकप्रियता का कारण लोक-हृदय की सच्ची पहचान और अनुभूतिमय सच्चा चित्र है। जन-जीवन का बौद्धिक अथवा केवल कल्पना पर आश्रित ज्ञान साहित्य में अपेक्षित संवेदनीयता लाने में असमर्थ रहता है। साहित्य की लोकप्रियता और स्थायित्व संवेदनीयता पर आश्रित है और कला-कृति में सामूहिक भावों अथवा जन-जीवन का जितना सच्चा और अनुभूतिमय चित्र अङ्कित होगा उतनी ही वह संवेदनीय होगी। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा संवेदनीयता का भी मूल आधार सामूहिक भावों की सच्ची अनुभूति ही मानती है। इस प्रकार वह व्यक्ति-वैचित्र्य तथा कल्पना की ऊहात्मकता वाले काव्य को हेय कोटि में स्थान देती है।

सामूहिक भावों पर युग के नियन्त्रण का सिद्धान्त हम स्वीकार कर चुके हैं और यह भी मान चुके हैं कि युग की विचारधारा अधिकांशतः शासक वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। सामूहिक भाव भी उस मर्यादा की परिधि का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। उनके द्वारा युग-चिन्तन की सीमा निश्चित हो जाती है। प्रत्येक युग में भावी विकास के तत्व भी विद्यमान रहते हैं। द्वन्द्व का सिद्धान्त विरोधों पर अवलम्बित है। प्रत्येक वस्तु में उसके ध्वंस तथा भावी निर्माण के तत्व रहते हैं। उसमें विरोधों का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उसका एक स्रोत उसके अन्तस्तल में निरन्तर प्रवाहित रहता है। सच्चे कलाकार की प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टि उन तत्वों के भी दर्शन कर लेती है। ये भी उस युग के सामूहिक भावों में ही अन्तर्भूत हैं। युग के विकासशील तत्व ही कलाकार के लिए उपादेय हैं। उसकी दृष्टि से सच्चे

सामूहिक भावों का निर्माण उन्हीं तत्वों से होता है, उन्हीं में जीवन की शक्ति है। शासक वर्ग जब शोषक हो जाता है, उस समय उसके भाव तो प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। इसलिए प्रतिक्रिया के नाशक और भावी निर्माण के भाव ही महत्वपूर्ण और उपादेय हैं। युग के जीवित साहित्य में सामूहिक भाव के इसी रूप को प्रमुख स्थान मिलता है।

सामूहिक भाव, साधारणीकरण और औचित्य सिद्धान्त—

भारतीय साहित्य में साधारणीकरण का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हमेशा ही मान्य रहा है। साहित्य-चेतना के आधुनिकतम रूप में इस सिद्धान्त के प्रति कुछ अनास्था अवश्य जाग गई है। जब तक भावों के साधारणीकृत रूप का चित्रण और ग्रहण नहीं किया जाता, तत्कालीन धारणा के अनुसार तब तक काव्य का सृजन और आस्वाद दोनों ही नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार भावों के आलम्बन और आश्रय का भी साधारणीकरण हो जाता है। राम,सीता,रति और पाठक सभी वैयक्तिक सकुचित परिधियों को छोड़कर मानव-सामान्य की भूमि पर आ जाते हैं। इसके अभाव में काव्य-सृष्टि और आस्वाद दोनों ही असभव हैं। स्थायी और संचारी भाव तो मानव की वे मानसिक स्थितियां हैं जो चिरन्तन हैं। इस सिद्धान्त में भाव मानव का अंश है जिसका मानवत्व से अभिन्न सम्बन्ध है। मानव के मानव बने रहने के लिए इन मानसिक स्थितियों का रहना भी अपरिहार्य है। मार्क्सवाद के अनुसार इन मनोवेगों के स्वरूप युगानुकूल परिवर्तित होते हैं। कोई भाव चिरन्तन नहीं है, विभावादिक के साधारणीकरण का सम्बन्ध तो युग, देश और संस्कृति से है ही। विभावादिक भावों की वह उपाधि हैं जिनके माध्यम से वे अभिव्यक्त होते हैं। काल की गति के साथ उपाधियाँ, वस्तु का स्वरूप चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए एक ही विभाव हमेशा उसी रूप में अक्षुण्ण नहीं बना रह सकता। एक वर्ग का व्यक्ति हमेशा आभिजात्य का आलंबन नहीं रह सकता। राजा के प्रति जो श्रद्धा सामन्त-युग में थी, वह आज नहीं है। वह किसी अन्य भाव का आलम्बन बन गया है। उसमें तत्कालीन सामूहिक भाव साकार था, इसलिए उसकी भावना के साथ सहृदय का तादात्म्य हो जाता था, यही साधारणीकरण है। किसी समय नायक का अभिजात वर्ग या राज-वंश का होना अनिवार्य था। इसलिए उस समय उसी के उत्थान-पतन से उस युग के मानव-मात्र को सुख-दुख की अनुभूति होती थी। मार्क्सवाद के शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह उस काल का शासक वर्ग का था, इसलिए उसका तत्कालीन समाज के विचारों पर भी नियन्त्रण था। पर अब युग बदल गया है, अभिजात वर्ग का वह महत्व और प्रभुत्व नहीं रह गया है, उसमें युग का सामूहिक भाव नहीं रहा। आज मजदूर भी एक उपन्यास का नायक बन सकता है।

आस्वाद और प्रभाव की दृष्टि से संभवत: इन दोनों काव्यों में कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर भी नहीं होता, यही युग का प्रभाव है। भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ राम हैं। रावण उसके विनाशकों में से है। रावण की सीता के प्रति रति रसाभास और अनुचित इसीलिए है कि वह भारतीय दृष्टि से असांस्कृतिक है। अगर किसी देश की संस्कृति का ऐसा विकास न हुआ हो तो उन्हें शायद यह रसाभास न भी प्रतीत हो। कवि इसको भी उचित मानकर चलें। अभिप्राय यह है कि विभाव का स्वरूप युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है। उससे सम्बद्ध रति आदि भावों की संवेदनीयता भी युग-युग में बदलती रहती है। स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन होता है। औचित्य का स्वरूप युग और संस्कृति पर भी निर्भर है। इसीलिए भारतीय औचित्य अनिवार्य रूप से पश्चिम का औचित्य नहीं है। प्राचीन काल की सामाजिक धारणाएं जो औचित्य की परिधि में आती थीं, आज बदल गई हैं और उनमें से कुछ अनुचित होकर रस की बाधक भी हो गई हैं। मार्क्सवाद के अनुसार औचित्य का मानदण्ड युग-चेतना तथा उस युग का सामूहिक भाव है। साधारणीकरण का मूल आधार ही औचित्य है। युगानुकूल उचित विभावों तथा उनसे सम्बद्ध भावों का ही साधारणीकरण हो सकता है। अन्यथा साधारणीकरण की सार्वदेशिकता और सर्वकालिकता का सिद्धान्त स्थूल और रूढ़ हो जाता है। उसका कोई तात्पर्य नहीं रह जाता।

साधारणीकरण और औचित्य के ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि उनका युग की धारणाओं से भी सम्बन्ध है और इस प्रकार सामूहिक भावों से भी। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि युग की धारणाओं (दूसरे शब्दों में सामूहिक भावों) का ही साधारणीकरण हो सकता है। काव्य का नायक मानव का वही रूप बन सकता है जो युग की भावनाओं, मान्यताओं और विश्वासों का आश्रय अथवा उन्हीं का मूर्तिमान रूप हो, क्योंकि उसी में साधारणीकरण के तत्व विद्यमान रहते हैं। राम में वे तत्व हैं जिनकी भारत के लोक-सामान्य हृदय में प्रतिष्ठा है। जो भारतीय संस्कृति एवं मानवता के मूलभूत तत्व हैं। वे उस युग की चेतना एवं सामूहिक भाव भी हैं। रावण में इस सबका अभाव है। इस प्रकार मार्क्सवाद द्वारा मान्य सामूहिक भाव वह सामग्री है जिसका उपयोग कवि करता है अथवा काव्य को लोक-प्रिय और चिरन्तन बनाने के लिए जिसका उपयोग कवि के लिए अपेक्षित है; तथा साधारणीकरण वह क्रिया है जो इस सामग्री को—जगत् के इस रूप को—काव्योपयोगी बनाकर रस-निष्पत्ति कराती है। सामूहिक भावों में संवेदनीयता के तत्व विद्यमान रहते हैं। अलौकिक विभावन-व्यापार से ही काव्य में वे तत्व उभर पाते हैं। युग की सामान्य जीवन सम्बन्धी धारणा ही सामूहिक भाव है। उसी में उस युग के जीवन का औचित्य

निहित है। भारतीय आचार्य को 'औचित्य' के सिद्धान्त द्वारा युग का औचित्य भी मान्य है। युग की सामान्य विचार-धारा और मान्यताओं के अनुसार युगीन औचित्य की धारणा भी बदल जाती है। वैदिक काल का औचित्य आज का औचित्य नहीं है। युगानुकूल औचित्य के स्वरूप का यह अन्तर बाह्य आकार-प्रकार का ही अन्तर है। इस प्रकार यह अन्तर स्थूल है। इस परिवर्तन के मूल में एक अपरिवर्तनशील तत्व भी है। एक चिरन्तन धारणा भी है। मानव के शाश्वत स्वरूप की एक धारणा भी है। वही औचित्य का वास्तविक मानदण्ड है, यही स्वरूप औचित्य की आत्मा है। भारत का औचित्य और साधारणीकरण के सिद्धान्त का सामूहिक भावों से इतना घनिष्ठ संबन्ध होते हुए भी उससे कुछ वैषम्य भी है। औचित्य का मूल मानदण्ड धर्म एवं शाश्वत मानवता है। साधारणीकरण का भी वास्तविक आधार देश—काल और पात्र के अन्तर से भिन्न होती हुई रति आदि भावनाओं के मूल में रहने वाली शाश्वत—रति भावना है। सामूहिक भाव भी इसी शाश्वत मानवता से सामंजस्य प्राप्त करने पर ही औचित्य एवं साधारणीकरण के आधार बनते हैं। सामूहिक भाव काव्य की वह युगीन सामग्री है, जगत् का वह अंश है जिसका कवि उपयोग करता है। साधारणीकरण उस उपयोग की प्रक्रिया है तथा औचित्य उसकी संवेदनीयता का मापदण्ड। भारत के इन दोनों सिद्धान्तों में काव्य के वर्ण्य-विषय के स्वरूप का भी अन्तर्भाव है। इन दोनों के आधार पर काव्य के वर्ण्य-विषय के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है।

भारत औचित्य का आधार सांस्कृतिक और दार्शनिक मानता है। जब मार्क्सवादी सामूहिक भावों के एक स्वरूप को विशेष युग के लिए प्रतिगामी कहता है, उस समय उसके पास समाजवादी यथार्थवाद का मानदण्ड रहता है। पर भारतीय आचार्य अपने विशेष सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक मापदण्डों के आधार पर जीवन की कुछ मान्यताओं, विश्वासों और धारणाओं को अधर्म और मानव के लिए अमंगलकारक मानता है। भारत के पास संस्कृति और धर्म का एक मानदण्ड है, जो शाश्वत है। उसमें मानव की चिर और शाश्वत मंगल की भावना अन्तर्हित है। उसमें मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक—दोनों प्रकार के मंगलों का सामंजस्य है। पर मार्क्सवादी केवल भौतिक मंगल की दृष्टि से विचार करता है, इसलिए उसे शाश्वत नहीं मान सकता। मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में रूढ़िवादी है। उसके विरुद्ध तत्वों को वह प्रतिगामी मानता है। उनका चित्रण करने वाला साहित्य उसकी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। पर भारतीय मंगल के सिद्धान्त में समाजवादी यथार्थ को आवश्यकतानुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की उदारता है। वह मानव का केवल भौतिक कल्याण ही

नहीं चाहता। अपितु उसके शाश्वत मंगल का भी ध्यान रखता है ।

समाजवादी—यथार्थवादी में मंगल और औचित्य की कसौटी बनने की क्षमता भी मानव की शाश्वत एवं सामंजस्यपूर्ण मंगल-भावना से ही आई है। मार्क्सवादी आलोचना जहाँ पर काव्य की प्रेषणीयता पर विचार करती है, वहां वह सामान्य को ही इसका आधार मानती है, वैचित्र्य को नहीं। वैचित्र्य का आस्वाद भी सामान्य के ही माध्यम से सम्भव है। इस सामान्य का निर्माण मानव की गहन तथा अपेक्षाकृत स्थायी वृत्तियों, सामाजिक अवस्थाओं और संस्कारों से होता है। इसीलिए ट्राट्स्की ने भी अपनी विचार धारा में सामूहिक भाव और साधारणीकरण -- दोनों के मिश्रित स्वरूप और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को आश्रय दिया है।[1] पर साधारणीकरण भाव के शाश्वत रूप पर आधारित है। सामूहिक भाव उसी शाश्वत रूप की एक विशेष युग में होने वाली अभिव्यक्ति है।

भाषा और युग—

प्रगतिवादी समालोचक वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने का समर्थक है। अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान शैली जनवादी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होती। भाषा की अत्यधिक कोमलता और मिठास को प्रगतिवादी सामाजिक ह्रास का चिह्न मानता है।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस काल में मानव का जीवन शिथिल और संघर्ष-शून्य रहता है उसके हृदय में अपनी हीन अवस्था के विरुद्ध विद्रोह नहीं जाग पाता। उस समय का साहित्य भी शिथिल और प्राण-शून्य हो जाता है। साहित्य में जीवन की प्रेरक शक्तियों का अभाव हो जाता है। तथा वह केवल मानव के उपभोग की वस्तु बन जाता है, उसकी वासना की तृप्ति-मात्र ही साहित्य का ध्येय हो जाता है। ऐसे समय की भाषा में कृत्रिमता, चमत्कार और आलंकारिकता का ही प्राधान्य रहता है। जनवादी साहित्य की भाषा अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण होती है। उसमें अलंकारों की अनावश्यक भीड़ के लिए स्थान नहीं। ऐसा साहित्य अनुभूतिमय होता है इसीलिए

1— So it can be seen that serves as bridge from soul to soul is not unique but common. Only through the common is the unique known-the common is determined in men by the deepest and persistent conditions which make up his soul by the social conditions of education, of existence or work and by association.

(Trotsky—Revolution & literature)

२—डा० रामविलास शर्मा, 'हंस', प्रगति अंक पृ० ३९३।

उसकी भाषा में कलाबाजी और चमत्कार के स्थान पर हृदयस्पर्शिता और संवेदनीयता ही अधिक होती है। प्रगतिवादी तो ओज और कठोरता को जनवादी साहित्य की भाषा के आवश्यक तत्व मानता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि मार्क्सवादी काव्य-विषयों और शैलियों का सम्बन्ध वर्ग-विकास से स्थापित करता है। नाटक का विकास कृषि-युग की वस्तु है और महाकाव्य का सम्बन्ध युद्धों से है। इस प्रकार नाटक महाकाव्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। यह विकास की परवर्ती अवस्था की देन है।[1] इसी प्रकार वह भाषा का सम्बन्ध भी वर्गों से स्थापित करता है। काव्य की भाषा में अत्यधिक कोमलता और मिठास वासना-परितृप्ति की आकांक्षाओं का परिणाम है और यह पूंजीवादी युग की देन है। यहां पर स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि मार्क्सवाद काव्य की भाषा तथा बोल-चाल की भाषा को पूर्णतः एक नहीं मानता। काडवेल ने बताया है कि प्रारम्भिक युग में ही साधारण दैनिक बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा काव्य के लिए परिष्कृत और लययुक्त भाषा का प्रयोग होता था। उसमें संगीत-तत्व भी प्रचुर मात्रा में रहता था। प्रारम्भिक युग में पहले-पहल भाषा लययुक्त ही रही। उनकी बोल-चाल की भाषा भी कवितामयी होती थी। आज भी कुछ जातियां ऐसी हैं जो अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं और जिनकी भाषा लययुक्त है। उस जाति के व्यक्ति अपनी आपस की बात में भी पद्यमय भाषा ही बोलते हैं।

साहित्य का यथार्थ—

काव्य की श्रेष्ठता के मान, उसके वर्ण्य विषय की यथार्थता तथा युगानुकूल सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए उनके समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त पर कुछ थोड़ा सा विचार कर लेना आवश्यक है। यथार्थवाद के संबन्ध में साधारणतया यूरोप में यह धारणा हो गई थी कि नीति, आदर्श अथवा किसी भी प्रकार के भावात्मक एवं कल्पना के आवरण से शून्य प्रत्यक्ष भौतिक जगत् की वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर देना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद में कलाकार की वैयक्तिकता की छाप कम से कम होती है। यह चित्र विषयी-तन्त्र नहीं, अपितु वस्तु-तन्त्रात्मक ही अधिक होता है। भाषा, भाव और कार्य-व्यापार सभी कुछ नग्न होता है। इसमें वस्तु-जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म, विशद और यथार्थ चित्र का ही महत्व है। यथार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मोलट ने उसे कल्पना-लोक नहीं अपितु ऐन्द्रिय जगत की मानवीय अनुभूति की प्रतिकृति कहा है।[2]

१—डा० रामविलास शर्मा : हंस प्रगति अंक, महानन्द सरोहर।
2. "A faithful representation of human experience not in the world

इस प्रकार यथार्थवादी चित्र में नग्नता रहती है। इसमें मानव का जीवन पशु-स्तर की वृत्तियों से परिपूर्ण चित्रित किया जाता है। कभी पाठक का मन इस नग्नता से भय-भीत-सा हो उठता है। उसके हृदय में जीवन के कुत्सित रूप की सत्यता में अटल विश्वास हो जाता है। उसे जीवन की अनैतिकता ही सत्य प्रतीत होने लगती हैं। इस प्रकार का प्रकृतवाद मानव को स्वस्थ जीवन-शक्ति नहीं प्रदान कर सकता। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन इस यथार्थ को काव्योपयोगी नहीं मानता। जीवन के नग्न चित्रों अथवा तथ्यों को मार्क्सवादी कला और काव्य नहीं कहता। कलाकार जीवन की घटनाओं के अन्तस्तल में जाकर उन भावनाओं, विचारों और प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन करता है, जो उनको परिचालित करती हैं। मानव का जीवन किस दिशा में विकास कर रहा है और उसकी प्रेरक शक्तियाँ क्या हैं? इसी का अन्य प्रकार के राग-द्वेष, पक्षपात, वादों और मान्यताओं से ऊपर उठकर मार्क्सवादी दर्शन तथा समाजवादी यथार्थवाद की मान्यता के अनुरूप चित्रण ही मार्क्सदर्शन की दृष्टि में वास्तविक यथार्थवाद है। वस्तु और पात्र के यथार्थवादी चित्रण के साथ कलालार को इनकी परिवृत्ति में उन शक्तियों का अन्वेषण और उद्घाटन भी करना है, जिन्होंने पात्रों और वस्तु को यह स्वरूप प्रदान किया है और जो उनके भावी विकास का भी दिशा-निर्देश कर रही हैं। एंजिल्स इसी को यथार्थवाद मानता है।[1] "समाजवादी यथार्थ के तत्त्वों" के लेखक ने युद्ध-चित्र के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है। उनका तर्क है कि केवल युद्ध की विभीषिकाओं का चित्रण ही यथार्थवाद नहीं है अपितु उनके कारणों की उद्भावना तथा उस शक्ति का दर्शन भी यथार्थवाद है, जिस में भावी क्रान्ति और निर्माण के तत्व अत्यन्त स्पष्ट हैं। केवल विभीषिकाओं का चित्रण तो जीवन का एकांगी रूप है उसी को पूर्ण और यथार्थ मान बैठना जीवन का अस्वस्थ दृष्टिकोण है। सच्चे यथार्थवादी चित्र में अन्तर्हित प्रेरक विचार-धारा का तथ्यों और घटनाओं के साथ समानुपातिक सम्बन्ध होता है, उसमें कवि कार्य-कारण-सम्बन्ध की अवहेलना

of imagination, but in the world of bread and butter"

1. In addition to veracity of details, realism takes for granted true hortrayal of typical characters in the typical circumstances ......which surround them and motivate their behaviour.

Soviet Literature : The Features of Socialist Realism.

नहीं कर सकता।[1] उद्देश्य-विहीन तथ्य-निरूपण काव्य की वस्तु नहीं है, साथ ही मार्क्सवादी केवल भावी आशाओं के काल्पनिक चित्र को भी यथार्थ-काव्य नहीं मानना चाहता। इसमें तो जीवन की यथार्थता ही नहीं रहेगी। काव्य की यथार्थता के लिए अनुभूति की सच्चाई अपरिहार्य है, इसलिए यथार्थवादी कवि केवल कल्पना-लोक में विचरण नहीं कर सकता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी न ऐतिहासिक और प्रत्यक्ष जगत् के तथ्यों के नग्न चित्र को काव्य मानता है और न केवल कल्पना-लोक की आशापूर्ण अभिव्यक्तियों को ही। उसका काव्य और यथार्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रेमचन्द जी का भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जा सकता है। यह आदर्श बाहर से आरोपित नहीं किया जाता, घटनाओं के अन्तस्तल से स्वतः स्फूर्त होता है। कलाकार स्वयं किसी आदर्श की कल्पना करके घटनाओं को उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर नहीं करता है, अपितु घटनाएं अपने स्वाभाविक रूप में ही उस ओर बढ़ती हैं। कलाकार का आदर्श उसकी अपनी वैयक्तिक और पूर्व निर्दिष्ट मान्यताओं का परिणाम नहीं होना चाहिए। वह तो वर्णित घटनाओं के अन्तस्तल में प्रवाहित जीवनी-शक्ति का ही विकासमान रूप होता है। वही प्रेरणा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। कलाकार का कार्य उस शक्ति का उद्घाटन तथा घटनाओं से सम्बन्ध स्थापित करना मात्र है। उसे अपनी कल्पना के प्रयोग की इतनी ही स्वतन्त्रता है। मार्क्सवादी कवि-प्रतिभा का इतना ही महत्व मानता है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है और इस प्रकार जीवन भी निरन्तर उन्नति की ओर बढ़ रहा है। इसलिए काव्य का यथार्थवाद जीवन की घटनाओं में विकास की प्रेरक शक्ति का दर्शन करना ही है। जीवन के सहज विकास की ओर उन्मुख करने वाली शक्तियों के उद्बोधन को यथार्थवाद कहकर मार्क्सवादी आदर्श और यथार्थ के समन्वय के स्वस्थ दृष्टिकोण को बल प्रदान करता है। समाजवादी यथार्थवाद पूर्व प्रचलित सभी वादों से भिन्न है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि मार्क्सवादी समीक्षक उन वादों का खंडन करता है।[2]

इन्हीं में प्रकृतवाद का भी अन्तर्भाव है। पर एडवर्ड अपवर्ड यह मानते हैं कि क्रान्ति के समय में जीवन का बुनियादी सत्य जीवन की सतह पर आ जाता है,

1—"I cannot consider the products of expressionism futureism cubism and other Isms the highest manifestations of artistic genious."

Soviet Literature. The Features of Socialist-Realism P. 29

2—Lenin on Art and Literature P. 42.

इसलिए उस काल में प्रकृतवादी चित्रण भी समाजवादी यथार्थ से भिन्न नहीं होता।[1] एडवर्ड अपवर्ड के कथन में इतना तो सत्यांश है कि क्रांति-काल में जीवन की उथल-पुथल के कारण वे विचारधाराएं स्पष्ट होने लगती हैं जिनमें मानव-जीवन के भावी विकास और गुणात्मक परिवर्तन की क्षमता अन्तर्हित है। क्रान्ति-काल में मानव अपनी रूढ़ धारणाओं को चुनौती दे देता है। पर साथ ही इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध आदि के समय का साहित्य स्थायी महत्व का नहीं हो पाता है। मानव अपनी विक्षुब्ध और विद्रोहात्मक मानसिक स्थिति के कारण जीवन के परम सत्यों के दर्शन नहीं कर पाता है। वह रूढ़ि-खण्डन के आवेश में जीवन के कुछ महत्वपूर्ण सत्यों की भी उपेक्षा कर जाता है। घास के साथ गेहूँ के पौधे उखाड़कर फेंक देने की संभावनाएं भी कम नहीं हैं। स्वयं ट्राट्स्की ने अपनी पुस्तक 'Literature and Revolution' में इस बात को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य-सृजन के लिए अवकाश स्थायित्व और समन्वयवादी दृष्टिकोण का वातावरण आवश्यक है। इसके अभाव में साहित्य क्षणिक प्रचारवादी महत्व का ही रह जायगा। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनके सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना का विकास तो हो रहा है, पर अभी उनकी कलात्मक चेतना अविकसित ही है।[2]

अब हम साहित्य के मार्क्सवादी मूल्यांकन पर विचार कर सकते हैं। मार्क्सवादी साहित्य को सामाजिक कृति मानता है और उसका मूल्यांकन भी समाज की उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है। मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अमृतराय कहते हैं: "मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाज-शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्‌घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।[3] अच्छी कलाकृति का सामाजिक जीवन के प्रति सच्चा होना अनिवार्य है। ऊपर हमने जिस यथार्थवाद पर विचार किया है, उसके प्रति सचाई और ईमानदारी के अभाव में मार्क्सवादी आलोचक किसी भी कला-कृति को अच्छा नहीं कह सकता। साहित्य में वर्तमान जीवन के प्रति ही सचाई नहीं होनी चाहिए अपितु भविष्य की सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर लेना भी उसके लिए आवश्यक है। उसे अतीत और वर्तमान के यथार्थ के अन्तस्तल में प्रवाहित भविष्य

१—'हंस', प्रगति-अंक, पृ० ३७६।
२—'लिटरलेचर एण्ड रिवोल्यूशन', पृ० २०३।
३—'नई समीक्षा', पृ० ५।

की नियामक शक्तियों को भी पहचान लेना है। ऐसा ही साहित्य दीर्घ काल तक जीवित रह सकता है। वह बासी और पुराना नहीं होता।[1] आज वे ही पुरानी पुस्तकें जीवित हैं जो अपनी समसामयिक भौतिक परिस्थितियों के प्रति सच्ची रहीं हैं और जिन्होंने मानव के अपेक्षाकृत स्थायी रूप एवं भावी विकास के तत्वों की पहचान की है। मार्क्सवादी आलोचक कला की भौतिक जगत् के प्रति सचाई को बहुत अधिक महत्व देता है। एडवर्ड अपवर्ड अपनी मार्क्सवादी व्याख्या में कहते हैं: "कला-कृति वहीं तक सच्ची है जहां तक उसके भाव और विचार भौतिक जगत् के अनुभवों की व्यावहारिकता पर आधारित हैं।"[2] इसी विचारधारा में आगे लेखक साहित्य का सच्चे अर्थ में यथार्थवादी होना आवश्यक मानते हैं।

मार्क्सवादी जीवन-शक्तियों के आधार पर कला-कृति की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि उसके मूल्यांकन का प्रमुख आधार बौद्धिक है। पर यह मान लेना कि मार्क्सवादी आलोचना काव्य और कला में भाव-तत्व की आवश्यकता नहीं समझती अथवा उसको नितान्त गौण महत्व देती है, इस आलोचना के वास्तविक स्वरूप को न समझना-मात्र है। कला का प्रभाव बुद्धि पर ही नहीं अपितु हृदय पर पड़ना अधिक आवश्यक है। भाव-सवेदना और शैली की सजीवता के कारण एक कला-कृति अपेक्षाकृत कम गम्भीर और उलझे हुए बुद्धि तत्व के साथ भी संवेदना-तत्व-विहीन एवं प्रौढ़ बुद्धि-तत्व वाली कला-कृति से कहीं उत्कृष्ट ही मानी जायगी। पर साहित्य में नितान्त संवेदना-शून्य रचना की कल्पना ही निराधार है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि में श्रेष्ठ कलाकृति का क्या स्वरूप है। इस आलोचना के सम्बन्ध में फैली हुई कुछ भ्रांतियों का भी इस विवेचन से निराकरण हो जाता है। लेनिन—साहित्य में जन-समुदाय के विचारों, भावों और अभिलाषाओं के सामजस्य की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि यह सामंजस्य जन-समुदाय के उत्थान की दृष्टि से ही होना चाहिये। इस प्रकार वे साहित्य में भाव-तत्व का भी महत्व

१—एडवर्ड अपवर्ड "साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, 'हंस-प्रगति अंक' पृ० ३७६।

2. "Modern literature if it is to be true to life and if its emotional generalisations of life are to help us to live rather than to beguile us or dupe us must view the world realistically.' And it must view not merely the surface of life, isolated facts of life but the fundamental forces at work beneath the surface."

The Mind in Chains P. 47.

स्वीकार कर रहे हैं। पर कुल मिलाकर यह कहना असमीचीन नहीं है कि मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य का प्रयोजन नवीन जीवनदृष्टि देना है, जिसका सम्बन्ध विचारों से अधिक है।

समाजवादी यथार्थवाद : एक सम्प्रदाय विशेष का दृष्टिकोण :

अब तक समाजवादी यथार्थ के उसी स्वरूप पर विचार हुआ है जिसको हम इस सिद्धान्त की आधार-भूमि कह सकते हैं। इसमें यथार्थवाद के व्यापक स्वरूप पर विचार हुआ है। यथार्थवाद की यह व्याख्या प्रत्येक देश और काल के साहित्य-दर्शन को मान्य है। यथार्थ की यह उदार दृष्टि है जो किसी सम्प्रदाय विशेष के पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं। अब तक का मूल्यांकन-सम्बन्धी विवेचन इन्हीं आधारभूत सिद्धांतों का ही स्पष्टीकरण है। समाज की दृष्टि से साहित्य के उपर्युक्त मूल्यांकन के महत्व और उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्य के लिए इस प्रकार की यथार्थता और जनवादिता का सिद्धांत आज प्राय: सर्वमान्य-सा हो गया है। पर साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या यहां समाप्त नहीं हो जाती है। उसका एक स्वरूप और है, जिसको हम एक प्रकार से सम्प्रदायवादी कह सकते हैं; और यही वास्तविक मार्क्सवादी यथार्थवाद है। मार्क्सवादी व्याख्या के अधिकांश विरोधियों ने इसी स्वरूप का खंडन किया है। पर मार्क्सवादी को अपने इस सम्प्रदायवादी स्वरूप के रखने का पूर्ण आग्रह है। इसे वह अपना सच्चा स्वरूप समझता है। साहित्य के क्षेत्र में यही उसकी अपनी मौलिक देन है। आगे हमें इस स्वरूप का भी सिंहावलोकन कर लेना है। मार्क्सवाद मानव के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास का एक विशेष क्रम मानता है। उसने इस विकास को कुछ युगों में बांट रखा है। यह कहने की तो अब आवश्यकता ही नहीं है कि इस विभाजन का आधार भौतिक है। उत्पादन के प्रकारों और सम्बन्धों के आधार पर ही इन युगों का नामकरण हुआ है। मार्क्सवादी समाज-शास्त्र का यह अटल विश्वास है कि समाज का विकास इन्हीं अवस्थाओं में हुआ है। उनके अनुसार इतिहास इस बात का प्रमाण है कि आदिम साम्यवाद का स्थान दास-प्रथा ने, दास-प्रथा का स्थान सामंतशाही ने, तथा सामन्तशाही का स्थान पूंजीवाद ने लिया है। उनका कहना है कि इस आधार पर, इतिहास के इसी प्रमाण पर, यह निष्कर्ष भी ठीक ही माना जायगा कि पूंजीवाद का स्थान समाजवाद लेगा। आज पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली विकृत हो गई है। उसमें मानव के भावी विकास की क्षमता तथा उत्पादन के साधनों को और विकसित करने की शक्ति नहीं रह गई है। इस प्रथा में उत्पादन के साधनों पर एक व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो गया है और उस स्वामित्व की रक्षा के लिए उसे

फासिस्ट शासन-प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। उसमें दिन-प्रतिदिन शोषण और अराजकता बढ़ रही है, इसलिए मानव के विकास के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसका स्थान समाजवाद ले। पूंजीवाद ने स्वयं ही मजदूर और सर्वहारा वर्ग की वर्गचेतना के रूप में अपने विनाशक तत्व तैयार कर लिये हैं। जन-साधारण की विचारधारा का प्रवाह स्पष्ट कर रहा है कि उनका विनाश अवश्यम्भावी है। मार्क्सवादी पूंजीवाद के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था को ही मानव के विकास की अगली अवस्था मानता है। इसमें वह इतिहास को साक्षी समझता है। अतीत का युग-क्रम भावी अवस्था के लिए पर्याप्त प्रामाणिक संकेत है। यही मार्क्सवाद का तर्क है।

समाजवाद के आगमन को अनिवार्य और अवश्यम्भावी मानकर मार्क्सवादी आलोचक ने वर्तमान साहित्य की श्रेष्ठता का मानदंड भी इसी के अनुरूप तैयार किया है। ऊपर पहले जिस मान का उल्लेख हुआ है वह मार्क्सवादी आलोचना की सामान्य और व्यापक प्रणाली माना जा सकता है। पर मार्क्सवादी इस प्रणाली के विशेष सिद्धान्तों को अधिक महत्व देता है। वह यथार्थ के अन्तस्तल में प्रवाहित जीवन-शक्ति का पहले से निर्वचन कर देता है। दास-प्रथा के पतन-काल में उसके अर्थ-उत्पादन के साधन तथा सामाजिक विकास के अनुपयोगी होने के उपरान्त का साहित्य अगर सामन्तशाही युग के निर्माण की प्रेरणा नहीं देता है, तो उसमें वस्तुतः समाजवादी यथार्थ का निर्वाह नहीं है। मार्क्सवादी उसको प्रतिक्रियावादी मानता है। इसी प्रकार आज मार्क्सवाद का यह पूर्ण विश्वास है कि भावी युग समाजवाद का है और इस युग के यथाशीघ्र आने में ही मानव का कल्याण है। इसलिए आज के साहित्य का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह समाजवादी युग के निर्माण को कितनी प्रेरणा प्रदान करता है। मार्क्सवाद शाश्वत सत्यों को नहीं मानता। इसलिए पुराने मार्क्सवादी के अनुसार तो साहित्य के मूल्यांकन का भी कोई ऐसा शाश्वत और निरपेक्ष मानदंड नहीं हो सकता है, जो प्रत्येक युग के साहित्य पर लागू हो। उसे साहित्य का युग-सापेक्ष प्रतिमान ही मान्य हैं और वह उसकी दृष्टि में युगानुकूल बदलता रहता है। मार्क्सवाद का पूर्ण विश्वास है कि आज के युग की बुनियादी शक्ति पूंजीवाद के विनाश और समाजवाद के निर्माण में तत्पर है, इसलिए आज के यथार्थवादी और सच्चे साहित्य के लिए कम या बेशी रूप में इन दोनों को स्वीकार कर लेना नितान्त आवश्यक है।[1] आज अच्छा

1. Edward upward—The Mind in chains P. 49.

लेखक बनने के लिए उसको व्यावहारिक जीवन में मार्क्सवादी बनना पड़ेगा।[1] लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में साहित्य का कम्युनिस्ट-पार्टी से सम्बन्ध माना है।[2] वे साहित्य को इस पार्टी के सिद्धान्तों के प्रचार का साधन मानते हैं तथा पार्टी के कार्यों और सिद्धान्तों से साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह करते हैं। लेनिन आज के प्रचलित साहित्य-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि आज के साहित्य का आधार वैयक्तिक है। वह कुछ उच्च वर्ग के लोगों का चित्र देता है। वास्तविक स्वतन्त्र साहित्य वह होगा जो देश के उन लाखों-करोड़ों मजदूरों की सेवा करेगा, जो देश की वास्तविक शक्ति हैं, जो देश के फूल हैं।[3] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादी साहित्य-समालोचना का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण साहित्य को प्रचार का एक साधन के रूप में मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थ को केवल वर्तमान साहित्य के मूल्यांकन का ही मान नहीं समझता है। वह अतीत के साहित्य को भी इसी आधार पर आंकता है। साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियों के यथार्थ चित्र तथा मानव-जीवन के भावी विकास की प्रेरणा की क्षमता के आधार पर श्रेष्ठ कहने में तो मार्क्सवादी भी व्यापक, उदार और सर्वमान्य दृष्टिकोण का ही परिचय देता है, पर जब वह मानव-विकास के निश्चित युगों की सुगन्धि अतीत के साहित्य में भी सूंघने लगता है, उस समय वह वहां पर भी सम्प्रदायवादी हो जाता है। मार्क्सवादी को वर्तमान की तरह अतीत के साहित्य के मूल्यांकन में भी साम्प्रदायिक बने रहने का पूर्ण आग्रह है। वह अतीत के साहित्य के लिये भी इसी रूढ़ मानदण्ड का उपयोग करने का समर्थक है।

1. Edward upward-The Mind in chains P. 49.
2. Literature must become party literature. As opposed to burgeois literary careerism and individual lordly anarchism and chasing for profits. The socialist proletariat must put forward the principle of Party Literature, develop this principle and realise it in its fullest and most complete form......... Literature must become a part of the proletariat cause as a whole, a part and parcel of a single whole......Literature must become an integral part of an organised, planned, united, social economic party work. (Lenin on Art and Literature P. 45).
3. Lenin on art and literature'; P. 45

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मानी गई समाज विकास की विभिन्न अवस्थाओं के दो रूप रहते हैं। एक वह, जब वे प्रगट एवं स्पष्टतः मानव कल्याण की अवस्था रहती हैं और दूसरी वह जब उनका मानव कल्याणकारी रूप अवरुद्ध हो जाता है तथा वे मानव के सामूहिक विकास में बाधक हो जाती हैं। पहली अवस्था प्रगतिशील है और दूसरी प्रतिक्रियावादी। उन अवस्थाओं की विचार-धारा, नैतिक धारणायें एवं सौन्दर्य-दृष्टि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था आज प्रतिक्रियावादी बन गई है। अपने ही अन्तर्विरोधों के कारण वह प्रत्यवस्थान (Antithesis) को पहुँच रही है। पर एक समय वह थीसिस (Thesis) भी थी। उसने मानव को कुछ अन्य कल्याणकारी एवं उदात्त विचार-धारा, एवं तदनुरूप नैतिक मूल्य तथा सौन्दर्य-दृष्टि भी प्रदान की। व्यक्ति के स्वातन्त्र्य, समानता, मानव की प्रगति में विश्वास, मानव की शक्ति और पूर्णता में विश्वास, अन्धविश्वासों से मुक्ति तथा इहलौकिकता में आस्था आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण, शक्ति-शाली एवं अन्य विचारों तथा विचार-धाराओं को यूरोप में तो जन्म देने का श्रेय पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रगतिशील रूप को ही है। यूरोप के साहित्य, कला एवं सौन्दर्य के क्षेत्र में रोमान्टिसिज्म का जन्म भी इसी व्यवस्था का परिणाम है। रूढ़ियों और परम्पराओं की जकड़ से मुक्ति, स्वच्छन्दता एवं स्वतन्त्रता का विषय के रूप में ग्रहण, भाषा, शैली एवं छन्द में मुक्तता, तथा स्वच्छन्दता एवं सौष्ठव की अभिव्यक्ति और इन सभी में सौन्दर्य की अनुभूति करना—यूरोप के साहित्य एवं कला की यह सारी निधि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रगतिशील रूप की ही देन हैं। हिन्दी के छायावादी काव्य की भी ये प्रमुख विशेषतायें हैं। पर इन्हें विशुद्ध रूप से भारतीय पूंजीवाद की देन मानना समीचीन नहीं। रोमान्टिसिज्म के प्रभाव एवं प्रेरणास्वरूप भारतीय आध्यात्मिकता, दर्शन, प्राचीन भारतीय ध्वनि सिद्धान्त के द्वारा मान्य काव्य की स्वच्छन्द चेतना आदि का पुनरुत्थान भी है।

पूंजीवाद की पतनशील एवं प्रतिक्रियावादी अवस्था में व्यक्ति के स्वातंत्र्य की स्वस्थ भावना स्वार्थ—केन्द्रित वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है। पूंजी एवं अधिकार के लिए प्रतिस्पर्धा की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो जाता है। व्यक्ति में समाजकल्याण की भावना गौण तथा अपना स्वार्थ प्रबल हो जाता है। वह अपने लिए ही ऐहिक सुखों एवं भोगों को बटोरने लगता है। उसमें विलासिता की वृत्ति बढ़ जाती है, प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सौन्दर्य-दृष्टि भी वासनात्मक हो जाती है। उसमें एक उत्तेजक साज-सज्जा का तत्त्व प्रबल हो जाता है।

प्रतिस्पर्द्धा एवं युद्ध आदि अथवा कामवासना आदि ही काव्य के प्रधान विषय बन जाते हैं। मानव सामान्य अथवा विशेषतः निम्न एवं मजदूर वर्ग के लिए सहज

करुणा का भाव नहीं रह जाता है। व्यक्ति अश्लीलता की छिपी हुई व्यंजना में अधिक आनन्द लेने लगता है । व्यक्ति-केन्द्रिता, स्वार्थपरायणता, भोगलिप्सा तद्जनित अतृप्ति, प्रतिस्पर्धा आदि के भाव—सब मिलकर मानव में नैराश्य, कुंठा अनास्था आदि जगा देते हैं । यही आज के मानव-समाज की अवस्था हैं। इस स्थिति का भान कवि और कलाकार को होना चाहिए। इस स्थिति का कारण पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था है तथा इस रोग का निदान समाजवाद है। इन दोनों में आस्था होना ही मार्क्सवाद के अनुसार कलाकार की वर्तमान प्रगतिशीलता का मानदण्ड है। वर्तमान परिस्थितियों में समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार काव्य की प्रगतिशीलता तथा उत्तमता का यही मानदण्ड है।

अर्थोपार्जन के साधनों पर से व्यक्ति के एकाधिपत्य को हटाना, प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना, पारस्परिक सहयोग कायम करना, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के द्वारा प्रतिष्ठित आज की शासन पद्धति के नियन्त्रणों से मुक्ति, मानव में स्वस्थ एवं वास्तविक समानता, मैत्री एवं प्रेम की भावना को पुनः प्रतिष्ठित करना तथा इन्हीं में सौन्दर्य अनुभव करना—ये ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य हैं। आज के प्रगतिशील लेखक को जीवन के इन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी है । ऐसे ही साहित्य को प्रोत्साहन देना है। समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार आज ऐसे ही साहित्य को प्रेरणा देना प्रगतिशीलता है।

जीवन के जिन आदर्शों का मार्क्सवादी समाज-दर्शन ने पूंजीवाद एवं समाजवाद के साथ अभिन्न सम्बन्ध माना है, वे भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में ही प्रतिष्ठित होगये थे। मार्क्सवाद के अनुसार उस समय यहां पर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था नहीं थी । समाजवाद की प्रतिष्ठा तो आज भी नहीं हो पाई है। इस प्रकार मानवीय आदर्शों का इन अर्थ-व्यवस्थाओं से अपरिहार्य सम्बन्ध मानना केवल एक विचार-धारा के प्रति पूर्वाग्रह मात्र है। इसी से मार्क्सवाद का दृष्टिकोण एक सम्प्रदाय विशेष का संकुचित दृष्टिकोण बन जाता है। समाज और मानव का कल्याण उसी दिशा में बढ़ने में ही है जिसकी ओर मार्क्सवाद ले जाना चाहता है—यही रूढ़िवादी, जड़ एवं पूर्वाग्रह से ग्रसित दृष्टि है । इसी के विरोध में नव मानवतावाद की विचार-धारा आई है।

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा में साहित्य को जो सामाजिक क्रिया कहा गया है और उसके लिए जन-साधारण के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य माना गया है, उसका विरोध नहीं किया जा सकता, पर यथार्थवाद का तात्पर्य जीवन का नग्न चित्र नहीं है। कला जीवन का फोटो नहीं है, यह उनको भी मान्य है उसमें जीवन के वास्तविक तथ्यों के साथ उसकी प्रेरक शक्तियों का

उद्घाटन भी आवश्यक है। कलाकार को भावी विकास की प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति के भी स्पष्ट दर्शन कर लेने चाहिएं। साहित्यकार अपने युग का केवल उपभोक्ता नहीं है, वह मार्गनिर्देशक भी है। वह अतीत का संरक्षक, वर्तमान का प्रेक्षक एवं प्रेरक और भविष्य का निर्देशक है। युग से निरपेक्ष रह कर साहित्यकार केवल अपनी ही तृप्ति के लिए जो रचना करता है, उसका समाज के लिए कोई उपयोग नहीं, कोई महत्व नहीं। ऐसी रचना चिरकाल तक जीवित भी नहीं रह सकती। प्रत्येक युग के अन्तस्तल में भावी विकास के तत्व अन्तर्हित रहते हैं और क्रान्तदर्शी कलाकार को उनके स्पष्ट दर्शन होने चाहिएं। कलाकार कल्पना द्वारा आत्म-तृप्ति मात्र तथा जीवन से पलायन का सन्देश न देकर मानव को जीवन-शक्ति प्रदान करे। साहित्य के मानदण्ड में युग-सापेक्षता भी एक अनिवार्य और आवश्यक तत्व है। साहित्य और जीवन का कोई भी भाव अविकल रूप से प्रत्येक युग के उपयुक्त नहीं हो सकता। ऐसा मानना जीवन को जड़ और स्थिर करना है। मार्क्सवाद की इन सभी मान्यताओं से विश्व के किसी भी सच्चे समालोचक का विरोध नहीं हो सकता। पर इन सामान्य सिद्धान्तों पर उन्होंने जो साम्प्रदायिक आवरण चढ़ा दिया है, उसके कारण उसकी आलोचना-पद्धति बहुत संकुचित और सीमित क्षेत्र की वस्तु हो जाती है। यह सीमित दृष्टिकोण साहित्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक है। युग और समाज का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर साहित्य-सृजन में व्यक्ति की उपेक्षा भी सम्भव नहीं है। हम चरित-मूलक समीक्षा के प्रसंग में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि साहित्य का सृजन समूह नहीं करता, अपितु व्यक्ति ही करता है। साहित्य में समूह व्यक्तित्व के माध्यम से ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिये साहित्य में व्यक्ति का अधिक महत्व है। किसी सीमा तक मार्क्सवादी व्यक्ति की उपेक्षा कर जाता है। मानव अपनी भौतिक परिस्थितियों की व्यक्तित्व-शून्य उपज नहीं है। उसका अपना एक चेतन व्यक्तित्व है। उसको समाज के फारमूलों से नहीं समझाया जा सकता। साहित्यकार के व्यक्तितत्व को केवल कुछ गिने-चुने सामाजिक प्रभावों और संस्कारों का समूह-मात्र कह देने से काम नहीं चलता है। उसका वह अंश भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता जो सामाजिक प्रभावों और संस्कारों को ग्रहण करता है और उनके प्रति एक विशेष प्रतिक्रिया भी करता है। ट्राट्स्की ने व्यक्तितत्व को जातीय, राष्ट्रीय आदि तत्वों का विशेष और असाधारण मिश्रण माना है और साहित्य-समालोचक के लिए इन तत्वों का विश्लेषण आवश्यक समझा है।[1] ट्राट्स्की "असाधारण" शब्द से उसी अंश

1. The truth is that even if the individuality is unique, it does not mean that it cannot be anylysed. Individuality is a welding

का निर्देश कर रहे हैं। राल्फ फाक्स भी उसी साहित्य को प्रथम श्रेणी का मानते हैं, जिसमें कलाकार के अन्तर्जगत् से निकला हुआ जीवन-दर्शन होता है। काव्य की महत्ता साधारण परिस्थितियों के पात्रों की कल्पना पर नहीं, अपितु महान् पात्रों की कल्पना पर निर्भर है। महत् की कल्पना महान् व्यक्तित्व वाले कलाकार द्वारा ही सम्भव है।[1] फिर साहित्यकार को वर्ण्य-विषय एवं जीवन-सदेश की निश्चित धारणाओं से बाँध देने पर साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है। साहित्यकार बंधी हुई परम्परा में चलने के लिए बाध्य किये जाने या सामाजिक अथवा राजनीतिक अनुचित नियंत्रण लगा देने पर, सच्चे साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। ऐसा प्रचारवादी साहित्य "बीड़ी-प्रचार-साहित्य" की कोटि में आ जायगा। उसमें स्थायित्व नहीं हो सकता। कम्युनिस्ट पार्टी के कठोर नियंत्रण एवं प्रचारवादी आग्रह से साहित्य के उस स्वरूप का निर्माण नहीं हो सकता जो मानवमात्र के हृदय को सदियों तक आंदोलित करता रहे। मार्क्सवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है पर उसके साथ समाजवादी विशेषण की अनिवार्यता को नहीं। भौतिकता का इतना आग्रह भी मान्य नहीं हो सकता। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद तो दर्शन और समाज-शास्त्र का एक सम्प्रदाय है। अन्य सम्प्रदायों की तरह उसमें भी केवल सत्यांश ही है, सत्य का पूर्ण रूप नहीं। अभी उनके सामने विज्ञान और दर्शन की अनेक ऐसी समस्याएं हैं कि जिनका उत्तर उनके पास नहीं है। आदिम साम्यवाद से सामन्तशाही आदि की विकास-अवस्थायें केवल यूरोपीय जीवन के सत्य हैं। भारतीय इतिहास की ये अवस्थायें नहीं रहीं। फिर मार्क्स भी अन्य देशों के परिप्रेक्ष्य में इसको पुनर्मूल्यांकन का सिद्धान्त मानते हैं। भारत में समाजवाद की प्रतिष्ठा गांधीवादी ढंग से भी सम्भव है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक साहित्यकार से मार्क्सवादी सिद्धान्तों को सत्य मानकर चलने का आग्रह दुराग्रह-मात्र है। फिर साहित्य केवल रोटी की समस्या हल करने का साधन

together of tribal, national class temporary and institutional elements and in fact it is in the uniqueness of this welding together in the proportion of this psycho-chemical mixture, that individuality is expressed. One of the most important tasks of criticism is to analyse the individuality of artist into its compon nt elements and to show this corelation."

(Literature and Revolution P. 59-60)

१—धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृ० १३६–१३७।

नहीं है, उसका सांस्कृतिक महत्व अधिक है। मार्क्सवादी चाहे सांस्कृतिक सत्यों को अस्वीकार करता रहे पर उनका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवादी के मस्तिष्क में भी मानव-कल्याण का एक स्वरूप है, जिसको कसौटी मानकर वह युग के कार्यों, अर्थ-उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों को विकासवादी अथवा प्रतिक्रियावादी कहता है। आज पूंजीवाद इसीलिए बुरा है न कि उसमें अर्थ-उत्पादन के साधनों को अधिक विकसित करके अधिक मानवों की भौतिक समृद्धि की क्षमता नहीं। मार्क्सवादी के द्वारा मान्य आदिम साम्यवाद आदि सभी अवस्थाओं के परिवर्तन का मूल हेतु मानव की यही भौतिक समृद्धि की आकांक्षा है। फिर भी मार्क्सवादी इसको भी शाश्वत न मानने का अभिनय कर रहा है। मार्क्सवादी भौतिक समृद्धि को ही मानव का परम ध्येय मानता है तो दूसरों को आध्यात्मिक उन्नति में मानव का परम कल्याण मानने का अधिकार है। इसलिए भारत साहित्य को मानव की आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानकर चलेगा, इसमें मार्क्सवादी को क्यों आपत्ति होनी चाहिये? फिर और ऐसी आपत्ति है भी तो वह दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भारत की आध्यात्मिकता में भौतिकता की अवहेलना नहीं है; क्योंकि उसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का समन्वय है। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी साहित्य मीमांसा ने सामाजिकता, यथार्थवाद आदि के सम्बन्ध में जो सामान्य धारणाएं बनाई हैं, वे तो साहित्य के लिए हितकर हैं, पर उनका साम्प्रदायिक रूप भारतीय साहित्य और संस्कृति—दोनों के विकास में बाधक है। रोमां रोला के शब्दों में कहा जा सकता है: "बिलकुल तुम्हारी तरह नहीं हो सकता। लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से मेल नहीं खाता वह क्रान्ति के बाहर है। क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति की महान् ध्वजा की छांह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के स्वप्न में डूबे हुए हैं। वही सपना मेरी आत्मा में भी है, लेकिन मैं उस अधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहां कम्युनिस्ट और बुर्जुआ दोनों अपने-अपने ढोल कलाकार के गले में बांधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं प्रतिभा के वातायन को उन्मुक्त रखता हूं और मेरी सांस घुटती है तो मैं खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देने में पीछे नहीं हटूंगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे, लेकिन आजाद मानव बनकर रहेंगे।" भारत में साहित्य की प्रगति के लिए इस विचार-स्वातन्त्र्य का आश्रय लेना बहुत ही आवश्यक है। यहां तो 'नया मुल्ला जोर से बांग देता है' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यहां के मार्क्सवादी को जो कुछ नहीं रुचता, जिसमें

मार्क्स के सिद्धांतों का खुला प्रचार उन्हें नहीं प्रतीत होता, वह सब बूर्जुआ और प्रतिगामी है। वास्तव में मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की गहराई में बैठने का प्रयास ही हमारे यहां बहुत कम हुआ है। उसमें भी समीक्षा के प्रौढ़तत्व मिल सकते हैं। उसमें साहित्य को युगानुकूल प्रकाश देने की क्षमता है, पर रूढ़िवादिता, और साम्प्रदायिक कट्टरता से मुक्त होने की आवश्यकता है। कुत्सित समाज-शास्त्री के आरोप से हिन्दी के मार्क्सवादी चिन्तक मुक्त रह पाये हैं? इधर कुछ उदार दृष्टिकोण का विकास हो रहा है, जिस पर आगे विचार होगा।

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि तथा ऐतिहासिक प्रणाली का ही विकसित रूप है। टेन आदि ने जिस प्रणाली का समर्थन किया था उसी को आधारभूत मानकर मार्क्सवादी भी चला है। टालस्टाय ने 'कला के लिए' के विराध में जिस उपयोगितावादी दृष्टि को प्रश्रय दिया था, वही मार्क्स के द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का सहारा लेकर मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन बन गया। साहित्य-क्षेत्र में कॉडवेल उसके प्रमुख एवं प्रारम्भकर्ता आचार्यों में से हैं। उसने इस प्रणाली को अपने भौतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आश्रय से पर्याप्त विकसित करके उसे एक साहित्य-सम्प्रदाय का रूप प्रदान कर दिया है। मार्क्सवादियों ने युग के स्वरूप की एक निश्चित धारणा उपस्थित की है। दूसरे उन्होंने साहित्य के विशेष उद्देश्य और साहित्य के निश्चित कर्तव्यों की भी अवधारणा की है। लेकिन वस्तुतः यह है—ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली सामाजिक उपयोगितावाद के साहित्य-सिद्धान्त का विकसित रूप ही। इसके मूलभूत सिद्धान्त और समीक्षा का सामान्य आधार वे ही हैं। मूलतः मार्क्सवादी साहित्य में सामाजिक उपयोगिता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह वस्तुतः सौन्दर्य नहीं शिव है। इधर मार्क्सवादी साहित्य दर्शन में सौन्दर्य—चेतना का भाव भी जागने लगा है। मार्क्स ने भी सौन्दर्य—चेतना को मानवीय संवेदना का एक स्तर माना था। आज का मार्क्सवादी सौन्दर्य-चेतना को भी वस्तुजगत के प्रति एक मानवीय प्रतिक्रिया का रूप विशेष मानने लगा है। यह सामाजिक उपयोगिता से नितान्त निरपेक्ष नहीं है। यह सामाजिक सौन्दर्य ही है। आज का मार्क्सवादी कलाकार भी सौन्दर्य-चेतना के विकास का समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर, अध्ययन करना चाहता है। समाज के परिप्रेक्ष्य के साथ ही लेखक के व्यक्तित्व का महत्व भी माना जाने लगा है। साहित्य और समाज को जोड़ने वाली कड़ी लेखक का व्यक्तित्व है।

हिन्दी की मार्क्सवादी समीक्षा—

व्यापक अर्थ में प्रगति का तात्पर्य साहित्य का मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग है। इस अर्थ के अनुसार साहित्य समाज की तत्कालीन

अवस्था का यथार्थ चित्र ही नहीं उपस्थित करता अपितु जीवन के विकास की प्रतिगामी शक्तियों के प्रति विद्रोह करता है तथा नवीन जीवन की प्रेरणा भी देता है। प्रगतिवाद का यह रूप प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर उभर आता है और साहित्य एवं मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार साहित्य को चिर-काल से मानव-संस्कृति के विकास में मूलभूत प्रेरणा-शक्ति माना जाता रहा है। प्रगति का यह अर्थ साहित्य-मात्र के लिए उपादेय है। प्रगतिवाद का दूसरा अर्थ तो रूढ़िवादी है और वह है—मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार साहित्य का दिशा-निर्देश करना, साहित्य को इस दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाना। पहले अर्थ में तो हिन्दी-साहित्य आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही प्रगतिशील रहा है। भारतेन्दु काल से ही साहित्य में समाज का चित्रण प्रारम्भ हो गया और कवि लोग देश को सामूहिक प्रगति की प्रेरणा, राष्ट्रीय चेतना तथा समाज-सुधार की भावना प्रदान करने लगे थे, पर छायावादी काव्य-धारा के नितान्त व्यक्तिवादी, भावुकतामय, निराशापूर्ण एवं विषादमय स्वरों में बदल जाने तथा कवि में सामाजिक अनुत्तरदायित्व की भावना एवं आलोचक के इन गीतों के जन-जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव की उपेक्षा करके उनकी कल्पना एवं भावुकता पर मुग्ध होने मात्र को समीक्षा समझ लेने की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। 'साहित्य जीवन के लिये हैं' का नारा अधिक बुलन्द हुआ। साहित्य और समीक्षा में सामंजस्य के स्वर तीव्र होने लगे। स्वस्थ एवं उदार प्रगतिवाद ठोस आधारों पर प्रतिष्ठित होने लगा। समाजवादी एवं मानवतावादी धारणायें साहित्य चेतना की नियामक बनने लगीं। पर इसी समय मार्क्सवाद के विश्वव्यापी प्रभावों से हिन्दी की प्रगतिशील चेतना भी ग्रस्त हो गई। पर रूढ़ अर्थ में प्रगतिवाद का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत नवीन है। सन् १ ३५ ई० में प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फारस्टर के सभापतित्व में पेरिस में एक सभा हुई। भारत में भी डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के उद्योग से सन् १९३६ में प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में 'भारतीय प्रगतिवादी लेखक संघ' की स्थापना हुई और इसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस प्रकार प्रगतिवाद का यह बालक अभी कुछ ही वर्ष का है। दूसरा अधिवेशन कवीन्द्र रवीन्द्र के सभापतित्व में हुआ। पर इन लोगों के भाषणों में प्रगतिवाद के रूढ़ या मार्क्सवादी रूप के दर्शन नहीं होते। प्रेमचन्द जी काव्य की उपादेयता के समर्थक थे। उन्होंने अपने सभापति-पद से दिये गए भाषण में स्वीकार किया है : "नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है······मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और लोगों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ······फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।" प्रेमचन्द जी का यह उपयोगितावादी

दृष्टिकोण तो उदार प्रगतिवाद के अनुकूल है, पर उन्होंने अपने भाषण में कहीं भी मार्क्सवादी सिद्धांतों की चर्चा नहीं की है। वस्तुत: प्रेमचन्दजी अथवा उस समय तक किसी भी यश-प्राप्त भारतीय लेखक को प्रगति का यह रूप अभीप्सित नहीं था। प्रगति को मार्क्सवादी सिद्धांतों का रंग तो बाद में दिया जाने लगा। सन् १६३७ में श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'हिन्दी में प्रगतिशील-साहित्य की आवश्यकता' नामक एक लेख लिखा था। उसमें वर्तमान साहित्य को पूंजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम कहकर मार्क्सवादी सिद्धांतों का हिन्दी साहित्य पर प्रथम बार आरोप किया गया। तब से प्रगतिवाद अपने रूढ़ अर्थ में भी विकसित हो रहा है। उसके बाद से ही कविता में वर्ग-संघर्ष, पूंजीवाद के विरुद्ध जिहाद, शोषक-शोषण, ध्वंसात्मक क्रान्ति आदि की बातें हो रही हैं। इससे प्रगति के उदार अर्थवाली धारा का विकास भी अवरुद्ध हुआ है। इस रूढ़ रूप में प्रगतिवाद राजनीति के प्रचार का साधन बना हुआ है उसमें साहित्य के मुक्त स्वरूप का विकास नहीं हो पा रहा है। केवल मार्क्सवाद की मान्य धारणाओं और विचारों को पद्य का रूप देकर कविता कहा जा रहा है। जन-जागरण के अवसर पर वे लाल रूस की ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।[1] इसप्रकार वे भारत की वर्तमान परिस्थितियों का फायदा उठाकर विदेशों के प्रति प्रेम ही नहीं अपितु परोक्ष रूप में भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा भी जाग्रत करते हैं। गांधीवाद, भारतीय आध्यात्मिकता आदि भारतीय चीजों का विरोध करके मार्क्सवादी-भौतिकता का प्रचार ही इनका प्रधान लक्ष्य है। मार्क्सवाद का जीवन-दर्शन भारत-भूमि की प्रकृति के अनुकूल है या नहीं, वह यहां की मिट्टी और जल से नहीं पनपा है, उसमें भारतीय मानव के विकास की कितनी क्षमता है, इसका विचार नहीं करते हैं। योरप के जीवन के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों पर आधारित मार्क्सवादी विचारधारा को भारत के जीवन पर ज्यों की त्यों थोप देने का प्रयास बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। मार्क्सवादी प्रणाली पर यहां के जीवन का अध्ययन करके यहां की समस्याओं का भारतीय समाधान ढूंढने का प्रयास अगर मार्क्सवादी करे तो ठीक है। मार्क्सवादी सिद्धांत की यही मूल प्रकृति है कि समाधान देश की भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप हो। आज का भारतीय कम्युनिस्ट

१---लाल रूस है ढाल साथियों, सब मजदूर किसानों का।
वहां राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी ॥
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का ॥

—नरेन्द्र

भी उस दिशा में सोचने के सिद्धांत को मानने लगा है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन पंक्तियों का लेखक पूंजीवादी शोषण का समर्थन कर रहा है और उसे भारतीय बता रहा है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में पूंजीवादी प्रवृत्ति का विकास सम्भव ही नहीं था। यह तो भारत को विदेशी देन है। इस प्रवृत्ति का निष्कासन भारत के विकास के लिए अनिवार्य है, पर मार्क्सवादी तरीके पर ही यह आवश्यक नहीं। इस दर्शन के प्रसार में भारत की संस्कृति को समूल नष्ट करने के प्रयास के भी कुछ तत्व हैं। इससे एक चिरकालीन अशान्ति को भी प्रोत्साहन मिलेगा। भौतिकवाद का प्रसार विश्व-व्यापी युद्धों का कारण रहा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अभी जड़, चेतन, मन, आत्मा आदि के महत्वपूर्ण प्रश्नों को नहीं सुलझा सका है। उसमें नीति का आधार जड़ भौतिकवाद है, इसलिए व्यक्ति को अत्यधिक स्थूल स्वार्थों का शिकार बना देता है। यह दर्शन आध्यात्मिकता एवं उसी पर आधारित नैतिकता तथा मानवता का विरोध करता है। इसमें मानव के शाश्वत कल्याण की चेतना नहीं है। भारतीय दर्शन भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों दृष्टियों से मानव को चिर-कल्याण की ओर ले जाता है, इसलिए मार्क्सवादी अर्थ-नीति और उद्योग-विकास-पद्धति को केवल सामयिक साधन के रूप में अपनाना ही श्रेयस्कर है, अन्तिम प्राप्तव्य के रूप में नहीं। हिंदी-साहित्य का कल्याण भारतीय दर्शन से उसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करने में ही है। पन्त आदि भौतिकवाद एवं आध्यात्मिकता के समन्वय पर आधारित जीवन-दर्शन एवं साहित्य-चेतना दे रहे हैं।

प्रगतिवाद के इस रूढ़ रूप के विकास में प्रगति का पहला रूप बहुत ही सहायक रहा है। वस्तुतः देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के कारण जन-साधारण में क्रांति की भावना जाग्रत हो गई थी। जनता साहित्य को क्रांति के अग्रदूत के रूप में देखना चाहती थी। कहने को तो यह कहा गया कि "राजनीति में जिन प्रेरणाओं से गांधीवाद का विकास हुआ, साहित्य में उन्हीं प्रेरणाओं से छायावाद का जन्म हुआ।" पर वस्तुतः यह बात सत्य नहीं है। पहले विश्व-युद्ध की विभीषिका से ही कवि अन्तर्मुखी हो गया। वह अपने व्यक्तित्व के चारों ओर ही केन्द्रित होकर जीवन के समष्टिगत रूप से विमुख हो गया। उसकी नितान्त अवहेलना करने के कारण उसकी कविता में पलायन और निराशा के स्पष्ट चित्र दिखाई पड़ने लगे। उसमें जीवन को विकास के मार्ग पर परिचालित करने की क्षमता नहीं रह गई, भावी विकास की प्रेरणा का अभाव हो गया। उसकी कविता मनोरंजन की वस्तु-मात्र रह गई। इसीलिए स्वयं छायावाद के कवियों में ही उसकी अशक्तता पर विश्वास हो चला और वे ही प्रगति की ओर चल पड़े। सबसे बड़ा उदाहरण तो पन्त जी का ही है। निराला भी इस दिशा में बढ़े हैं।

पन्त जी छायावादी-अशक्तता की प्रकट घोषणा करते हुए कहते हैं: "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" सुश्री महादेवी जी ने भी उसमें यथार्थ को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव बताया है। दिनकर भी प्रगति को वर्तमान परिस्थितियों का परिणाम मानते हैं। दिनकर आदि की कविताओं में क्रान्ति का सन्देश है। जीवन के प्रतिगामी तत्वों के संहार की प्रेरणा है। पन्त जी ने जीवन के अधिकारों से वंचित और पीड़ित मानवता के चित्र दिए हैं। रूढ़ प्रगतिवाद के अनुरूप ही उनकी इन कविताओं में अनुभूति और भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता का प्राधान्य भी हो गया है। सुश्री महादेवी भी नारी-स्वातन्त्र्य की घोषणा करती हुई रूढ़ धारणाओं की कठोर शृंखलाओं को तोड़कर फेंक देने की प्रेरणा देती हैं। पर इन सबमें प्रगति के स्वस्थ रूप का विकास हो रहा है, मार्क्सवाद पर अधिष्ठित साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का नहीं। प्रगति तो इस युग की चेतना है। साहित्य तथा जीवन-सम्बन्धी धारणा साहित्य और संस्कृति को उसी ओर अग्रसर भी कर रही है। पन्त, दिनकर, निराला, महादेवी आदि में प्रगति के जिस स्वरूप के दर्शन हो रहे हैं उनमें भावी विकास की बौद्धिक चेतना के साथ ही संवेदना और कलात्मक सौष्ठव का भी सामंजस्य है। इसमें मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के मंगलों का समन्वय है। व्यष्टि के चरित्र-निर्माण की प्रेरणा के साथ ही इसमें समष्टि के स्वरूप-संगठन के नवीन आदर्श भी हैं। इसको हम आध्यात्मिक लोकचेतनावाद कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने उस मानवतावादी दृष्टिकोण पर जोर दिया है जिसमें मानव के भौतिक कल्याण के साथ ही उसके नैतिक विकास का समन्वय है। प्रगति के यही स्वरूप स्वस्थ हैं, ये भारतीय जीवन-दर्शन के ही आधुनिक संस्करण हैं। भारत और हिन्दी-कविता का इनके साथ सामंजस्य में ही कल्याण है। साहित्य को यथार्थ मार्क्सवादी राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारों के प्रचार का साधन बनाना वस्तुतः उसकी विडम्बना-मात्र है।

पहले हम लिख चुके हैं कि काव्य की प्रत्येक धारा के पीछे साहित्य-दर्शन और जीवन-दर्शन की प्रेरणा होती है। इनके अभाव में साहित्य की धारा केवल फैशन रह जाती है और उसका जीवन-काल भी बहुत छोटा होता है। प्रगतिवाद के दोनों स्वरूपों की पृष्ठभूमि में ये दोनों दर्शन रहे हैं। पहले हमने साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सामान्य और स्वाभाविक सम्बन्ध तथा रूढ़ एवं मार्क्सवादी रूपों का निर्देश किया है। ये दोनों धारणायें क्रमशः दोनों प्रगतिवादों के साहित्य-दर्शन हैं। साम्प्रदायिक प्रगतिवाद स्वच्छन्द धारा के दर्शनों का अवलम्बन करके

धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ भी रहा है। यह हिन्दी-कविता की प्रगति के स्वस्थ लक्षण हैं। प्रगतिवाद की स्वच्छन्द धारा का आधार भारतीय जीवन-दर्शन तथा साम्प्रदायिक प्रगतिवाद के मार्क्सवाद का है। लेकिन धीरे-धीरे हिन्दी रूढ़िवादिता के आग्रह को छोड़ रही है। वह प्रकृत प्रगति के सिद्धान्त को मानकर विकास कर रही है। यह शुभ चिह्न है। प्रगतिवाद ने साहित्य का जीवन-दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध मानकर उसका महान् कल्याण किया है। यह प्रगतिवाद की एक महत्वपूर्ण देन है।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के प्रधान व्यक्ति श्री शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री अन्चल जी, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० नामवरसिंह आदि हैं। इन सभी आलोचकों ने मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत विवेचन किया है। हिन्दी में मार्क्स के सौन्दर्य-शास्त्र, कला और साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं का कोई क्रमबद्ध सर्वांगीण विवेचन अभी नहीं हुआ है। इन आलोचकों में से किसी ने ऐसे सर्वांगीण ग्रन्थ की रचना नहीं की है। हां, निबन्धों में मार्क्सवाद के इन सिद्धान्तों का परिचय निखरा हुआ अवश्य मिल जाता है। प्रसंगवश प्रयोगात्मक आलोचना में तथा विशेष रूप से इसी उद्देश्य से लिखे गए सैद्धान्तिक निबन्धों में इन लेखकों ने इस साहित्य-दर्शन की प्राय: सभी मान्य धारणाओं का परिचय दिया है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध, शासकवर्ग का साहित्य पर आधिपत्य, आदिम साम्यवाद आदि अवस्थाओं का निर्देश तथा उनसे साहित्य का सम्बन्ध, सामूहिक भाव, समाजवादी यथार्थ, साहित्य की उपयोगिता, साहित्य में कला, व्यक्ति, भाव और बुद्धि आदि प्राय: सभी पक्षों पर इन मार्क्सवादी आलोचकों ने विचार किया है। पहले मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन की जो सामान्य रूपरेखा दी गई है, उसमें निर्दिष्ट सभी सिद्धान्त इन लेखकों को मान्य हैं। पर सब लोग उतना व्यापक दृष्टिकोण नहीं अपना सके। इनकी समीक्षा का मान प्राय: रूढ़ अर्थ में मार्क्सवादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप में उन्होंने व्यापक मानदंड को स्वीकार किया है, पर प्रयोग में उतनी व्यापकता नहीं रह गई है।

हिन्दी का प्रगतिवादी अपने मान को सौंदर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण कहना चाहता है। वह साहित्य की उन प्रेरणाओं और शक्तियों का अध्ययन करना चाहता है जो उसे समाज से प्राप्त होती हैं और जिससे वह समाज का भावी निर्माण करना चाहता है। वह साहित्य को व्यक्ति-मात्र से सम्बद्ध अथवा समाज से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहता। चौहानजी के शब्दों में : 'अत: प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से

प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती हुई परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों, व्यंग्य, प्रतीक, उपमाओं, रूपक और शैली आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में देखकर उसकी सौंदर्य-शक्ति का मूल्यांकन करता है।'[1] प्रगतिवाद साहित्य का केवल सामंती पूंजीवादी आदि युगों की उपज के रूप में ही अध्ययन करने का समर्थन नहीं करता हैं। यद्यपि हिन्दी के प्रगतिवादियों का विवेचन व्यावहारिक रूप में यहीं तक सीमित है। अपितु उसकी सौंदर्य-शक्ति का (सामाजिक सौंदर्य-शक्ति) मूल्यांकन भी करता है। सिद्धान्त रूप से हिन्दी का प्रगतिवादी भी यह मानता है कि साहित्य-सामीक्षा का मानदण्ड इतना व्यापक होना चाहिए कि वह अतीत के साहित्य का भी मूल्यांकन कर सके। समीक्षक का कार्य साहित्य में अन्तर्हित उस शक्ति का अध्ययन करना है, जिससे वह अपने युग में तथा आज भी जन साधारण को प्रिय है तथा जो उसको प्रतिक्रियावादी साहित्य बनाने से बचाये रहती हैं। साहित्य-समीक्षा के मान पर श्री चौहान जी का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक कहा जा सकता है। वे साहित्य-समीक्षा के लिए 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की आवश्यकता समझते हैं। उन्हें मार्क्सवादी भौतिकवाद में विश्वास है और उनकी धारणाओं पर इसकी स्पष्ट छाप है। पर भारतीय जीवन की मौलिक विशेषताओं की उपेक्षा वे नहीं करना चाहते। वे हिन्दी समीक्षा के मानदण्ड को यहाँ के जीवन-सत्यों पर अवलम्बित करना चाहते है। वे प्रचारवादी साहित्य में स्थायित्व नहीं देखते। मार्क्सवाद की रूढ़ धारणाओं पर भारतीय साहित्य का मूल्यांकन केवल पूर्वाग्रह के साथ की गई समालोचना है। वे डॉ० रामविलास शर्मा की 'शरच्चन्द्र' आदि की आलोचना से इसी से सहमत नहीं हैं। श्री अमृतराय भी साहित्य को प्रचार तक ही सीमित रख देने अथवा साहित्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध मानने के विरोधी हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को व्यापक अर्थ में समझने का प्रयत्न किया है। श्री 'अंचल' की धारणाए अपेक्षाकृत रूढ़ कही जा सकती हैं। डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य का उसके युग की परिस्थितियों में रखकर ही अध्ययन करने के समर्थक हैं। पर मार्क्सवाद की रूढ़ धारणाओं और अपनी वैयक्तिक धारणाओं के पूर्वाग्रह से वे सर्वथा मुक्त नहीं हैं। प्रारम्भ में हिन्दी

1 प्रगतिवाद, पृ० ५।

का प्रगतिवादी चिन्तन प्लेखोनेव एवं कॉडवेल की मान्यताओं से आक्रान्त था। उसमें साहित्य की केवल समाजशास्त्रीय व्याख्या भर थी। वह साहित्य का नहीं, अपितु साहित्य के निर्मायक समाज के विवेचन को ही समीक्षा मान बैठा था। इस दृष्टि को शिवदान सिंह चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्रीय कहा है। पर स्वतन्त्रता के बाद, खास तौर से इधर के दस वर्षों में पश्चिम के मार्क्सवादी चिन्तन में भी एक नया मोड़ आया है, हिन्दी के मार्क्सवादी चिन्तन ने उसको सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है। अब साहित्य के सृजन एवं आस्वादन-पक्ष को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। इसीलिये रचनाकार के व्यक्तित्व एवं उसकी सौन्दर्य-चेतना का आपेक्षिक महत्व स्वीकृत हो गया है। साहित्य को समाजवादी या प्रगतिशील होने से पूर्व 'साहित्य' होना है। उसे मर्मस्पर्शी होना चाहिये। इसकी डॉ० रामविलास शर्मा, चौहान आदि प्रगतिशील चितकों ने इधर स्पष्ट घोषणा की है। अब तक ये चिन्तक साहित्य और समाज के सीधे सम्बन्धों में अर्थात् यांत्रिक सम्बन्धों में उलझे हुए थे, पर इधर वे साहित्य और समाज के अन्तर्सम्बन्धों अर्थात् वास्तविक द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की बातें करने लगे हैं। इतना ही नहीं उसके कलात्मक-नियोजन को महत्व दिया जाने लगा है। भारतीय संस्कृति एव यहाँ के जातीय जीवन के प्रति भी ये अधिक सजग हुए हैं। भाषा में लय-संगीन, कलात्मक सौन्दर्य आदि का महत्व स्वीकृत हो गया है। 'हंस', 'आलोचना' आदि पत्रों ने इस नवीन पद्धति में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। डॉ० रामविलास शर्मा की 'लोक जीवन और साहित्य' 'आस्था और सौन्दर्य', शिवदान सिंह चौहान की 'आलोचना के मान', प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'साहित्य धारा', नामवर सिंह की 'इतिहास और आलोचना' जैसी कृतियों के द्वारा हिन्दी की प्रगतिवादी चिन्तनधारा नवीन एवं उदार मार्गों को अपना रही है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी में प्रगतिवादी समालोचक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में अब भी अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ और पूर्वाग्रही है। वह पुरानी बंधी हुई मार्क्सवादी विचार-धारा का ही अपने आलोच्य लेखक पर आरोप करता है, वह यांत्रिक भौतिकवाद के आधार पर ही कवि और काव्य का विवेचन करता हैं और उसको उत्तम अथवा हेय कहने में निर्णायक का रूप धारण कर लेता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचारक, समाजवाद का प्रशंसक और पूंजीवाद को गालियां देने वाला साहित्य ही उनकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है। कवि से यह आशा करना कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को वह भी उनके जड़ रूप में ही काव्य का रूप देगा, अनुचित है। अंचल जी मजदूरों को किसानों की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी मानते हैं और प्रेमचन्द जी से यह आशा करते हैं कि वे मजदूरों का चित्रण करते। वे प्रेमचन्द जी में नवीन युग-प्रवर्तिका शक्ति

भी मानते हैं। पर अंचल जी प्रेमचन्द की क्रान्ति को व्यक्ति के भीतर से आने वाली कहकर उसका महत्व केवल इसीलिए कम कर रहे हैं कि उसमें मार्क्सवादी सामूहिकता के दर्शन उन्हें नहीं हो रहे।[1] यह आलोचना प्रेमचन्द जी के साहित्य पर अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़ धारणाओं का आरोप-मात्र है। डॉ० रामविलास शर्मा शरदचन्द्र के चित्रण को नष्टप्रायः जर्जर जमींदारी वर्ग का चित्रण मानते हैं। उसमें इन्हें प्रचंड व्यक्तिवाद की गन्ध आती है। डॉ० साहब को उनके उपन्यासों में प्राण-शक्ति का अभाव भी प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि से शरत् बाबू के उपयान्सों को केवल वे ही व्यक्ति पढ़ सकते हैं जिनको प्रेमाश्रुओं में अधिक आनन्द आता है। उनको समाज के आवारों, निकम्मों और अतृप्तआकांक्षा वालों से ही सहानुभूति मिली है। शरत् का साहित्य समाज के पुनर्निर्माण का सन्देश नहीं दे सकता है। उसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं है। वह साहित्य व्यक्ति की पुरुषार्थहीनता और असमर्थता को केन्द्र बनाकर घूमता है।[2] डॉक्टर साहब का यह दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण और स्वस्थ नहीं है। इस प्रकार की आलोचनाओं के सम्बन्ध में चौहान जी लिखते हैं, 'उनमें व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कारगत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, उपदेशों को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया गया है।"[3] इस प्रकार के पूर्वाग्रहों के आधार पर की गई समालोचनाओं से साहित्य का कुछ उपकार नहीं होता है। इससे साहित्य और संस्कृति के विकास में सहायता की अपेक्षा पाठक की बुद्धि को भ्रांति हो जाती है। आखिर शरत् की लोकप्रियता आवारों की रुचि की वस्तु कहकर टाली नहीं जा सकती। उनके पास जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने के लिए बहुत-कुछ है। उपन्यासकार के रूप में उनका महत्व आँकना भी समीक्षा है। चौहान जी प्राय: ऐसे आरोपों से बचते रहे हैं। उन्होंने साहित्य के विकास का सामूहिक विचारधारा की दृष्टि से अध्ययन किया है। विभिन्न युगों के साहित्य की मान्य धारायें कौनसी रही हैं और उनका किस प्रकार विकास होता रहा है, यहां तक तो चौहान जी एक ऐतिहासिक आलोचक की तरह निष्पक्ष होकर विवेचन कर जाते हैं। पर जहां पर वे साहित्य का मूल्यांकन करते हैं, उसके महत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहां उनमें भी पूर्वाग्रह की प्रधानता हो जाती है। हिन्दी के भक्ति-काल में कबीर और अन्य ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को श्रेष्ठ कहना तथा सूर और तुलसी में साम्प्रदायिकता की गंध लेना आज की राजनीतिक

१—समाज और साहित्य पृष्ठ १०३।

२—संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ १८१—१८३।

३—साहित्य की परख, पृष्ठ १९।

विचारधारा से उनका मूल्यांकन करना है। तुलसी में जो प्राण-शक्ति है, उसका एक अंश भी कबीर में नहीं मिलता। सारा हिन्दू समाज तुलसी के भावों और विचारों में आज तक अपने ही दर्शन करता है। आज भी वह हमारे जीवन का आधार है। कबीर को ऐसा सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ। फिर जिन अवस्थाओं में तुलसी ने 'मानस' की रचना की थी, उस समय के एक विशाल जन-समुदाय को एक व्यापक जीवन-आधार की आवश्यकता थी और वह तुलसी में ही मिल सका। तुलसी द्वारा दी गई जीवन-दृष्टि उस युग में भी प्रगतिशील थी और आज भी है। उसमें मानवता के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एवं उदार स्वरूप का चित्रण है। तुलसी का जीवन-दर्शन कबीर से अधिक समन्वयवादी है, इसलिये अधिक ग्राह्य, सार्वदेशिक एवं चिरन्तन है। कबीर ने जाति-पांति, कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों का खण्डन कर दिया था। बस इसी से वे तुलसी से बड़े नहीं हो गए। यह जीवन की वस्तु-स्थिति थी, उसके निषेध अथवा निंदन से प्रगति नहीं हो जाती। उनकी कटुता, उनके विष को दूर करके, उन्हें जीवन के समन्वयशील एवं व्यापक स्वरूप के अनुरूप बना देना प्रगतिशील चेतना है। यह कार्य तुलसी ने किया है। किसी चीज को उखाड़कर जीवन को निरवलंब बना देने की अपेक्षा जीवन को समन्वयवादी दर्शन देकर आधार प्रदान करना, प्रगतिशीलता है। तुलसी ने यही कार्य किया है। कबीर का अवमूल्यन नहीं, दोनों का उचित मूल्यांकन ही मेरा उद्देश्य है। तुलसी के काव्य का मूल्यांकन डाक्टर रामविलास शर्मा ने अधिक निष्पक्षता से किया है। उनकी शैली प्राय: सर्वत्र ही ऐतिहासिक है। इन निबन्धों में उन्होंने युग-चेतना और तत्कालीन अवस्थाओं का ध्यान रखा है। भारतेन्दु, तुलसी आदि को अपने युग का गतिशील लेखक मानना ही समीचीन धारणा है। डॉक्टर शर्मा ने इन कवियों की समालोचना में इसी उदारता और समीचीनता का परिचय दिया है। अपने युग के सांस्कृतिक विकास में सहयोग देना ही साहित्य की प्रगतिशीलता है। और ऐसा नहीं माना जाएगा तो अतीत का सारा साहित्य ही अप्रगतिशील हो जाएगा। इसी को रूढ़ मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहते हैं। लेनिन आदि को भी यह मान्य नहीं है, यह दिखाया जा चुका है। हिन्दी के प्रगतिवादियों को भी सिद्धान्त को जड़ रूप में ग्रहण करने के मोह का त्याग करना है। इसी से समीक्षा का स्वाभाविक विकास सम्भव है। पर ऐसा वे अभी नहीं कर पा रहे हैं। प्राय: सभी प्रगतिवादी आलोचकों को छायावाद पूंजीवाद की देन प्रतीत होता है। उसकी असन्तोष, निराशा, पलायन आदि की भावना उसी की देन है। छायावादी कवि उसी पूंजीवादी वर्ग का व्यक्ति है। अपने वर्ग में उसके लिए स्थान न होने के कारण उसमें असन्तोष जाग्रत हुआ है। चौहान जी ने इसी तथ्य को स्पष्ट करने लिए मार्क्स-दर्शन का पर्याप्त और प्रौढ़ सैद्धान्तिक

विवेचन किया है। छायावादी कवियों के सम्बन्ध में प्रगतिवादी आलोचक की मान्य धारणा श्री नरेन्द्र के शब्दों में अभिव्यक्त की जा सकती है—'हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके संस्कार और उनकी जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता के लिए यह दुरूह है। जनता उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण-ग्राहक कहां मिलेंगे।'[1] इस कथन से रूढ़िवादिता और प्रचारवादिता अत्यन्त स्पष्ट है। ऐसे निर्णय का विशुद्ध समालोचना की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। कभी-कभी जब प्रगतिवादी राष्ट्रीय कविताओं को पूंजीवादी परम्परा की कहने लगता है तब तो हद हो जाती है। कुछ कवियों और लेखकों की विशुद्ध भारतीय आदर्श की प्रगतिपूर्ण विचारधारा में मार्क्सवादी विचारों की झलक देखना, एक दूसरे प्रकार की रूढ़िवादिता है। प्रेमचन्द जी की आलोचना में प्रायः प्रगतिवादियों का यही दृष्टिकोण रहा है। श्री अमृतराय महादेवी की नारी-सम्बन्धी विचारधारा को मार्क्सवादी कहने में इसी का परिचय दे रहे हैं। महादेवी जी नारी के साथ ही भारतीय पवित्र नारी आदर्श के पूर्ण संरक्षण की समर्थक हैं, इसको श्री अमृतराय भूल जाते हैं। सारांश यह है कि हिन्दी का प्रगतिशील आलोचक अतीत और वर्तमान साहित्य में उस प्राण-शक्ति और उन विचारधाराओं को निष्पक्ष होकर नहीं देखना चाहता जो उस साहित्य के अन्तस्तल में झांक रही हैं। वह उन शक्तियों का जीवन के विकास की दृष्टि से मूल्यांकन नहीं कर पाया है। इसी में वह अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़िवादिता से अभिभूत हो जाता है। दूसरे वह प्रगतिवादी साहित्य का केवल विचारों की दृष्टि से ही मूल्यांकन करता है। उन्हीं विचारों को अभिव्यक्त करने वाली एक दर्शन-शास्त्र की पुस्तक और कविता की आलोचना में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। हिन्दी का मार्क्सवादी समीक्षक साहित्य का महत्व कलात्मक मूल्यों पर बिलकुल भी नहीं आंकना चाहता। इस भेद को व्यावहारिक रूप में मिटा देने का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी की प्रगतिवादी विचारधारा में साहित्य का अपना पृथक् व्यक्तित्व ही विलीन होता गया है। जिस वस्तु का मूल्यांकन करें उसके व्यक्तित्व की उपेक्षा करके अथवा उसको विलीन करके उस पर विचार करना बहुत ही अपूर्ण और एकांगी कहा जायगा। वह तो उसी के व्यक्तित्व को नष्ट करना है। यह चेतना परवर्ती समीक्षा में जागी और जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि मार्क्सवादियों ने अपने सिद्धान्तों को अधिक विस्तृत आधार-पटल दिया। कुछ स्वस्थ साहित्य दर्शन की ओर झुके, पर अभी उसे

१—प्रवासी के गीत।

तदनुरूप व्यावहारिक रूप मिलने में देर है । हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपनी समकालीन समीक्षा-शैलियों का भी उपयोग किया है और यह स्वाभाविक भी है । आलोचना की प्रचलित शैलियों के प्रभाव से एक काल का आलोचक अस्पृष्ट कैसे रह सकता है । ऐतिहासिक शैली के तत्वों की उपस्थिति तो इन सबकी विशेषता ही है । वस्तुतः ऐतिहासिक शैली का एक विशेष दिशा में विकसित रूप ही मार्क्सवादी आलोचना है । डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवरसिंह की शैली में यह तत्व अधिक प्रधान है । वे साहित्य का अध्ययन इतिहास की घटनाओं के आलोक में अधिक करना चाहते हैं । वे किसी वस्तु के विकास के ऐतिहासिक कारणों की उद्भावना करके उसका मूल्यांकन करते हैं । चौहान जी विशुद्ध इतिहास की घटनाओं की अपेक्षा समष्टिगत विचार-धारा का अन्वेष अधिक करते हैं । इस विचार-धारा का वे साहित्य से संबंध स्थापित करते हैं । साहित्य पर इसके प्रभावों तथा साहित्य में इसके विकास का सहयोग—इन दोनों बातों का अध्ययन करते हैं । यह प्रक्रिया भी एक प्रकार से ऐतिहासिक ही है । साहित्य समीक्षा के लिए यह अधिक उपयोगी एवं प्रौढ़ कही जा सकती है । प्रभावों के मूल्यांकन तथा मानव-समाज की विकास-परम्परा की मार्क्सवादी मान्यता को छोड़कर शेष आलोचना ऐतिहासिक ही है । श्री अमृतराय समष्टिगत विचार-धारा के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व का भी अध्ययन करते हैं । वे सामूहिक विचारों और युगीन परिस्थितियों से निर्मित कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं । यह कलाकार के व्यक्तित्व के विश्लेषण की पद्धति मार्क्सवादी समीक्षा में अभी अपना स्पष्ट रूप नहीं बना पाई है । अभी यह केवल पूर्वाभास मानी जा सकती है । अंचल जी की आलोचना में इनके अतिरिक्त छायावादी की-सी अस्पष्टता और अभिव्यक्ति के घुमाव के भी दर्शन हो जाते हैं । इसमें प्रभाववादी समीक्षा के तत्वों का आकलन है । श्रीप्रकाशचन्द्र जी कई-एक उदाहरणों द्वारा अपने विवेचन को स्पष्ट करके पाठकों को स्वयं उन्हीं निर्णयों पर पहुंचने का अवसर देते हैं । इनकी आलोचना में कुछ प्रभाववादिता का आभास भी मिल जाता है । गजानन माधव मुक्तिबोध का कामायनी : एक पुनर्विचार' मार्क्सवादी समीक्षा का अच्छा उदाहरण है । इसमें प्रसाद जी को सामयिक जीवन की समस्याओं के प्रति सजग बताकर तो श्री मुक्तिबोध ने एक उदार एवं विवेकशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है । पर मनु तथा प्रसादजी के जीवनदर्शन में मात्र सामन्त-शाही वर्ग-चेतना के दर्शन करके उन्होंने कामायनी के मानवतावादी आधार-पटल की उपेक्षा की है और उसके सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं मानवीय महत्व का अवमूल्यन भी किया है । युग के परिवेष्टन से कलाकार के व्यक्तित्व, कला की सृजनात्मकता एवं आस्वाद पक्ष का सम्बन्ध स्थापित करने से यह रचना मार्क्सवादी समीक्षा का अच्छा एवं प्रौढ़ उदाहरण अवश्य बन गई है । इसमें रचनाकार के मानस के निगूढ़ तथ्यों को प्रकाशित

करने का अच्छा प्रयास है। इसके अतिरिक्त 'वाणभट्ट की आत्मकथा' के गठन का जो विश्लेषण डॉ० कुन्तलमेघ ने किया है उससे रचयिता के सृजन की दिशा का वस्तुपरक विवेचन हो जाता है। डॉ० नामवर सिंह और मार्कण्डेय के कहानी सम्बन्धी वक्तव्य भी प्रगतिशील समीक्षा की नई दिशाओं का निर्देश कर रहे हैं। वर्तमान तथा पिछले दशक में इस समीक्षा-पद्धति का अनुसरण करने वाले अनेक ग्रंथ तथा निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। श्री शिवदानसिंह चौहान की 'आलोचना के मान', डॉ० रामविलास शर्मा के 'भारतेन्दु युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' 'आस्था और सौन्दर्य' आदि, प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'हिन्दी साहित्य में जनवादी परम्परा', 'आधुनिक साहित्य: एक दृष्टि', 'नया साहित्य एक दृष्टि', डॉ० नामवर सिंह का 'छायावाद', डॉ० रांगेय राघव का 'तुलसीदास का कथा शिल्प' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें आलोचक स्थान-स्थान पर निरी समाजशास्त्रीयता से ऊपर उठा है।

प्रगतिवादी विचार-धारा ने प्रारम्भ में कलाकार के व्यक्तित्व और उसके मानसिक स्वातन्त्र्य की बहुत अवहेलना की। साहित्य पर राजनीति के कठोर नियन्त्रणों को स्वीकार करके उसकी प्रगति में बाधा पहुंचाई है। कवि को निश्चित वर्ण्य-विषयों और विचार-धारा से बांध देने पर साहित्य और राष्ट्रीय इतिहास के प्रति प्रतिक्रिया के नाम पर अरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस प्रकार इसमें उसके प्रति अश्रद्धा जाग्रत करने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। प्राचीन नैतिक मूल्यों की रूढ़िवादिता को प्रकट करने के लिए प्रगतिवादियों ने अश्लीलता का भी आश्रय लिया है। नीति से विरुद्ध कृत्यों को समाज के अत्याचार का परिणाम कहकर उन्हें क्षम्य समझना, परोक्ष रूप से अनैतिकता का समर्थन-मात्र है। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन का भी एक बहुत ही रूढ़ और सीमित दृष्टिकोण अपनाया है। इतना सब-कुछ होते हुये भी प्रगतिवाद ने साहित्य-क्षेत्र में एक क्रांति अवश्य उत्पन्न कर दी थी। उसने साहित्य और समाज के महल को हिला डाला था। आज शताब्दियों से मान्य धारणाओं का पुन: मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति जाग्रत होगई है। आज जीवन के मूल्यांकन का नैतिक दृष्टिकोण बदलने की आकांक्षा उग्र होती जा रही है। इसीसे काव्य के औचित्य की धारणा में भी परिवर्तन आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जो कल तक अनुचित था, आज शायद उसे उचित मानने की प्रवृत्ति जग उठी है। साहित्य और समाज का अभिन्न सम्बन्ध मान्य हो गया है। साहित्य की नितान्त निरपेक्षता का सिद्धान्त धीरे-धीरे अमान्य हो रहा है। उसकी श्रेष्ठता का एक मानदण्ड सामाजिक उपयोगिता होता जा रहा है। कलाकार के व्यक्तित्व पर भी सामाजिक दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ हो गया है। काव्य की प्रेषणीयता को भी नवीन रूप मिल रहा है। उसका आधार कलात्मकता की अपेक्षा

युग की सामूहिक चेतना अधिक मानी जाने लगी है। रति, आदि स्थायी भावों की रूढ़िगत धारणाओं में परिवर्तन हो रहा है। उनके औचित्य और रस-क्षमता पर नवीन दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। साहित्य में भाव और कला पक्ष की सम्पूर्ण एकता की प्रतिष्ठा होती जा रही है। सौन्दर्य-बोध का मानदण्ड बदल रहा है। वह वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिक और समष्टिगत अधिक होता जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मान्य धारणाओं का फिर से मूल्यांकन और स्वरूप-निर्धारण करने की आकांक्षा जाग गई है। साहित्य-चेतना एवं समीक्षा-जगत् की इस महान् क्रांति के श्रेय का अधिकांश भाग प्रगतिशील भावना को देना समीचीन ही है। यह प्रगतिशीलता की उदार चेतना का कार्य है, रूढ़ प्रगतिवाद की प्रत्यक्ष देन नहीं है। पर मान्य धारणाओं के विरुद्ध इसके विद्रोहात्मक दृष्टिकोण ने आलोचकों में नवीन और विशुद्ध प्रगति की दृष्टि से विचार करने की आकांक्षा को अवश्य जन्म दे दिया है। रूढ़ और सम्प्रदायवादी प्रगतिशील दृष्टिकोण भी अब उदार दृष्टिकोण को अपनाता जा रहा है, इससे विभिन्न समीक्षा सम्प्रदायों के पारस्परिक अन्तर कम हो रहे हैं। इसमें हिन्दी आलोचना का सुन्दर भविष्य झाँक रहा है।

मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा :—

युग की परिस्थितियों में रखकर साहित्य और साहित्यकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन ऐतिहासिक समीक्षा है। यह आधुनिक समीक्षा के प्रमुख तत्वों में से है। भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, सौष्ठववादी तथा उसके बाद के सभी युगों के समीक्षकों ने ऐतिहासिक शैली का उपयोग किया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा का यह मान्य तत्व बन गया है और आज यह शैली हिन्दी में विकासोन्मुख भी है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी में इसका सबसे सम्यक्, पुष्ट एवं प्रौढ़ रूप मिलता है। द्विवेदी जी की समीक्षा में ऐतिहासिक शैली अपना स्वतंत्र एवं पृथक अस्तित्व तथा महत्व बनाये हुए है। दूसरे समीक्षकों में यह उनके सम्प्रदायों की उपकारक शैली मात्र है; पर द्विवेदी जी में उन साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के आश्रय से यह शैली एक नवीन स्वतंत्र सम्प्रदाय बन गयी है। एक तरफ यह शैली मार्क्सवादी समीक्षा में परिणत हुई तो दूसरी तरफ इसने द्विवेदी जी में मानवतावादी साहित्य-दर्शन का आधार पाकर समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर लिया। इसलिए इसे द्विवेदीजी की दृष्टि से शैली मात्र न कहकर संप्रदाय कहना ठीक ही है। द्विवेदी जी की मान्यता है, कि साहित्य जीवन-धारा का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। धारा के

विभिन्न भाग ही युग हैं। जीवन की यह धारा चिर-गतिशील और चेतन है। साहित्य की अत्युगीन जीवन की संपूर्ण सांस्कृतिक गतिविधि के परिवेष्ठन में रखकर उसको गतिशील, चेतन, परिवृत के सहज परिणाम एवं जीवन को गति प्रदान करने की प्रमुख शक्ति मानकर ही उसका ठीक मूल्यांकन संभव है। यह उदार एवं असाम्प्रदायिक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। जीवन और साहित्य की कोई प्रवृत्ति न अचानक जन्म लेती है और न समाप्त होती है। वह अपने पूर्ववर्ती युग का सहज परिणाम है और परवर्ती युग की प्रवृत्ति को रूपायित करती हुई उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार साहित्य और जीवन की अविच्छिन्न धारायें हैं; साहित्य और युग के इसी अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष रूप का अनुशीलन एवं मूल्यांकन ही द्विवेदी जी की दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा है। उनके लिए इतिहास और साहित्य—दोनों ही चेतन शक्तियां हैं, वे एक दूसरे से प्रभावित होती रहती हैं। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हिन्दी की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा काव्य-धाराओं के मूल की उस चेतना के विकासशील रूप का विश्लेषण किया है जो इन प्रवृत्तियों और धाराओं में रूपायित हुई हैं। उन काव्य-धाराओं को जीवन और वाङ्मय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर उनमें पारस्परिक संयोग सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने कबीर में 'कबीर' के व्यक्तित्व तथा विभिन्न काव्य-धाराओं का अध्ययन किया है। द्विवेदी जी ने साहित्य को अविरल स्रोत के रूप में शेष वाङ्मय से उत्पन्न कर के देखा है। साहित्य और जीवन के पारस्परिक संघर्ष का विचार करने की यह पद्धति समाज-शास्त्रीय है।

द्विवेदीजी की जीवन दृष्टि प्रकृतिवादी नहीं, मानवतावादी है। जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य पूर्व जीवों का लक्षण था; पर जो जैसा है उसे वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है—लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है पर औदार्य पर-दु:ख सम्वेदन उसमें नहीं होती, वे मनुष्य की अपनी विशेषतायें हैं। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामन्जस्य एक बात में होगा—मनुष्य का हित, हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एकमात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी कला-कला के लिए नहीं, अपितु कला को मानव कल्याण का साधन मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण मानवतावादी है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण विज्ञान पर आधारित है। उनके अनुसार मानव किसी प्रयोजन या लक्ष्य के लिए नहीं जीता है; पशु की तरह जीने भर के लिए जीता है। पर मानवतावादी जीवन दर्शन में मानव जीवन का कुछ लक्ष्य है। वह आदर्शों के लिए

जीता है, उन्हें प्राप्त करने के लिए जीता है। पर वह आदर्श कल्पना पर नहीं आदर्श पर अधिष्ठित है। द्विवेदी जी का मानव के कल्याण का दृष्टिकोण न विशुद्ध भौतिकवादी है न निरा आध्यात्मिक और परलोकवादी ही। वह वास्तव में सांस्कृतिक है। मानव भौतिक आवश्यकताओं की उपेक्षा तो नहीं कर सकता; पर औदार्य, प्रेम आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों में ही मानव का वास्तविक स्वरूप है। हृदय और बुद्धि की इस विशालता को प्राप्त कराना ही मानवतावादी दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन है। शुक्लजी का शील-विकास के सिद्धान्त में रागात्मकता पर जोर था, पर द्विवेदीजी ने मानव की संपूर्ण सांस्कृतिकता पर जोर दिया है। शुक्लजी का ध्यान व्यक्ति पर केंद्रित था पर द्विवेदी जी का समष्टि पर। शुक्ल जी के लोक-मंगल की भावना का ही यह विस्तार तथा नवीन सस्करण है। नैतिक आधार ही व्यापक रूप धारण करके साँस्कृतिक बन गया है। शुक्ल जी की तरह द्विवेदी जी भी साहित्य-दर्शन के मौलिक चिंतक हैं, उनके चिन्तन का मौलिक आधार भी भारतीय ही है। उनमें पाश्चात्य तत्वों के संग्रह-त्याग का नीर-क्षीर विवेक तथा भारतीय तत्वों के आधार पर उनके समन्वय की क्षमता है। द्विवेदी जी संस्कृति की अखण्डता में विश्वास रखते हैं। द्विवेदी का समीक्षात्मक साहित्य उनकी इतिहास सम्बन्धी रचनाओं तथा साहित्यिक लेखों के रूप में है। अपने निबन्ध और भाषणों में उन्होंने अपना मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है, पर प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र में विशेष युग के साहित्य अथवा विशेष साहित्य धारा ने मानवतावादी जीवन-दर्शन के किस पक्ष में प्रेरणा दी है, इस प्रकार के विवेचन बहुत अधिक नहीं हैं, उनका संकेत भर है। प्रयोगात्मक समीक्षा में द्विवेदी जी का महत्व हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में ही अधिक है। हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'मध्ययुगीन धर्म साधना' और 'नाथ सम्प्रदाय' के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी क्षेत्र के जीवन-समाज और साहित्य के विकास की कथा ही नहीं कही हैं, उन्होंने उस प्राण-धारा को भी देखने का प्रयत्न किया है जो अनेक परिस्थितियों में से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। द्विवेदी जी की व्यावहारिक समीक्षा वस्तुतः ऐतिहासिक ही अधिक कही जा सकती है। वे विज्ञान और साहित्य का भेद मानकर नहीं चलते। वे दोनों विशाल वाङ्मय के अंग हैं और द्विवेदी जी इस वांग्मय के समीक्षक हैं। वे साहित्य को ऐतिहासिक और साँस्कृतिक दृष्टि से परखते हैं। पुरातत्व, नृतत्व, समाज शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य के स्वरूप को समझने और मूल्यांकन करने की द्विवेदी जी ने चेष्टा की है। कबीर आदि कवियों तथा काव्य की मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का परवर्तीकाल के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा—द्विवेदीजी

ने इस दृष्टि से साहित्य और जीवन को देखा है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, मानवतावादी साहित्य-दर्शन को कुछ अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूपरेखा देकर, विभिन्न निश्चित मानव-मूल्यों के आधार पर साहित्य का विशद अध्ययन एवं मूल्यांकन द्विवेदी जी अधिक नहीं कर पाये; फिर भी उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण एक नवीन सम्प्रदाय की आधार शिला है। इस समीक्षा को ऐतिहासिक मात्र कह देने से उसके वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। द्विवेदी जी का सौष्ठववादी पद्धति में भी पूर्ण अन्तर्भाव भी सम्भव नहीं है। द्विवेदी जी ने उस पद्धति के साँस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष का मानवतावादी साहित्य-दर्शन के आधार पर एक नवीन सम्प्रदाय के रूप में विकास किया है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के प्रयासों में इसका पूर्वाभास मिल गया था, पर स्पष्टता तो इसे द्विवेदीजी ने ही प्रदान की। रामधारीसिंह 'दिनकर' के इतिहास के आलोक वाले निबन्ध में इसी समीक्षा के दर्शन होते हैं। परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तर भारत की सन्त परम्परा' 'कबीर' आदि रचनाएं साहित्य का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन ही हैं। चतुर्वेदी जी ने रचनाओं के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी मूल्यांकन किया है। उनकी समीक्षा में यह तत्व अधिक प्रखर और स्पष्ट भी हैं। पर मानवतावादी समाज-शास्त्रीय समीक्षा पद्धति के सम्प्रदाय के व्यक्ति कहलाने के योग्य स्वरूप तो द्विवेदी जी के चिन्तन और प्रयोग ने ही प्राप्त किया है।

: १३ :

समीक्षा की अन्य शैलियाँ : प्रभाववादी अभिव्यंजनावादी, मानवतावादी और चरित्रमूलक

पिछले अध्यायों में यथावसर हमने समीक्षा के सम्प्रदाय एवं शैली का अन्तर स्पष्ट किया है। हिन्दी-समीक्षा के छ: सम्प्रदायों का तात्विक विवेचन भी पिछले अध्यायों में हो चुका है। अब आगे के अध्यायों में समीक्षा की उन शैलियों का विवेचन करना है जिनको हम सम्प्रदाय की व्यापकता एवं गरिमा तक पहुँचे हुए नहीं कह सकते हैं। इनमें से कुछ में तो स्पष्टत: पृथक् सम्प्रदाय बनने की क्षमता है। प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी में पृथक् सम्प्रदाय के रूप में विकसित होने की क्षमता स्पष्ट है। सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के साथ इन शैलियों का निकटतम सम्बन्ध है। अगर हिन्दी की सर्जनात्मक और समीक्षात्मक चेतना मनोविश्लेषण-शास्त्र एवं मार्क्स-दर्शन से प्रभावित होकर प्रयोगवादी और प्रगतिवादी धाराओं में न बंट जाती तो संभवत: प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी समीक्षा शैलियां सम्प्रदाय के रूप में विकसित हो जातीं। हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा शैली ने एक तरफ शैली के रूप में अपना अस्तित्व भी अक्षुण्ण रखा है और दूसरी तरफ वह मार्क्सवादी तथा समाज-शास्त्रीय मानवतावादी समीक्षा भी बन गई है। पर चरित्र-मूलक समीक्षा शैली में अभी कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय का रूप धारण कर जाने की संभावना स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार हिन्दी में उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त निम्नलिखित समीक्षा शैलियां भी हैं—१. प्रभाववादी, २. अभिव्यंजनावादी, ३. मानवतावादी ४. चरित्रमूलक, ५. ऐतिहासिक।

प्रभाववादी समीक्षा :

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र आत्म-प्रधान (सब्जैक्टिव) और वस्तुमुखी, अथवा मान पर आधारित (आब्जेक्टिव) के नाम से साहित्य-समीक्षा के दो प्रधान भेद मानता है। इन्हें समीक्षा के दो प्रकार कहने की अपेक्षा उसकी दो प्रवृत्तियां कहना अधिक समीचीन है। इस प्रकार प्रत्येक आलोचक में इनके दर्शन होते हैं। शास्त्रीय मान को अपनी समीक्षा का आधार बनाने वाला समालोचक भी वैयक्तिक रुचि और निर्णय से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता तथा आत्म-प्रधान समालोचक भी कोई विशेष मान ग्रहण करके चलता ही है। वह साहित्य के एक विशिष्ट स्वरूप या धारणा का समर्थक होता है और उसी रूप के आलोक में साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करता चलता है। जहां पर वह स्पष्टतः मूल्यांकन नहीं करता, केवल कृति का रसास्वादन करता है, अथवा उसके सौन्दर्य से मुग्ध होता है, वहाँ पर भी वह अप्रत्यक्ष रूप में मूल्यांकन ही करता है। समीक्षा की इन प्रवृत्तियों का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इनका संघर्ष ही समालोचना का विकास है। पश्चिम के इतिहास में ये दो प्रवृत्तियां ही रोमाण्टिक और क्लासिक के नाम से निरन्तर संघर्ष करती रही हैं। एक युग ऐसा आता है जब साहित्य-समीक्षा नियमों से जकड़कर रूढ़ और परम्पराभुक्त हो जाती है, इसमें काव-स्वातंत्र्य का नितान्त अभाव हो जाता है। काव्य के नियम जड़ रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं, उसकी आत्मा उन नियमों के जंगल में कहीं खो जाती है। काव्य के बाह्य स्वरूप को अनावश्यक महत्व प्रदान किया जाने लगता है और आत्मा की उपेक्षा होने लगती है। कुछ समय तक ऐसी अवस्था रह सकती है, पर अन्त में कवि-प्रतिभा और सहृदय की सुरुचि इस कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और काव्य की आत्मा का अनुसंधान प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे समीक्षा भी आत्म-प्रधान और रोमाण्टिक हो जाती है। कालान्तर में यह प्रवृत्ति भी विकास की चरम स्थिति को पहुँच जाती है। समीक्षा शास्त्रीय तत्वों की अवहेलना करते-करते पूर्णतः वैयक्तिक या आत्म-प्रधान हो जाती है। उस समय किसी सर्वसामान्य धरातल की आवश्यकता ही समालोचक नहीं समझता। समीक्षा के अत्यधिक वैयक्तिक हो जाने के कारण उसकी उपादेयता भी सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है। यह भी एक चरम स्थिति है। पर समीक्षा का विकास निरन्तर इसी तरह हो रहा है। सौष्ठववादी दृष्टिकोण की चरम स्थिति ही—अर्थात् जिसमें काव्य की उपयोगिता, सौष्ठव आदि पर सर्वसामान्य एवं शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करके पूर्णतः आत्म-प्रधान समीक्षा हो, ऐसी स्थिति ही प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) समीक्षा है।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचक समीक्षा के विधान को नहीं देखता। वह साहित्य

को इतिहास, मनोविज्ञान, चरित्र-शास्त्र आदि की दृष्टियों से भी नहीं आंकता। उसके लिए सौन्दर्य-शास्त्र के नियम भी महत्वपूर्ण नहीं। वह तो साहित्य को अपनी रुचि से आँकता है। वह उपर्युक्त सब शैलियों तथा तत्वों को समीक्षा के प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तु समझता है। उसके लिए काव्य का एकमात्र उद्देश्य प्रेषणीयता है। आलोच्य पुस्तक द्वारा स्वयं को प्राप्त आनन्द ही मापदण्ड और उसका अपना निर्णय ही समीक्षा है। प्रभाववादी साहित्यिक कृति के प्रति सहृदय की प्रतिक्रिया को ही आलोचना कहता है। अन्य दृष्टियों से विचार करना उसके मत में समीक्षा नहीं है। सैंट्सबरी के अनुसार आलोचक में दो गुण आवश्यक हैं---पहला प्रभाव ग्रहण की क्षमता तथा दूसरा उसको अभिव्यक्त तथा प्रेषित करने की सामर्थ्य।[1]

स्पिन्गार्न भी इसी आलोचना के समर्थक हैं। वे इसे ही समीक्षा का प्रकृत दृष्टिकोण मानते हैं। उनके शब्दों में प्रभाववादी आलोचक का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। प्रभाववादी समीक्षक का कार्य कलाकृति के सान्निध्य से संवेग ग्रहण करना तथा उन संवेगों की अभिव्यक्ति करना है। उसकी समीक्षा-दृष्टि निम्नांकित वाक्यों में प्रकट होती है—'अमुक कविता कितनी सुन्दर है! इसे पढ़ना आनन्द-तरंग का अनुभव करना है। यह आनन्दानुभव स्वयं अपने आप में निर्णय है। मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि यह कृति मुझे कैसे एवं कितना प्रभावित करती है और मुझमें कौन से सवेग जगाती है।[2]

वैयक्तिक रुचि के प्राधान्य के कारण शुक्ल जी प्रभाववादी समीक्षा को समीक्षा ही नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं कि उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ

1 The first requisite of the critic is that he should be capable of receiving impressions, the second that he should be able to express and import them. —History of English Criticism P. 411

2 Anatole France described the critic not as a judge imposing sentence, but as a sensitive soul detailing his adventures among masterpeices...to have sensation in the presence of a work of art and to express them. That is the function of criticism for the impressonistic critic. His attitude, he would express some what in this fashion—'Here is a beautiful poem. to read it is for me to experience a thrill of pleasure, my delight in it is itself a judgement and what better judgement is it possible for me to give? All that I can do is to tell how it effects me, what sensations it gives me.'

—The New Criticim P. 427-428

विचार करने की जरूरत नहीं। जिस पर जैसा प्रभाव पड़े, वह वैसा कहे।"[1] लेकिन प्रभाववादी इसको भी दोष नहीं मानता। भिन्न-भिन्न आलोचकों पर एक ही कला-कृति के विभिन्न प्रभाव पड़ सकते हैं और पड़ते हैं। उन प्रभावों का पारस्परिक कुछ साम्य न होने में कोई आपत्ति नहीं। प्रत्येक को उसे भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार है। ऐसी समीक्षा स्वयं एक स्वतन्त्र कला-कृति हो जाती है। मूल पुस्तक का आधार लेकर एक नवीन सृजन होता है।[2] उसका कलात्मक महत्त्व भी है। कला-कृति बाह्य जगत् और जीवन की प्रतिक्रिया है और यह समीक्षा उस प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया। पर है वस्तुतः यह भी कलाकृति ही। प्रभाववादी समालोचक तो इन सबको गुण ही मानता है। वह कहता है कि समीक्षा का चरम विकास ही नवीन कला-कृति के सृजन में है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा मूल पुस्तक की अपेक्षा समीक्षक के मनोभावों और अनुभूति को प्राधान्य देती है। इस प्रकार यह आलोच्य वस्तु से दूर हट जाती है। प्रभाववादी इसका समर्थन भी यह कहके करता है कि अन्य प्रत्येक प्रकार की समीक्षा (ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि) प्रकृत क्षेत्र से पाठक को दूर ही ले जाती है। ये सब पद्धतियाँ इतिहास, मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र आदि की बातें करने लगती हैं। ये पद्धतियां कला-कृति के आधार से मनोविज्ञान या सौन्दर्य-शास्त्र की पुस्तकों का निर्माण करती हैं। प्रभाववादी को यह गर्व है कि वह एक कला कृति से दूसरी कला कृति को जन्म देता है। वह तो इसी को कला समीक्षा का चरम उद्देश्य मानता है। वह कहता है: Art can find only its alter-ego in art.'

अभिव्यंजनावादी समीक्षा : यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि शास्त्रीय विधान और नीति के बन्धनों से सौष्ठववादी आलोचना की अपेक्षा भी प्रभाववादी आलोचक अधिक मुक्त हो गया है। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में एक और ऐसा ही चरम दृष्टिकोण मान्य हुआ है और वह हैं, अभिव्यंजनावादी। युरोप में अभिव्यंजनावाद और कलावाद के नाम से दो वादों का बहुत ही प्राबल्य रहा है। भारतीय विचारधारा को भी इन दो वादों ने प्रभावित किया है,

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३४।

2. Other men will derive other sensations from it and express them differently, they too have the same right as I. Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us our sensations. That is the art of Criticism and beyond that criticism cannot go. (P. 428.)

इसका कुछ साधारण-सा संकेत सौष्ठववादी समीक्षा के प्रसंग में किया जा चुका है। इस प्रभाव के सम्बन्ध में आगे और विचार करने से पूर्व इन दोनों वादों के सामान्य परिचय की आवश्यकता है। ये दोनों वाद एक-दूसरे से प्राय: मिलते-जुलते हैं। अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता क्रोसे हैं, वे अभिव्यंजना को ही काव्य या कला मानते हैं। उनका अभिव्यंजना शब्द से विशेष तात्पर्य है। आत्मा का स्वयं-प्रकाश-ज्ञान एक अलौकिक शक्ति है। यह शक्ति जगत् की वस्तुओं को साकार और सुन्दर रूप प्रदान करती है। क्रोसे यह मानते हैं कि अभिव्यक्ति आभ्यन्तर और मानसिक होती है। कलात्मक विषय की अनुभूति आभ्यन्तर में ही अभिव्यक्त हो जाती है, वही कला है। जो कुछ शब्द, संगीत आदि के माध्यम से इन्द्रिय-गोचर होता है, वह तो उस आभ्यन्तर का बाह्यीकरण अथवा स्पष्टीकरण-मात्र है।[1] इस प्रकार की अभिव्यक्ति को क्रोसे सुन्दर ही मानते हैं। वे उसके असौन्दर्य की कल्पना की सम्भावना को ही स्वीकार नहीं करते।[2] क्रोसे सौन्दर्य को रूप (फार्म) मानते हैं।[3] क्रोसे ने वस्तु की उपेक्षा नहीं की है। अभिव्यक्ति में नानात्व का कारण पदार्थ है, पर फिर भी उसे सौंदर्य वस्तु की अपेक्षा अभिव्यक्ति (फार्म) में ही मान्य है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त क्रोसे यह भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि काव्य का सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं। उसके सम्बन्ध में नीति, उपयोगिता आदि की बात समीचीन नहीं। कला के लिए सत्य और शिव शब्दों का उपयोग ही क्रोसे अनुपयुक्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि-सम्बन्धी व्यापारों के लिए ही "सत्य" शब्द की उपादेयता है तथा मंगल-अमंगल तो धर्म या नीति के क्षेत्र की वस्तु हैं। इस प्रकार क्रोसे ने काव्य या कला को विशुद्ध सौन्दर्य के क्षेत्र की वस्तु माना है। उसमें अन्य किसी वस्तु की खोज निरर्थक है। काव्य का महत्व केवल सौन्दर्य पर आश्रित है। यह कहने की आवश्यकता

1. When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or statue, when we have found a musical theme, expression is formed and is complete nothing more is needed...What we then do is to say aloud what we have already said within sing aloud what we have already sung within. (Croce.)

2. We define beauty as successful expression or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression. (Ibid).

3. Aesthetic fact is form and nothing but form. (Croce.)

नहीं कि सुन्दर शब्द में आनन्द भी अन्तर्हित है। यह क्रोचे के विवेचन से भी स्पष्ट है। अन्य जितने भी इस मत के समर्थक आलोचक हैं, उनकी भी यही मान्यता है। क्रोसे ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का जो क्रम बतलाया है, उसमें आह्लाद तत्व का भी समावेश है। इससे काव्य में सौन्दर्य और आह्लाद का समन्वय स्पष्ट है।[1] क्रोसे का सारा निरूपण कला के लिए है, कलाकृति के लिए नहीं। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि वह कला और कला-कृति को दो भिन्न वस्तु मानता है। कला की अभिव्यक्ति के लिये तो कलाकार विवश है, यह तो अनुभूति का सहज और स्वाभाविक उन्मेष है। पर उसे बाह्य रूप देना, कला-कृति के रूप में प्रकाशित करना, कलाकार के हाथ में है। क्रोसे का कहना है कि यदि वह जनता के लिए उपयोगी नहीं है तो कलाकार उसे जनता के समक्ष रखे ही नहीं। इस प्रकार क्रोसे ने कला-कृति का उपयोगिता से भी संबध स्थापित कर दिया। पर यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी की अपेक्षा सौन्दर्यान्वेषी ही अधिक माना गया है, यही स्वाभाविक भी है।

'कला, कला के लिए'

'कला, कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी इसी प्रकार का है। उनके समर्थक ब्रडले, आस्कर वाइल्ड, स्पिन्गार्न आदि का भी यही कहना है कि कलात्मक अनुभूति की एक पृथक अपने-आप में परिपूर्ण और स्वतन्त्र सत्ता है। कला यथार्थ एवं इन्द्रियगोचर जगत का प्रतिबिम्ब नहीं स्वतंत्र सृष्टि है। उसकी उपादेयता को जीवन की दृष्टि से आँकना समीचीन नहीं। कला का मूल्य कला के आभ्यन्तर में उसकी अनुभूति में ही है, उससे बाहर नहीं। कला की विशुद्ध अनुभूति और तज्जनित आह्लाद ही उसका मूल्य है। नीति, धर्म तथा संस्कृति आदि, जो कला के लिए बाह्य वस्तुएं हैं, उनकी दृष्टि से भी कला का मूल्यांकन हो सकता है। पर यह मूल्यांकन गौण ही है। कला का नीति, या धर्म के उपदेश में तात्पर्य नहीं है। यह तो उसके प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तुएं हैं। कला के सम्बन्ध में इन बातों का विचार करना तो उसके कलात्मक महत्व को कम करना है।[2] कला के सृजन एवं भावन--दोनों ही अवसरों पर नीति, धर्म आदि की चेतना कला के मूल-स्वरूप की सृष्टि

1. The complete process of aesthetic production can be symbolised in four steps (a) impressions (b) expression or spiritual aesthetic synthesis (c) hedonistic acompaniment or the pleasure of the beautiful (d) translation of the Aesthetic fact into physical phenomena. (Croce.)
2. What then does the formula 'Poetry for Poetry's sake tell us about this experience ? It says as I understand these things.

एवं अनुभूति में बाधक है । इस प्रकार "कला, कला के लिए" वाला मत भी कला का उद्देश्य एक-मात्र सौन्दर्य-सृष्टि तथा तज्जन्य आनन्द ही मानता है, अन्य किसी भी प्रकार की उपयोगिता उसे मान्य नहीं । इसी सिद्धान्त के समर्थक स्पिनगार्न तो कला और नीति के सम्बन्ध का समकोण त्रिभुज को नैतिक, और समद्विबाहु त्रिभुज को अनैतिक मानने के समान कहकर उपहास ही करते हैं ।[1] कला का जीवन से स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी स्वच्छंद अभिव्यक्ति का परिणाम मानकर इन लोगों ने कला को शास्त्र और नीति के नियमों से मुक्त घोषित किया है । इनकी दृष्टि में काव्य-शास्त्र के किन्हीं निश्चित नियमों का पालन भी कलाकार के लिए आवश्यक नहीं ।

समीक्षा का स्वरूप :—इन दोनों सिद्धान्तों ने साहित्य-समीक्षा की जिन धारणाओं को प्रोत्साहन दिया है, वे एक प्रकार से अतिवादी दृष्टि-बिन्दु कहे जा सकते हैं । इन्होंने कला के स्वरूप पर समीक्षक का ध्यान केन्द्रित किया, समीक्षा के बहिरंग की अपेक्षा उसके अन्तरंग को महत्व दिया । इस आलोचक का कार्य कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उसके सौंदर्य-तत्वों का उद्घाटन करना

First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction or softens the passion or furthers a good cause, because it brings the poet the fame or money or a quite conscience. So much the better, let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine it poetry worth as a satisfying imaginative experience, and this is be judged entirely from within. The consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act or experiencing tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part, not yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be world by itself independent, complete, autonomous. (A. C. Bradly : Oxford lectures on Poetry.)

1. To say that poetry as poetry is moral is as meaningless as to say that an equilaterale triangle is moral and isosceles triangle immoral or to speak of the immorality of a musical chord or Gothic arch. (American critical Essays xix-xx Centuries, ag 443.)

है। उसे काव्य-शास्त्र के नियमों के आधार पर कला-कृति की व्याख्या नहीं करनी; उसे यह नहीं बताना है कि किसी कृति में काव्य-शास्त्र के नियमों का कितना निर्वाह हुआ है। पर उसे तो यह बताना है कि कोई कला-कृति कलाकृति कितनी बन पाई है तथा वह कितनी सुन्दर है और उसके सौंदर्य के कारण क्या हैं? वह कला-कृति का अपनी सहृदयता और सौंदर्य-शास्त्र के नियमों से ही मूल्यांकन करता है, नीति-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र के नियमों से नहीं। इस प्रकार का समालोचक मूलतः सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) है। वह सौन्दर्य को अपने आप में पूर्ण और स्वतः प्रमाण मानता है। सौन्दर्य जीवन की अन्य किसी उपयोगिता के कारण उपादेय नहीं है, अपितु उसकी तो जीवन में पृथक उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इनमें से कुछ लोग सौन्दर्य और मंगल में सामंजस्य भी करना चाहते हैं। रवीन्द्र बाबू आदि मंगल को ही सुन्दर मानते हैं। सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य मानने वालों पर हम सौष्ठववादी आलोचना में विचार कर चुके हैं। मंगल को ही सौंदर्य मानने के परिणामस्वरूप उन्हें सौंदर्य को वस्तुगत भी मानना पड़ता है। केवल बाह्य अभिव्यक्ति में मंगल नहीं हो सकता। वह मन को चमत्कृत अथवा मुग्ध अवश्य कर सकती है, पर हृदय को अलौकिक आह्लाद में तन्मय करना तो मंगल का ही कार्य है और इसका सम्बन्ध बाह्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा वस्तु के आभ्यन्तर से, भावना और विचार ही अधिक है। इन्हीं सौंदर्यान्वेषी समीक्षकों में से कुछ ऐसे हैं जो केवल यह देखना चाहते हैं कि वस्तु की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर है। वस्तु के सौंदर्य से उनको कोई सरोकार नहीं। कवि की अनुभूति अथवा कार्य-वस्तु स्वयं कितनी महान्, मंगलमय या सुन्दर है, इसके प्रति वह सजग नहीं है। कलावादियों ने अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के समन्वय पर बल दिया है, पर व्यावहारिक समीक्षा में तो वे केवल इतना कहेंगे कि वस्तु को सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त करने में कलाकार को कितनी सफलता हुई है। ऐसे समालोचक अभिव्यंजनावादी (Expressionist) माने जायेंगे। ये सौन्दर्य के मूल्यांकन के साथ ही उसके कारणों पर भी विचार कर लेंगे। वे केवल इतना ही नहीं कहेंगे कि अमुक कलाकृति में अपने सौन्दर्य से उसको अथवा पाठक को कितना प्रभावित और आह्लादित करने की क्षमता है, पर उसके सौन्दर्य-तत्वों का विश्लेषण भी करेंगे। प्रभाववादी, (Impressionist) तो केवल अपने पर पड़े हुये प्रभावों को ही व्यंजित करता है, उसे कारणों के विश्लेषण और सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों से कोई मतलब नहीं रहता। इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) अभिव्यंजनावादी (Expressionist) और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist)—ये तीनों समालोचक एक सिद्धान्त को तीन पहलुओं से देखने के कारण ही वस्तुतः भिन्न

है, अन्यथा इनमें मूल सिद्धान्तों और मान्यताओं का कोई अन्तर नहीं है। ऊपर 'कला कला के लिये' तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जिन तत्वों का निर्देश हुआ है, वे ही इन तीनों पद्धतियों की आधारभूमि हैं, इनमें सौन्दर्य-सिद्धान्त को ग्रहण करने के तारतम्य तथा प्रकार-भेद के कारण थोड़ा-सा अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

हिन्दी में उनका स्वरूप :

भारत में साहित्य-सम्बन्धी विचार-धारा बहुत ही पुष्ट और प्रौढ़ थी। उसमें काव्य के प्रयोजन आदि पर इतना व्यापक और सर्वाङ्गीण विचार हुआ है कि पश्चिम के ये चकाचौंध उत्पन्न करने वाले वाद यहां के विचारकों द्वारा बहुत अधिक नहीं अपनाये जा सके। यहां पर सौन्दर्य से भी उत्कृष्ट रमणीयता की कल्पना हो चुकी थी। उसमें बाह्य और आभ्यान्तर सौन्दर्य-समाहार के अतिरिक्त अलौकिक आह्लाद की भावना भी अन्तर्हित थी। इस प्रकार यहाँ पर काव्य में भी मंगल की कामना प्रतिष्ठित हो गई। यहां पर काव्य केवल मनोरंजन, प्रचार या यथार्थ-बोध का साधन भर नहीं रहा, अपितु एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन या जीवन-पद्धति के रूप में स्वीकृत हुआ। वह पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का एक विशिष्ट साधन माना गया। भारत में काव्य ने रमणीयता-बोध पर आधारित जीवन-दर्शन का स्वरूप धारण किया। इसमें सुन्दर और मंगल का समन्वय है। यह मंगल-विधान का एक साधन है। संगीत और काव्य दोनों ही ब्रह्म की साधना है। आचार्य ध्रुव ने कविता के रमणीय रूप के साथ ही उसके मंगलमय एवं आध्यात्मिक रूप को स्पष्ट किया है।[1] काव्य नीति के स्थूल उपदेशों द्वारा नहीं अपितु रस-निष्पत्ति और रमणीयता-जन्य आह्लाद के द्वारा ही चित्त के सब विकारों को दूर करने का साधन मान लिया गया था। काव्यास्वाद चित्त की ऐसी मंगलमयी अवस्था है कि उसमें आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली सारी वस्तुएँ भी मंगलमयी हो जाती हैं।

१—विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् (उत्तर रामचरित)

१—अमृत स्वरूप छे, २—आत्मानी कला छे ३—वाग्देवी रूप छे
आ पर अमृत जगत अे कविप्रतिभानो विषय छे अने जे कवितामां आ अमृत जगत नुं भान कराव वानो शक्ति न थी, ते कविता ज न थी।

\+ \+ \+ \+

पण आत्मामां उतरो गई अन्तरनुं चसन चसन वा चैतन्यधन सम त्व उत्पन्न कर शिकती न थी, अे कवितम न थी।

—बापु भाई आनन्दशंकर ध्रुवः —काव्य-तत्त्व-विचार'

इसलिए श्लील-अश्लील, नैतिक-अनैतिक, सत्-असत्-उपदेश-आनन्द आदि द्वन्द्वों के जिस स्थूल रूप का पश्चिम में ग्रहण हुआ और जिसके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तर, वाद-विवाद और सम्प्रदायों का वहां जन्म हो गया, यहां पर उनके लिए स्थान ही नहीं था । यहां की साहित्य-परम्परा से परिचित व्यक्ति को यह सब वाद-विवाद छिछला और व्यर्थ का प्रतीत होता है । भारत का कोई भी प्रौढ़ विद्वान पश्चिम की विचार-धारा को अविकल रूप से नहीं अपना सका । ये विचार प्राय: भारतीयकरण करके ही अपनाए गए हैं । कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्य-संबन्धी विचारों का एक साधारण-सा आभास हम पहले करा चुके हैं । उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल के स्पष्ट दर्शन होते हैं । उस पर भारतीय चिन्तन की अमिट छाप है । महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री पश्चिम के प्रभावाभिव्यंजक समालोचक को वास्तविक समीक्षक तो कहते हैं, लेकिन इसी विचार-धारा के साथ भारत के रस-ध्वनि और औचित्य के सामंजस्य को ही सर्वोत्कृष्ट साहित्य-दर्शन मानते हैं । स्पिनगार्न आलोचना के नवीन दृष्टिकोण में ऐतिहासिक आदि रूपों से युक्ति तथा सबका सामंजस्य आवश्यक समझते हैं । आचार्य कुप्पुस्वामी उस सामंजस्य की स्थिति, रस और ध्वनि के समन्वय में ही सम्भव मानते हैं। इस प्रकार वे भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता का प्रतिपादन कर रहे हैं । उनकी मान्यता है कि भारतीय सिद्धान्तों में पश्चिम की विचार-धारा अन्तर्भूत ही नहीं हो जाती अपितु वे तो उससे भी अतिक्रान्त अवस्था की परिचायक हैं । इस अवस्था तक पहुँचने में पश्चिम को अभी समय लगेगा ।[1] प्रसाद और शुक्ल जी के विचारों से हम पहले परिचित हो चुके हैं। उनमें भारतीय दृष्टिकोण की ही प्रधानता है । कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय विचार-धारा से परिचित व्यक्ति इन सिद्धान्तों को अविकल रूप में अपना कर नहीं चल सकता था । हिन्दी में मूल साहित्यिक धारणाओं की आधार-भूमि प्राचीन भारतीय विचार-धारा ही है। इसलिए हिन्दी में पाश्चात्य सम्प्रदायों के अविकल रूप के दर्शन सम्भव नहीं हैं । यहां की वर्तमान सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा भी कुछ रमणीयता की ओर झुकी हुई है। हिन्दी का अभिव्यंजनावाद भी पूर्णत: क्रोचे का नहीं कहा जा सकता। यहां के आलोचकों की इन पाश्चात्य विचार-धाराओं के सहारे विकसित विचार-धारा कुछ स्वतन्त्र एवं मौलिक है। उन पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। पर फिर भी पाश्चात्य प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता । वहां से निर्मित और विकसित विचार-धाराएँ आई हैं । अंग्रेजी पढ़े-लिखे उन व्यक्तियों ने जो भारतीय परम्परा से कुछ अनभिज्ञ हैं, कुछ सीमा तक उन्हें अविकल रूप में भी अपनाया है ।

1. High-way and by-way of Literary criticism in Sanskrit

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि सौष्ठववादी विशुद्ध आनन्द को ही काव्य का प्रयोजन नहीं मानता। पर हिन्दी में दो-एक ऐसे समालोचक भी हैं जिन्हें हम, अपेक्षाकृत अधिक पाश्चात्य दृष्टि से, विशुद्ध आनन्दवादी कह सकते हैं।

कतिपय समीक्षक

सौन्दर्यान्वेषी:— इस दृष्टि से सर्वप्रथम हम पं० इलाचन्द्र जी जोशी के विचारों को ही उद्धृत करेंगे। मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के प्रसंग में हम जोशी जी की आलोचना पर विचार कर चुके हैं। वे साहित्यकार को जीवन की समस्याओं से पराङ्मुख होना उचित नहीं मानते, लेकिन कई स्थानों पर जोशीजी हिन्दी साहित्य के विशुद्ध आनन्दवादी समीक्षक कहे जा सकते हैं। उन स्थानों पर वे कला में आनन्द के अतिरिक्त नीति या अन्य किसी तत्व का महत्व स्वीकार नहीं करते। वे आनन्द को भी प्रयोजनातीत कहते हैं। कला का सृजन ही इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये होता है। उनकी मान्यता है कि नीति की दृष्टि से देखने से काव्य का महत्व कुछ भी नहीं रह जाता है। "कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत हैं। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है। पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्जवलता और संध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है।[1]

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति-तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

जोशी जी की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा व्यापक है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति मात्र में सौन्दर्य नहीं मानते। उनकी धारणा में वस्तुन्मुखी तत्व भी हैं। उसमें भाव, शील और संस्कृति का सौन्दर्य ही प्रधान है, केवल बाह्य आकार-प्रकार अथवा अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अवास्तविक है। वह तो वासना की दृष्टि है। वास्तविक सौन्दर्य तो आभ्यंतर ही है। उसी में स्वर्गिकता है। रमणी अपने बाह्य अंग प्रत्यंग की अपेक्षा चेहरे से टपकने वाले भावों के कारण अधिक सुन्दर होती है। पंडित जी सहृदयता-हीन वेश्या अथवा फूहड़ ग्राम्य नारी की अपेक्षा करुणा, स्नेह और शील से स्निग्ध तथा चतुर नागरी नारी में अधिक

१—'साहित्य-सर्जना,' पृ० ११।

सौन्दर्य देखते हैं। उनकी मान्यता है कि साधारण-जन जिन दृश्यों में सौन्दर्य नहीं देख पाता, कवि की तीव्र दृष्टि उनमें भी सौन्दर्य के दर्शन कर लेती है। कालिदास सारस की कर्कश ध्वनि में भी सौन्दर्य के दर्शन कर लेते हैं। कवि चन्द्रमा की स्वच्छ चांदनी ही से नहीं, अपितु निविड़ अन्धकार के सौन्दर्य से भी मुग्ध हो जाता है। कवि के लिए सौन्दर्य का अस्तित्व सर्वव्यापी है। जोशीजी का कहना है कि संस्कार के साथ मनुष्य में सौन्दर्य-बोध की भी वृद्धि होती जाती है : 'मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढ़ता जाता है, सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा उसी रूप में जटिल होती और बदलती जाती है।" पहले मनुष्य केवल बाह्य आकार-प्रकार, अंगों के संगठन आदि के सौन्दर्य से ही आकृष्ट होता है, पर ज्यों-ज्यों उसकी रुचि का संस्कार होता जाता है त्यों-त्यों वस्तु के आभ्यान्तर में प्रविष्ट होकर उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव-सौन्दर्य के भी दर्शन वह करने लगता है। विकसित रुचि तो भाव-सौन्दर्य से ही प्रसन्न हो पाती है। इस प्रकार जोशी जी का निरूपण केवल बाह्य एवं जड़ सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उसमें आभ्यान्तर चेतन सौन्दर्य का स्पष्ट आभास है। यह धारणा रमणीयता के अत्यन्त सन्निकट है। भारतीय विद्वान के लिए यही स्वाभाविक भी है। जोशी जी सौन्दर्य में सत्य और मंगल के दर्शन करते हैं: "अन्त में हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौन्दर्य का कोई निश्चित मानदण्ड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है—आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग; सुन्दर, मंगल और सत्य का सामंजस्य।'[१]

सौष्ठववादी समालोचक सौन्दर्य-जन्य आह्लाद को भी समीक्षा का एक मापदण्ड मानता है। पर भरत के शास्त्रीय रस आदि तत्वों में इसका इतना अन्तर्भाव हो गया कि इसकी पृथक सत्ता नहीं रह पाई। फिर उन लोगों ने कलाकार के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक निरूपण ही अधिक किया। वे कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित उतने नहीं हो पाये। समीक्षा के इस स्वरूप के दर्शन हमें जोशी जी में होते हैं। उनका सैद्धान्तिक निरूपण ही सौंदर्यान्वेषी (Aesthetic) कोटि का नहीं है, अपितु उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा में भी इसके प्रौढ़ प्रमाण हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में अनेक स्थानों पर केवल सौन्दर्य और तज्जनित आह्लाद के आधार पर ही काव्य की समीक्षा की है। आलोचक कालिदास के 'मेघदूत-काव्य' को तो सौन्दर्य की प्रदर्शनी ही कहता है, उसमें जो सौन्दर्य के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं, उनसे जोशी जी मुग्ध हो उठते हैं : 'मेघदूत काव्य को यदि हम सौन्दर्य-कला की प्रदर्शनी

[१] —साहित्य-सन्तरण, पृ० १६।

कहें तो अनुचित न होगा ।...सौन्दर्य किन-किन स्वरूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य में यही दिखलाया गया है । जिस प्रकार अव्यक्त के एकमेवा-द्वितीयम् रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड़ कालिमालिप्त वर्षा ऋतु के एक रूप से अभिनव सौन्दर्य-मण्डित कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है । पूर्व मेघ में यही दिखलाया गया है ।"[1] इस निबन्ध के लेखक सौन्दर्य की अनेक स्थितियों और भावों से मुग्ध हुए हैं । उन्होंने उनकी अनुभूति जाग्रत करने वाला वर्णन भी किया है । जोशी जी ने मेघदूत के सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप पर भी विचार किया है । वे केवल प्रभाव ग्रहण करके मुग्ध होने वाली आलोचना तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इससे आगे बढ़कर सौन्दर्य का विश्लेषण भी करते हैं । ऊपर जिस सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, वह दुःख-सुख, आशा-नैराश्य, हास्य क्रन्दन— इन द्वन्द्वों से जर्जरित पृथ्वी माता का सौन्दर्य है । पूर्व-मेघ का सम्पर्क पृथ्वीतल से है । पर उत्तर-मेघ का सौन्दर्य इन सब द्वन्द्वों से परे है । उसमें सौन्दर्य के नाना रूप एक आनन्दमय में आकर मिल गए हैं । वह स्वर्ग का सौन्दर्य है । उस सौन्दर्य-लोक में क्षुधा-तृष्णा, पाप-ताप जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने में नहीं आती ।"[2] इस आलोचना में विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी आलोचक के दर्शन होते हैं । बाह्य-अभिव्यक्ति की अपेक्षा आलोचक का ध्यान भागवत सौन्दर्य की ओर ही अधिक रहा है । सौन्दर्य को प्रयोजनातीत मान कर चलने से इसका विशुद्ध रूप अत्यन्त स्पष्ट है ।

प्रभाववादी समीक्षक :

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दी में प्रभाववादी आलोचना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण अभी तैयार नहीं हुआ है । शुक्ल जी जैसे युग के प्रौढ़ विद्वान् उसका विरोध करते रहे हैं । पर फिर भी इस प्रवृत्ति के दर्शन हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचनात्मक निबन्धों में हो जाते हैं । पण्डित भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने अपनी 'सन्त साहित्य' नामक प्रख्यात पुस्तक में अनेक स्थानों पर इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है । लेखक दादू, मीरा, कबीर, आदि के अन्तस्तल तक पहुँच कर स्वयं भाव-विभोर हो उठते हैं और कवि-हृदय की तल्लीनता का विवरण अत्यन्त प्रौढ़ भावमय शैली में देते हैं । लेखक उन भावों के संस्पर्श से स्वयं भी भाव-धारा में बह जाता है और अपनी अनुभूतिमयी शैली से पाठक को भी बहा ले जाता है । प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-शैली में ही पं० भगवतशरण उपाध्याय ने

१—साहित्य- सन्तरण, पृष्ठ १३ ।

२—वही, पृ० १७२ ।

गुरुभक्तसिंह जी के 'नूरजहां' काव्य का विस्तृत अध्ययन किया है। इसमें महाकाव्य के विभिन्न सर्गों की कथावस्तु तथा धार्मिक स्थलों का संदर्भ सहित भावपूर्ण परिचय है। लेखक का मन स्वयं जिन स्थलों में रमा है, उन्हीं का स्पष्टीकरण भर उसने किया है। लेखक स्वयं अपने ग्रन्थ को समालोचक का प्रयास न कहकर महानुभवी और समानधर्मा का प्रयास कहता है। वह अपने-आपको प्रभाववादी भी घोषित करता है : "नूरजहां के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियां खुल पड़ीं। मैं एक बात तो स्पष्टतया कह देना चाहता हूं कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं प्रत्युत सहानुभवी और समानधर्मा का है।......मैं प्रभाववादी हूं। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है, प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।"[1] इतना ही नहीं पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी इसे प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत ही मानना चाहते हैं : "यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह आलोच्य काव्य का शास्त्रीय अध्ययन नहीं है। आजकल जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं उसी के अन्तर्गत यह भी रखी जायगी।"[2] आलोचक ने स्थान-स्थान पर कथा-भाग और मार्मिक स्थलों को विशद संदर्भ और विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है। अनेक स्थानों पर लेखक ने स्थलों का रसास्वादन भी किया है और वह उनकी भाव-धारा में भी बहा है : "अनार की लटें उसके कपोलों पर बिखर आई थीं और उनके नीचे आंसू बह रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो मतवाली नागिनी ओस चाट रही है और उसके कपोलों पर लोट रही है। चारों ओर की नीरवता उसे और भी खाये डालती थी। संसार का सारा कोलाहल, सारा व्यवसाय, निस्तब्धता में डूब गया था, दिन रात्रि में लय हो गया था पर हृदय, जिसे और भी शान्त होना चाहिए था, और भी चंचल हो उठा।"[3] ऐसे स्थलों में तन्मयता एवं प्रवाह है। पर वस्तु की गहराई में बैठकर प्रत्येक शब्द के साथ तीव्रतर होती हुई सौन्दर्यानुभूति तथा तज्जनित आह्लाद का अभाव है। कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। लेखक स्थिति-चित्रण में पूर्णतः सफल हुआ है, पर ऐसे स्थल कम हैं जहां पर समीक्षक स्वयं मार्मिक स्थलों में भाव-विभोर होकर पाठकों को भी विभोर कर सका है। प्रभाववादी की यही सबसे बड़ी विशेषता है जिसका अभाव इसमें खटकता है। यही कारण है कि पं० विश्वनाथप्रसाद इस आलोचना को महाकाव्य का भाष्य अथवा महाभाष्य कहना समीचीन समझते हैं। इस प्रकार यह टीका का विशद एवं

१—'दो शब्द'।
२—'दो शब्द' पृ० ३।
३—वही, पृष्ठ २।

श्लाघ्य रूप है। काव्य-स्थलों का रसास्वाद या सौन्दर्यानुभूति टीका के प्रमुख प्रयोजनों में से है। यह प्रभाववादी समीक्षा का मूलभूत तत्व है। इस प्रकार 'टीका' का प्रभाववादी समीक्षा से गहरा सम्बन्ध है, ये अन्योन्याश्रित हैं। इस समीक्षा के दो पहलू हैं। लेखक कहीं-कहीं बौद्धिक विश्लेषण भी करने लगा है। सौंदर्य तत्वों के उद्घाटन और सौन्दर्य-जनित आह्लाद के अवसर कम आये हैं। लेखक ने परिशिष्ट में आलोच्य-रचना की शास्त्रीय व्याख्या भी दी है। इसमें ग्रन्थ की पूर्णता ही उन्हें अभिप्रेत है। यह मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है। ग्रन्थ प्रभाववादी समीक्षा का सुन्दर उदाहरण है। भविष्य में इसी पद्धति के विकसित रूप के भी हिन्दी में दर्शन होंगे, यह तो इस समीक्षा का शिलान्यास है।

जैनेन्द्र जी साहित्य और कला को प्रयोजन से उच्च मानते हैं। लेकिन इस प्रयोजन से उनका तात्पर्य भी पार्थिव और भौतिक उपयोगिता से ही है।[1] जैनेन्द्र जी के साहित्य-दर्शन पर जैन-धर्म एवं गांधीवाद का प्रभाव है। इससे उनकी दृष्टि विशुद्ध व्यक्तिप्रधान प्रभाववादी दृष्टि नहीं कही जा सकती है। साहित्य के दो स्वरूप उन्हें मान्य हैं, एक मजे का साहित्य तथा दूसरा समाज का नेतृत्व करने वाला।[2] साहित्य मानव को स्वरति और परालोचन की अहंकारी वृत्ति के संकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता है। वह मानव में लोक-हितैष्य की भावना को जाग्रत करता है। पर साहित्य के मूल्यांकन की पद्धति में जैनेन्द्रजी प्रभाववादी दृष्टि-कोण के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं : "साहित्य की कसौटी संस्कारशीलता है, जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठा रखती है। जो सहृदय का चित्त मुदित करता है वह साहित्य खरा, जो संकुचित करता है वह खोटा है।" जैनेन्द्रजी सहृदय को पर-दुख-कातर और सेवा-परायण कहते हैं। ऐसे सहृदय का प्रभाव-ग्रहण ही जैनेन्द्रजी की दृष्टि से समीक्षा है। इससे वे प्रभाववादी होते हुए भी पूर्णतः वैयक्तिक और आनन्दवादी नहीं कहे जा सकते हैं। उनका यह दृष्टिकोण समष्टिगत मंगल की भावना को भी अपनाए हुए है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद या सौन्दर्यवाद का विशुद्ध रूप हिन्दी के समीक्षक में नहीं मिलता। पर इतना तो निर्विवाद है कि इन प्रवृत्तियों ने हिन्दी-साहित्य और समीक्षा को प्रभावित अवश्य किया है। हिन्दी का सारा छायावादी साहित्य इनसे प्रभावित है। छायावाद में अभिव्यंजना और सौन्दर्य-

१—जैनेन्द्र के विचार, 'क्या-क्या है' शीर्षक निबन्ध।
२—साहित्य की कसौटी, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'।

सृष्टि की ही प्रधानता है। छायावादी कवि प्रत्येक वस्तु का विच्छित्तिमय और भंगिमापूर्ण शैली में ही वर्णन करता है। प्रतीक-विधान और लाक्षणिकता उसकी शैली की प्रधान विशेषता है। वह सौन्दर्य-सृष्टि और अभिव्यंजना की भंगिमा द्वारा ही पाठक के हृदय को भाव-विभोर और आह्लादित करना चाहता है। पाठक कहीं भी उनके कथन-वैचित्र्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, चमत्कार ही उस कविता के प्राण हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कलावाद और अभिव्यंजना ने हिन्दी साहित्य की काव्य-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों का दृष्टिकोण भी अभिव्यंजनावादी ही रहा है। वे काव्य की उत्कृष्टता का मापदण्ड सौन्दर्य की सृष्टि तथा तज्जनित आह्लाद ही मानते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने काव्य पर इस दृष्टि से भी विचार किया है, इसका निरूपण हो चुका है। पर उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण विशुद्ध अभिव्यंजनावादी नहीं कहा जा सकता है, यह भी हम पहले देख चुके हैं। उनकी अपेक्षा इलाचन्द्र जोशी आदि विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी कहे जा सकते हैं, इसीलिए इनका परिचय इस शैली के साथ दिया गया है। ये शैलियां स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के ही विकसित रूप हैं। इनको उसी पद्धति का अतिवादी दृष्टिकोण कह सकते हैं।

चरितमूलक समीक्षा

साहित्य और व्यक्ति

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। साहित्य सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति भी है, इसे भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उसके विषय और अनुभूति लोक-सामान्य के होने चाहियें और होते ही हैं। सम्प्रेषणीयता, समवेदना या सह-अनुभूति जो मूलतः एक ही वस्तु के विभिन्न रूप अथवा एक अनुभूति के विभिन्न स्तर हैं—काव्यानुभूति के लिए आवश्यक हैं। इसके लिए भी लोक-सामान्य-भावभूमि का स्पर्श अपेक्षित है, चाहे वह लोक अपेक्षाकृत छोटा, सीमित या विशिष्ट ही है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ, साहित्य के मूल में भी लोक या समष्टि का एक रूप होता है। पर यह सामूहिक चेतना, लोक-सामान्य भाव और समष्टिगत जीवन केवल व्यक्ति के माध्यम से ही साहित्य में आ सकते हैं, समष्टि का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य में नहीं आता है। व्यक्ति पहले सामूहिक चेतना को स्वयं ग्रहण करता है, अपने 'स्व' का अंश बना लेता है और फिर उसे अभिव्यक्त करता है। व्यष्टि में विराजमान समष्टि कला का रूप

धारण करती है। पर वह समष्टि व्यष्टि के आवरण से आवृत्त अवश्य रहती है, अथवा वह समष्टि व्यष्टि के माध्यम में ही साकार भी होती है। इस क्रिया में कलाकार के व्यक्तित्व का महत्व अत्यन्त स्पष्ट है। सबकी तरह कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश ऐसा होता है जिसको उसके व्यक्तित्व की आत्मा कहना पड़ता है। वह अंश संस्कारों का समूह-मात्र नहीं है, यह मूलतः संस्कारों को ग्रहण करने की आधार-भूमि है; संस्कार इस अंश को विकसित करते हैं, नूतन रूप भी दे देते हैं। यह अंश जगत को अपने अनुरूप बनाकर ही ग्रहण करता है। जगत और उसकी प्रतिक्रिया के संस्कारों में अन्विति स्थापित करना भी उसी का कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का जगत-सम्बन्धी ज्ञान वस्तु-तन्त्रात्मक कम और वैयक्तिक अधिक होता है। उसकी अभिव्यक्ति तो और भी वैयक्तिक हो जाती है। अभिव्यक्ति चाहे किसी भी माध्यम से हो, उस पर व्यक्तित्व के प्रधान अंश का ही अधिक नियन्त्रण रहता है। यह मूल अंश ही वस्तुतः सर्जनात्मक है शेष तो अनुवाद मात्र हैं। कविता इसका सर्जनात्मक रूप ही है। इसीलिए आचार्य काव्य को जगत से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व की वस्तु मानते हैं। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में एक धारणा यह बनी हुई है कि वह व्यक्ति द्वारा नहीं अपितु समष्टि द्वारा निर्मित है। यह बात एक विशेष अर्थ में ठीक है। पर इसका भी उपर्युक्त सिद्धान्त से वास्तविक विरोध नहीं है। लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक रही है, और अब भी है। इसके एक ही गीत के विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं, इसका स्वरूप विशेषतः भाषा एवं कहीं-कहीं भाव की दृष्टि से चिर-परिवर्तनशील रहा है। इसलिए उनका आज जो स्वरूप उपलब्ध है, वह एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं कहा जा सकता। बस, इसी अर्थ में वह समष्टि द्वारा निर्मित कहा जा सकता है। पर उनका प्रारम्भिक रूप तथा प्रत्येक परवर्ती संस्कार वैयक्तिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन पर उन व्यक्तियों की रुचि, भाव और विचारों की स्पष्ट छाप है। मार्क्सवादी जिस सामाजिक अहं (Social ego) की अभिव्यक्ति को कला मानता है वह भी व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अहं भी भिन्न-भिन्न होता है, इसी से उनकी कृतियाँ भिन्न होती हैं।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि साहित्य व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। पर इतने कथन से काम नहीं चलता। व्यक्तित्व के स्वरूप को भी पूर्णतः समझ लेना चाहिए। जब हम व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य एक बहुत व्यापक वस्तु से होता है। व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार और प्रत्यय—ये उसके चार प्रधान तत्व अथवा अंग हैं। इन चारों में उसके मानसिक जगत् की सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव है। मानव की आदतें, कार्य-प्रणाली, रुचि,

जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि उसके जीवन की सभी बातों का, सम्पूर्ण जीवन का ही, नियन्त्रण इनके द्वारा होता है। शारीरिक विशेषताएं तथा परिवेष्ठन भी व्यक्ति के मानस-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी अभिव्यक्ति की आधार-भूमि है। वह इसी के अनुरूप भाव, कथ्य, दर्शन, चरित्र, वर्ण्य-विषय आदि की कल्पना कर सकता है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अगर उसकी कोई मौलिक देन है तो उसका स्वरूप-निर्धारण भी इसी व्यक्तित्व के द्वारा होता है। इसी में उसके बीज अन्तर्हित रहते हैं। कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति द्वारा चिरन्तन रहता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करने की भावना मानव की सहजात वृत्ति है। उसका मानसिक जगत् ही उसका अहं नहीं है, अपितु उसमें उसके स्थूल जगत् और उसके जीवन की घटनाओं का भी अन्तर्भाव है। ये भी अहं के संस्कारक तथा निर्मायक हैं। ये घटनाएं भी विशेष मानसिक दशाओं की कारण बनती हैं। कुछ घटनाएं मानव को असाधारण रूप से धीर, वीर अथवा विनम्र बना देती हैं। उस समय की अभिव्यक्ति पर इन भावों की स्पष्ट छाप होती है। वे कलाकार को ऐसे वर्ण्य-विषयों की कल्पना के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिनमें ये भाव व्यंजित हो सकें। जीवन की कुछ घटनाएं इतनी मर्मस्पर्शी होती हैं कि उनको जब तक अभिव्यक्ति द्वारा स्थायित्व नहीं मिल जाता, तब तक कलाकार उद्विग्न रहता है। इनकी अभिव्यक्ति से ही उसकी आत्म-तृप्ति होती है।

चरितमूलक समीक्षा का स्वरूप :—कलाकार के व्यक्तित्व, उसके जीवन की घटनाओं, विशेष परिस्थितियों और तज्जनित मानसिक अवस्थाओं, कला-कृति के वर्ण्य-विषय, भाव, शैली आदि के साथ सम्बन्ध-निर्देश चरितमूलक आलोचना का कार्य है। इसमें उन घटनाओं तथा उनके प्रभाव का निर्देश होता है, जो कवि को विशेष रचनाओं के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। जीवन में घटित महत्वपूर्ण घटनाएं एवं परिस्थितियां मानव की प्रकृति और स्वभाव का निर्माण करती हैं। इनसे मानव के व्यक्तित्व का विशेष दिशा में विकास होता है। समीक्षक इन घटनाओं और व्यक्तित्व के समन्वित रूप का साहित्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कर के देखता है। कलाकार के व्यक्तित्व को पूर्णतया समझने के लिए समीक्षक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति एवं ऐतिहासिक विवेचन का भी पूरा उपयोग करता है। लेखक के व्यक्तित्व एवं उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं के साथ उसकी कृति का सामंजस्य बैठाता है, इस दृष्टि से उसके साहित्य की अंतः प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है। इस प्रकार चरितमूलक आलोचना एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति एक दूसरे की सहायक शैली भी कही जा सकती हैं। इनके द्वारा कलाकार के

व्यक्तित्व के विकासमान रूप तथा इसके विकास की प्रेरणाओं का सर्वांगीण अध्ययन हो जाता है। चरितमूलक आलोचना रचना के व्यक्त प्रयोजन को भी स्पष्ट करती है। इस पद्धति का परिचय देते हुए शिपले कहते हैं 'कि चरितमूलक समीक्षा कलाकार एवं कलाकृति के प्रभावी सम्बन्ध का प्रतिपादन करती है। यह कलाकृति के उद्भव के मूल, प्रेरक-शक्ति या उसके सचेतन उद्देश्य का संकेत करती है।'[1] मनोवैज्ञानिक पद्धति केवल कवि स्वभाव के तत्वों का निर्देश करती है, पर चरितमूलक आलोचना में उन कारणों और घटनाओं पर विचार होता है जिनमें कवि-स्वभाव का निर्माण हुआ। यह पद्धति यह बतलाती है कि अमुक ग्रंथ में कवि निराशा-व्यथा आदि के चित्र अधिक क्यों देता है। कलाकृति से कलाकार के व्यक्तित्व, स्वभाव दर्शन आदि की उद्भावना मनोवैज्ञानिक पद्धति है।

विशेष प्रकार की रचनाओं की पृष्ठभूमि में कवि के जीवन की कौन-सी घटना उसे प्रेरणा प्रदान कर रही है, उस घटना का अथवा कवि के जीवन का कितना अंश उसकी कविता में अभिव्यक्त हुआ है, यह अध्ययन बहुत ही रुचिर और आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पर कभी-कभी आलोचक और कवि सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। काव्य में वर्णित घटनाओं के आधार पर कवि के चरित्र का अनुमान हो जाता है, पर सिद्धान्त को स्थूल रूप से ग्रहण करने पर नहीं। कालिदास के 'शिव पार्वती' के सम्भोग शृंगार अथवा रीतिकाल के नग्न शृंगार के चित्रों के आधार पर कवि को चरित्र-भ्रष्ट अथवा लम्पट कह देना कोई आलोचना नहीं। कवि के अपने ही जीवन की घटनाओं का मात्र चित्र, कविता नहीं है। कवि अपने जीवन की घटनाओं को काव्य का स्वरूप प्रदान कर देता है। यह जिस वर्ण्य-विषय की कल्पना करता है, जो शैली अपनाता है, जिन भावों और विचारों को काव्य में स्थान देता है, विश्व को जो संदेश देता है, उन सबके अन्तस्तल में उसका व्यक्तित्व ही शक्ति-केन्द्र है। एक प्रकार से यह उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। पर इसकी एक सीमा है। कवि का व्यक्तित्व सामूहिक चेतना, सामूहिक भाव अथवा लोक-सामान्य भाव-भूमि के सामंजस्य में ही काव्य के लिए उपादेय है, अन्यथा नहीं। कवि के व्यक्तित्व की काव्य के लिए

1—Biographical criticism may establish significant relations between the creator and his work, may indicate the genesis the driving force or the concious purpose of a work of art.'

Shipley: Dictionary of world Literature P. 13'.

उपादेयता स्वीकार कर लेने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके विकारों को भी काव्य में अभिव्यक्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। कवि अपने रोने-हँसने को काव्य में स्थान दे सकता है, पर केवल सामूहिक चेतना से उनको तदाकार करके ही, मानव-सामान्य के प्रतिनिधि बनाकर ही। काव्य में वैयक्तिक और निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त सापेक्षिक हैं। कविता न तो पूर्णतः निर्वैयक्तिक हो सकती है और न विशुद्ध रूप से कवि का व्यक्तित्व ही। काव्य में निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य केवल संकुचित स्वार्थों से ऊपर उठकर अपने निजी योगक्षेम को मानव-सामान्य के योगक्षेम से एकाकार कर देना है। कला की अनुभूति पर कलाकार के अपनत्व की छाप रहती है। वस्तु, भाव, अभिव्यक्ति आदि में—तुलसी, कबीर आदि पहचाने जा सकते हैं। इस सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए ही चरितमूलक आलोचना का उपयोग अपेक्षित है। आलोचना को दुराग्रह की कोटि तक पहुँचाकर बात-बात में कवि-जीवन का हू-बहू चित्र देखना काव्य और समीक्षा के विकास में बाधक ही है।

हिन्दी में चरितमूलक समीक्षा :—

हिन्दी में चरितमूलक आलोचना प्रायः विरल है। समीक्षा के विकास के प्रारम्भिक वर्षों में कवियों के जीवन-चरित उपस्थित किए गए थे। उनमें आलोचना के तत्व बहुत कम थे। शुक्ल-पद्धति की आलोचना में भी कवियों के विशद जीवन-चरित लिखे गए, पर उनमें भी चरित और समीक्षा एक दूसरे से विच्छिन्न से ही रहे। चरित में काव्य की प्रेरणाओं का अनुसन्धान नहीं किया गया। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का विकास न होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय साहित्य और जीवन के दर्शन में निर्वैयक्तिकता और निरहंकारता की मान्य श्रेष्ठता भी है। साहित्य-दर्शन में "साधारणीकरण" का सिद्धान्त ही काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उसको निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लेने के कारण चिन्तन का विकास भी कुछ अवरुद्ध हुआ। लेकिन हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति ने समीक्षा-जगत् के अन्य सिद्धान्तों के समान ही इसकी सापेक्षता स्वीकार करने के लिये भी विवेचक को बाध्य कर दिया। इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन के लिये विकास के अनेक मार्ग खुल गए। काव्य में साधारणीकरण होते हुए भी कवि के व्यक्तित्व अथवा पात्र के व्यक्तित्व की पृथकता बनी रहती है, कालिदास और भवभूति का अन्तर बना रहता है। रघुवंश के राम और मानस के राम का अन्तर भी रहता है। उसका कारण भी तुलसी और कालिदास के व्यक्तित्व ही हैं। इसी से स्वच्छन्दतावादी धारा में चरितमूलक समीक्षा प्रवृत्ति का भी कुछ विकास हुआ। पर इस शैली के अधिक प्रयास नहीं हुये। समीक्षात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं इसका आभास देने की ही प्रवृत्ति रही है।

पांडेय जी का 'महा प्राणनिराला' :

पंडित गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति का प्रौढ़ उदाहरण है। इसमें लेखक ने कवि की जीवनी और कविता को अविच्छिन्न रूप में एक रस करके देखा है। इसमें कवि के जीवन की उन महत्वपूर्ण घटनाओं तथा उनके प्रभाव का विश्लेषण है, जिन्होंने कवि के व्यक्तित्व को नई दिशा में मोड़ दिया है और कवि को विशेष प्रकार की भाव-धारा से ओत-प्रोत कविता लिखने के लिए प्रेरणा दी है। लेखक ने अनेक कविताओं के उदाहरणों से उन पर पड़े हुए कवि-जीवन के प्रभाव का निर्देश किया है। अपनी शैली की यह रचना बहुत ही उत्कृष्ट है। हिन्दी में यह नवीन दिशा का स्तुत्य प्रयास है।

पांडेयजी ने साहित्य और व्यक्तित्व के सम्बन्ध तथा साहित्य प्रयोजन पर जो विचार प्रकट किये हैं उनसे उनकी सौष्ठववादी धारणा अत्यन्त स्पष्ट हैं। पांडेयजी की साहित्य-सम्बन्धी कतिपय धारणाओं के संकेत कई स्थानों पर पहले भी हो चुके हैं। वे साहित्य को व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। सामूहिक चेतना उसी के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रगतिवादी दृष्टिकोण का खण्डन भी किया है।[1] उन्होंने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे जीवन का चित्र माना है, पर यथार्थ नहीं, आदर्शात्मक। वे कहते हैं कि जैसे उत्ताप और दबाव से कोयला हीरा बन जाता है उसी तरह साहित्य में भी मानवीय प्रवृत्तियाँ प्रोज्ज्वल हो उठती हैं।[2] आलोचक के कर्तव्य का निर्देश करते हुये पांडेय जी कहते हैं—"पहले, (यह देखना कि) साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और संसार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरा, वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का बल उसे कहाँ तक प्राप्त है और इन दोनों का सामंजस्य उसने किस सीमा तक किया है। साहित्य की विशिष्टता का यही मापदण्ड है।'[3] इन्हीं धारणाओं को मापदण्ड मानकर लेखक ने अपनी यह पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने प्रधानतः कवि की जीवनी और व्यक्तित्व का ही विश्लेषण किया है। वे उनके व्यक्तित्व की महत्ता स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पर उन्हें यह भी मान्य है कि कवि के व्यक्तित्व की महत्ता उसकी कविता में ही अभिव्यक्त होती है।[4] उन्होंने यह भी

१—'महाप्राण निराला' पृष्ठ १—४।
२—वही, पृष्ठ १४।
३—वही, पृष्ठ २०।
४—वही, पृष्ठ २१।

स्पष्ट किया है कि निराला जी के जीवन की घटनायें उनके स्वभाव और प्रकृति के लिए कितनी उत्तरदायी हैं। उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए पांडेय जी ने कवि के महान् व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। इसमें उनको निराला जी की कविता पर भी स्थान-स्थान पर विचार करना पड़ा है। उन्होंने कविताओं में निरालाजी के जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट किया है। उनके जीवन की विभिन्न घटनाएं कविता में किस प्रकार चिरन्तन हो गई हैं, इसके भी निर्देश हैं: 'पन्तजी की मां का भी, जब वे केवल ६ माह के थे, स्वर्गवास हो गया था। निराला और पन्त के काव्य में इन अप्रत्याशित दुर्घटनाओं का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है।... निराला को मां के स्नेह-संसार का कुछ अंश मिला है। जब कि पन्तजी इस ममता से एकदम अबोध हैं। स्वभावत: निराला का दृष्टिकोण नारी के प्रति एक दार्शनिक की अतृप्ति का भाव लिये हुए है तो पन्त उसके प्रति केवल आश्चर्य का भाव रखते है। जहाँ नारी का बोध निराला को करुणा के रूप में हुआ है वहां पन्त को केवल उसकी कल्पना की रहस्यमयता ही अधिक मिली।"[1] लेखक ने इन दोनों महाकवियों की दो कविताओं को उद्धृत करके उनकी नारी-भावनाओं को उनके जीवन के आलोक में स्पष्ट किया है: "निराला को पत्नी-प्रेम का अवसर मिला है, इसलिए उनका नारी-दर्शन अधिक सूक्ष्म और स्वस्थ है, पर पन्तजी, भावी पत्नी की कल्पना ही करते रहे, इसलिए उनके नारी के रूप में कमनीयता और कामना है।" इस प्रकार पाण्डेय जी ने इन कवियों के जीवन से उनके जीवन-दर्शन और जीवन-सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध स्थापित किया है तथा यह भी दिखलाया है कि ये उनकी कविताओं में किस प्रकार अभिव्यक्त हुई हैं। उन्होंने काव्य सृजन की उन प्रेरणाओं को भी स्पष्ट किया है जो उन्हें अपने जीवन से ही प्राप्त हुई हैं। निराला जी ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद एक गीत लिखा जिससे उनका प्रणय अमर हो गया।[2] पाण्डेय जी 'सरोज-स्मृति' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ दु:खान्त कविता (एलिजी) मानते हैं। निराला जी ने अपनी पुत्री की मृत्यु के बाद उसकी स्मृति में यह कविता लिखी थी। इसमें उसके जीवन की कई झांकियां हैं, उन्होंने अपनी पत्नी की करुण-स्मृति का भी एक चित्र खींचा है। कवि अपनी मानसिक दशा का तो चित्र देता ही है, इसके साथ ही वह कभी-कभी अपने निराश और श्रांत जीवन में फिर से आत्म-विश्वास भी कविता के सहारे ही जाग्रत करता है। इस प्रकार कविता केवल जगत् को प्रेरणा, शक्ति देने वाली ही नहीं है, अपितु कवि भी उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। निराला जी

१—'महाप्राण निराला, पृष्ठ २४।
२—वही, पृष्ठ ३२-३३।

ने भी अपने जीवन की घोर निराशा में, अपनी ही कविता से धैर्य और आत्म-विश्वास को दृढ़ किया है। कवि अपने जीवन की मर्मस्पर्शी घटनाओं के चित्रों को उपस्थित करके हृदय हल्का कर लेता है। इसमें अभिव्यक्ति का रेचन है। अपनी प्रिय विचार-धारा और भाव-धारा के प्रश्रय में उसे आत्म-प्रकाशन का आनन्द मिलता है पर कवि नवीन जीवन-स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए भी कविता करता है। चरित मूलक समीक्षा काव्य के इन सभी प्रयोजनों को आलोकित करती है। पाण्डेय जी ने निराला जी पर इन सभी दृष्टियों से विचार किया है।[1]

प्रस्तुत पुस्तक निराला जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। लेकिन कवि का व्यक्तित्व कविता से ही सबसे अधिक व्यक्त होता है, इसलिए लेखक ने आलोच्य कवि की भी पर्याप्त आलोचना की है। इसमें चरितमूलक आलोचना के प्रायः सभी स्वरूपों के दर्शन हो जाते हैं। कवि के जीवन की घटनाएं किस प्रकार काव्य बन गईं, उन घटनाओं ने कवि के व्यक्तित्व का किस प्रकार निर्माण किया और वह व्यक्तित्व उनकी कविता में अभिव्यक्त विचारों और भावों में कितना और कैसा स्पष्ट झलकता है, रचना के स्वरूप-निर्माण में कवि का जीवन कितना उत्तरदायी है आदि अनेक प्रश्नों पर पाण्डेय जी ने विचार किया है। लेखक बीच-बीच में कवि के व्यक्तित्व का संश्लिष्ट चित्र भी उपस्थित करते गये हैं तथा उसके निर्णायक सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक कारणों पर भी विचार करते गए हैं। इन विभिन्न परिस्थितियों में अनेक आघातों के फलस्वरूप विकासमान व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण ही इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य है। इसमें लेखक ने अनुभूति, बौद्धिकता, शैली और भाषा पर भी विचार किया है। कहीं-कहीं पन्त जी और निराला जी के व्यक्तित्व और कविता की तुलना भी की गई है। काव्य-सौष्ठव के अनुभूतिमय विश्लेषण के साथ ही लेखक ने समीक्षा की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का भी उपयोग किया है। कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक समीक्षा के अत्यन्त प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। इसमें व्यक्तित्व का मनोविज्ञान के आधार पर शास्त्रीय विश्लेषण है। पाण्डेय जी ऐतिहासिक समीक्षा का भी प्रसंगानुकूल अनेक स्थानों पर हल्का-सा आभास देते गए हैं। लेखक का प्रधान उद्देश्य निराला जी की जीवनी के आलोक में उनके व्यक्तित्व की महत्ता का दिग्दर्शन कराना है। उनकी कविता पर विचार करते समय इन शैलियों का हल्का-सा आभास ही अपेक्षित और सम्भव था। वैसे तो सभी समीक्षा-शैलियां एक दूसरे की पूरक हैं, पर चरितमूलक शैली की पूर्णता तो मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक शैली की स्पष्ट अपेक्षा रखती

१—महाप्राण निराला, पृष्ठ ७७।

है। अतः पाण्डेय जी के लिए भी इनका उपयोग अत्यन्त आवश्यक ही था। हिन्दी में यह पुस्तक अपनी शैली का नवीन और श्लाघनीय प्रयास है। पाण्डेय जी ने इस शैली का सूत्रपात ही बहुत प्रौढ़ रचना से किया है, इसलिए इसका भविष्य सुन्दर और आशामय है। चरितमूलक समीक्षा शैली है, सम्प्रदाय नहीं। अतः प्रायः सभी सम्प्रदायों ने अपनी मान्यताओं के अनुसार इस शैली का उपयोग किया है और कर रहे हैं। 'कलम के सिपाही' जीवनचरित एवं चरितमूलक समीक्षा के मिश्रित रूप का सुन्दर एवं प्रौढ़ प्रयास है।

: १४ :

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति

ऐतिहासिक समीक्षा का स्वरूप :—

कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी प्रकृति तथा जीवन-चरित्र से कला-कृति का अभिन्न एवं अच्छेद्य सम्बन्ध का प्रतिपादन पहले हो चुका है। कला में इनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। प्रकृति, स्वभाव, रुचि, शील आदि सभी कुछ व्यक्तित्व में अन्तर्भूत हैं। संश्लिष्ट रूप में, एक शब्द में, 'व्यक्तित्व' के द्वारा इन सबका बोध हो जाता है, इसलिए संक्षेप में कला को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहना किसी प्रकार भी अत्युक्ति नहीं है। चिन्तन के इसी मार्ग का अवलम्बन करके अगर कुछ दूर और आगे बढ़ा जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व भी कोई नितान्त निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसका बहुत-कुछ निर्माण परिवेश द्वारा ही होता है। परिवेश के प्रभावों की संस्कार-समष्टि का नाम ही व्यक्तित्व है। इसमें उस आधार-शिला का भी अन्तर्भाव है, जिन पर ये प्रभाव अंकित होते हैं अथवा आधारित रहते हैं। पर परिवेश के इन संस्कारों के महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साहित्य का तत्कालीन परिस्थितियों से भी अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्तित्व का उपकरण तथा निर्णायक तत्व होने के कारण परिवृत्ति या परिवेश का सम्बन्ध साहित्य से स्पष्ट है। पर यह सम्बन्ध सीधा न होकर परोक्ष ही है। इतना ही नहीं, कलाकार के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति का माध्यम भी अपनी परिवृत्ति से ही मिलता है। अपने काव्य के वर्ण्य-विषयों के संकलन के लिए वह अपने युग और परिवेश का मुखापेक्षी है। उसकी सृजनात्मक

प्रेरणा भी उसकी परिवृत्ति में ही अन्तर्हित हैं। इस सारे विवेचन का तात्पर्य यह है कि साहित्य और समाज का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग का साहित्य पर बहुत अधिक नियंत्रण रहता है। वह उसे केवल सामग्री ही नहीं प्रदान करता, अपितु युग की चेतना साहित्य का दिशा-निर्देश भी करती है। 'साहित्य समाज का दर्पण है'—का यही रहस्य है। यही कारण है कि एक युग, देश और जाति के साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और कलाकारों में पारस्परिक पर्याप्त वैषम्य होते हुए भी एक महत्वपूर्ण एकसूत्रता होती है, एक साम्य होता है। यह साम्य, और एकसूत्रता उनके महत्वपूर्ण अंश हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक युग की चेतना का एक निश्चित स्वरूप होता है और कलाकार उससे पूर्णत: मुक्त नहीं हो सकता। युग-चेतना एक सीमा निर्धारित कर देती है और कवि उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाता है। विभिन्न देशों, जातियों और युगों के साहित्य के अध्ययन ने साहित्य और परिवेश के इस सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया है। साहित्य के इतिहास का तो वह मूल आधार ही है।

इसके तत्व : साहित्य और युग का यही सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन की ऐतिहासिक शैली का आधार है। प्रत्येक प्रौढ़ साहित्य में समीक्षा की यह शैली प्रचलित है। अंग्रेजी में सेंट बेव तथा टेन आदि इसके प्रमुख व्यक्ति हैं। हिन्दी में भी इसका पर्याप्त उपयोग हो रहा है। टेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में इस पद्धति के सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है। वे जाति [रेस] परिवृत्ति [सराउंडिंग्स] और युग [Epoc] को साहित्य की प्रधान प्रेरणा शक्ति मानते हैं। इनका सम्पूर्ण साहित्य पर पूर्ण नियन्त्रण है ऐसा उन्हें मान्य है। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशेष समुदाय या जाति का एक अंग होता है। उस जाति की विचार-धारा, रहन-सहन, सभ्यता-सस्कृति जीवन-दर्शन आदि की उस पर अमिट छाप होती है। वस्तुत: उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंश उस जाति की ही देन है। इसलिए किसी भी व्यक्ति द्वारा निर्मित साहित्य उसकी जातीय सभ्यता और सस्कृति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक देश काल के साहित्य में यह जातीय तत्व विद्यमान रहता है। जाति के सामूहिक साहित्य के अन्तस्तल में जातीयता की वह धारा प्रवाहित होती रहती है और वही उस साहित्य की प्रमुख प्रेरक शक्तियों में से भी है।

दूसरा तत्व है—परिवृत्ति। इसमें भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों का अन्तर्भाव है। ये सभी वस्तुएं साहित्य को प्रभावित करती हैं, एक देश के साहित्य की दूसरे देश के साहित्य से तथा एक जाति के साहित्य की दूसरे साहित्य से भिन्नता इन दोनों तत्वों के प्रभाव को स्पष्ट कर रही है। भारत और यूरोप के साहित्य का मौलिक अन्तर इसी जातीयता और परिवृत्ति पर

अवलम्बित है। एक ही जाति के दो भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। इन सब उदाहरणों से ऊपर के सिद्धांत का समर्थन हो जाता है। प्रत्येक वस्तु, प्रत्यय और विचार-धारा निरन्तर परिवर्तनशील और प्रवहमान है। एक शताब्दी पूर्व की विचार-धारा आज ठीक वैसी ही नहीं रह गई है। जीवन स्थिर नहीं, गतिशील है। गति ही जीवन का लक्षण है। यही उसका प्रमाण है। जीवन के साथ प्रत्येक वस्तु भी चिर-परिवर्तन शील है, टेन का युग से यही तात्पर्य है। वे यह मानते हैं कि युग-चेतना चिर विकासशील है। वह अपने साथ पूर्व युग के संस्कारों को लेकर आगे बढ़ती रहती है। नदी के प्रवाह की तरह उसमें एक-सूत्रता है, पर स्थैर्य नहीं। इसीलिए एक युग का महाकाव्य अथवा नाटक दूसरे युग के महाकाव्य और नाटक से बहुत-कुछ भिन्न होता है। रत्नाकर जी ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा के कवि हैं, पर वे रीतिकालीन कवियों से स्पष्टतः भिन्न हैं। आज का मुक्तक-साहित्य भक्ति-काल के मुक्तक के अनुरूप नहीं हो सकता। इसी को साहित्य पर युग-चेतना का प्रभाव कहते हैं। यही कारण है कि टेन जाति, परिवृति और युग-चेतना को साहित्य की प्रधान प्रेरणाएं मानते हैं। दर्शन की पदावली में यह कहना भी अनुचित नहीं है कि उनकी दृष्टि में ये साहित्य के निमित्त और उपादान—दोनों कारण हैं। साहित्य के अध्ययन और मूल्यांकन के पूर्व इन तीनों का उपयुक्त ज्ञान आवश्यक है। साहित्य की कोई भी कृति अपने युग, परिवृत्ति और जातीयता से पृथक् करके नहीं देखी जा सकती। हडसन ने इसी प्रेरणा-शक्ति को जाति और युग के नाम से दो प्रमुख स्वरूपों में विभाजित किया है।[1] इन दोनों में परिवृत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक कला-कृति एक राष्ट्र के विशेष युग की अवस्थाओं का सहज परिणाम मात्र है। वह इसका प्रतिबिम्ब है। यह कोई संयोग नहीं है कि कुछ कला-कृतियां एक देशकाल की हैं।[2] एक विकासशील युग-चेतना, जो उसकी मूल प्रेरणाओं में से एक है और जो अपने आपको उनमें अभिव्यक्त कर रही है—उन कृतियों को उस विशेष देश-काल की बनाये हुए है।

एक अन्य स्थान पर हडसन साहित्य को युग की मूल चेतना और आदर्शों की अभिव्यक्ति मानते हैं।[3] टेन ने तो साहित्य के व्यष्टि रूप को भी इन्हीं तीन

1. An Introduction to the study of literature, Page 31-34.
2. "A nation's literature is not a miscellaneous collection of books which happened to have been written in the same tongue or within a certain Geographical area-It is the Progressive relation, age by age of such nations and character. —Ibid page 33.
3. Ibid page 33.

प्रेरणाओं का परिणाम मान लिया है। वे व्यष्टि कलाकृति को भी उस युग के मस्तिष्क के किसी विशेष प्रकार या वर्ग की प्रति-कृति मानते हैं।[1] वे मानते हैं कि कला-कृति के वर्ण्य-विषय, भाव, भाषा, शैली, विचारधारा आदि सभी कुछ उस युग की देन हैं। वे उस युग की अवस्थाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक एडवर्ड अपवर्ड लिखते हैं : 'साहित्य मानव-समाज और प्रकृति-समन्वित सतत परिवर्तनशील पदार्थ-जगत् से उद्भूत वस्तु है और उसे प्रतिबिम्बित करता है। कवि की उपमा-उत्प्रेक्षाएं और औपन्यासिक पात्र उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होते बल्कि उसके चारों ओर के संसार से निर्दिष्ट होते हैं।"[2] मार्क्सवादी साहित्य और समाज के अच्छेद्य सम्बन्ध का समर्थक है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्य-चिंतक काडवेल साहित्य को व्यक्ति के सामाजिक अहं (Social ego) की अभिव्यक्ति मानते हैं। मार्क्सवादी समीक्षा-सम्प्रदाय एतिहासिक समीक्षा-पद्धति का ही विशेष दर्शन के आधार पर विकसित रूप है।

समीक्षा के दो रूप:—कला-कृति से निर्माण-काल की परिस्थितियों और जातीय चेतना का अनुमान तथा साहित्य पर जातीयता एवं युग-चेतना के नियन्त्रण का अध्ययन—समीक्षा के ये दोनों प्रकार ही ऐतिहासिक समीक्षा में अन्तर्भूत हैं। ऐतिहासिक समालोचक किसी भी कलाकार या कलाकृति को युग की धारा से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहता। वह उन प्रेरणाओं का अनुसन्धान करता है, जिनका सहज और स्वाभाविक परिणाम वह कलाकृति है। साहित्य और संस्कृति को अविरल धारा में रखकर कृति के वर्ण्य-विषय, विचार-धारा, भाव-भाषा, शैली आदि के स्वरूप का अध्ययन तथा मूल्यांकन करना ही इस समीक्षक का प्रधान उद्देश्य है। ऐतिहासिक समीक्षक युग-चेतना के प्रभावों के साथ ही यह भी अध्ययन करता है कि किसी कला-कृति ने जाति के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में कितना सहयोग प्रदान किया है। साहित्य के मूल्यांकन का वास्तविक मान तो वह इसे ही मानता है। विशेषतः साहित्य के समष्टिगत रूप के अध्ययन के लिए तो यह

1. 'It was percieved that a work of Literature is not a mere play of imagination, a solitary caprice of a heated brain, but a transcript of contemporary manners, a type of a certain kind of mind."—Taine : 'History of EnglishL iterature Introductoin page 1.

२—'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या' : 'हंस-प्रगति अङ्क' फरवरी-मार्च १९४३।

प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है ही; व्यष्टि कृति के मूल्यांकन में भी इस पद्धति का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। इससे राष्ट्र और युग की सांस्कृतिक एकता भी सुस्पष्ट हो जाती है। एक कला-कृति को साहित्य की अविरल धारा में रखकर देखने से उसके महत्व का भी ज्ञान हो जाता है। किसी भी कलाकार अथवा कला-कृति को युग और जाति से विच्छिन्न करके देखना तो उसको विकलांग करके उसका मूल्यांकन करना है। पर इस समीक्षा के सिद्धान्तों को ही एक-मात्र सत्य मानने वाले, साहित्य में व्यक्ति के एक विशेष महत्व की उपेक्षा करते हैं। कलाकार का व्यक्तित्व पूर्णतः परिवृत्ति का ही परिणाम नहीं है। उसका एक अंश ऐसा भी होता है जो बाह्य जगत् की वस्तुओं और प्रत्ययों को अपने अनुरूप बनाना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् पर अपनी भावनाओं का आवरण चढ़ाकर उसको ग्रहण करता है। जगत् के विशुद्ध स्वरूप—व्यक्तित्व के आरोप से निर्लिप्त स्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं। जिन कलाकारों का व्यक्तित्व परिवृत्ति के समक्ष आत्म-समर्पण करता है, उसका सृजन केवल समाज का उपभोग-मात्र है, वह साहित्यकार समाज का उपभोक्ता है, निर्मायक नहीं। ऐसा साहित्य समाज के लिये केवल दर्पण का ही कार्य करता है; उसका पथ-प्रदर्शन नहीं करता। समाज में क्रान्ति उपस्थित करने तथा नूतन निर्माण की क्षमता ऐसे साहित्य में नहीं हो सकती। ऐसा साहित्य समाज के परम्परागत रूप की रक्षा और स्थिति का हेतु है, विकास का कारण नहीं। संस्कृति को विकास की ओर ले जाने वाला साहित्य केवल युग, राष्ट्र और परिवृत्ति का सहज परिणाम नहीं होता। उसकी प्रधान प्रेरणा-शक्ति कलाकार की प्रतिभा ही होती है। प्रतिभावान कलाकार युग का अनुगमन नहीं करता, वह तो युग का अग्रगामी होता है। वह परम्परागत मार्ग का ही अवलम्बन नहीं करता, अपितु मानवता के विकास के नूतन मार्गों का भी अनुसन्धान करता है। अगर रूढ़ि के खण्डन की आवश्यकता होती है, तो वह भी करता है। साहित्य मानव के विकास को प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के बल पर ही शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकता है। प्रतिभाशाली ही उसको विकास की नवीन दिशाएं दिखाता है। प्रतिभाओं के अभाव में तो साहित्य, समाज और संस्कृति पूर्णतः स्थिर हो जाते हैं और कालान्तर में वे दूषित होकर दुर्गन्ध भी देने लगते हैं। हिन्दी का रीतिकाल कहीं-कहीं कुछ ऐसे ही स्थैर्य का आभास देता है। ऐतिहासिक तत्वों के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व के महत्व को स्वीकार करने से ही समीक्षा प्रकृत मार्ग का अवलम्बन करके प्रौढ़ और विकसित होती है। कलाकार के व्यक्तित्व की नितान्त अवहेलना करने से तो साहित्य-समीक्षा और साहित्य केवल इतिहास-लेखन की सामग्री-मात्र हो जायेंगे। शिलालेखों की तरह साहित्य भी इतिहास के तथ्यों का प्रमाण-मात्र हो जायगा। उसका पृथक सांस्कृतिक महत्व कुछ

भी नहीं रहेगा। प्रत्येक कला-कृति की प्रेरणा के दो प्रधान स्रोत होते हैं—कलाकार का व्यक्तित्व और युग-चेतना। ये दोनों भी एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश युग-चेतना का परिणाम और दूसरा उसका निर्मायक है। प्रतिभाओं के व्यक्तित्व के युग-निर्मायक एवं क्रान्तिकारी तत्व का स्वरूप-निर्धारण भी युग-चेतना द्वारा ही होता है। इसीलिए समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए इन दोनों का सामंजस्य ही अपेक्षित है। साहित्य में युग-चेतना अथवा सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से ही होती है। इसलिए साहित्य में ऐतिहासिक और सामूहिक-जीवन के तत्वों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व का महत्व कम नहीं है। साहित्य और व्यक्तित्व का सम्बन्ध चरितमूलक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्ष-पद्धतियों का आधार ही है। इस सम्बन्ध में एक दूसरी धारणा भी है। इतिहास की एक चेतना होती है, वही युग को विकास की ओर ले जाती है। नये युग का प्रवर्तन इसी चेतना का परिणाम है। तथाकथित प्रतिभा में भी उसी चेतना की व्यष्टि अभिव्यक्तियां हैं। अतः प्रतिभाओं का नवीन युग-प्रवर्तन उनकी व्यष्टि चेतना का नहीं अपितु समष्टि चेतना का कार्य है। व्यक्ति और समाज या परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध की कुछ मूलभूत बातें अनिर्णीत हैं। व्यक्ति का कोई अंश परिप्रेक्ष से सर्वथा निरपेक्ष अस्तित्व रखता हैं या नहीं, व्यक्ति चरम सत्य है या समष्टि—ये अनिर्णीत प्रत्यय हैं। जीवन को समझने समझाने के दो प्रकार हैं। दर्शन के क्षेत्र में भी—व्यष्टि जीव एवं समष्टि जीव, व्यष्टि मन एवं समष्टिमन आदि के रूप में दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय हैं। उनमे से एक का निराकरण करके दूसरे को सर्वमान्य एवं निर्णीत सत्य मान लेने का आग्रह पूर्व युगों में भी नहीं रहा। आज इस समस्या को एक नये दृष्टिकोण से देखते हैं पर ये दोनों ही सिद्धान्त हैं, उसी प्रकार स्थिर।

हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा :—

किसी भी प्रौढ़ साहित्य-समीक्षा की शैलियों में ऐतिहासिक समीक्षा के महत्व का स्थान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी में साहित्य-समीक्षा बहुत ही अर्वाचीन है। यह विधा अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, पर विकास की शक्ति से गर्भित है, इसका भी स्पष्ट आभास मिल रहा है। आधुनिक समीक्षा के आरम्भ से ही ऐतिहासिक समीक्षा के दर्शन होते हैं। स्वयं भारतेन्दु जी ने अपने कतिपय लेखों द्वारा साहित्य के विकास की धारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साहित्य के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का अनुमान भी किया गया है। उनके परवर्ती काल में ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास होता रहा है। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा मिश्र-बन्धुओं ने भी कवियों की रचनाओं से तत्कालीन अवस्थाओं का अनुमान किया है। उन पर विचार करते

हुए इसका निर्देश किया जा चुका है। पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व-साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' नामक ग्रन्थों में साहित्य और देश-काल के सजीव सम्बन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके विवेचन में साहित्य का मानवतावादी एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन का प्रारम्भिक रूप मिलता है। पर ऐतिहासिक समीक्षा के इस समाजशास्त्रीय रूप का विकास तो वास्तव में परवर्ती काल में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा ही हुआ। लेकिन कवियों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर विचार करने के प्रथम वैज्ञानिक प्रयास के दर्शन शुक्ल जी की समीक्षा में ही होते हैं। उन्होंने अपने प्रारम्भिक लेखों में ही ऐतिहासिक शैली को अपना लिया था। प्रेमघन जी की 'आनन्द-कादम्बिनी' में ही उन्होंने भाषा-शैली के विकास के आधार पर हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास का थोड़ा-सा आभास दिया था।[1] ऐतिहासिक विवेचन की इस प्रवृत्ति में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक अवस्थाओं का निर्देश करके तुलसी और सूर की कविताओं को उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम बतलाया है और इन कवियों का सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से भी महत्व आंका है। शुक्ल जी के इस विवेचन से समीक्षा की ऐतिहासिक शैली केवल तत्कालीन परिस्थितियों के प्रासंगिक संकेत तक ही सीमित नहीं रह गई, अपितु वह साहित्य-समीक्षा का एक अनिवार्य तत्व हो गई। परवर्ती काल के प्रायः सभी आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया है। पर शुक्लजी की ऐतिहासिक दृष्टि साहित्य की अविरल और अविच्छिन्न धारा को नहीं देख सकी। उन्होंने कवियों को साहित्य की धारा में रखकर नहीं देखा। उनका ऐतिहासिक विवेचन चित्र की पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सका, जिससे आलोच्य कवियों की विशेषताएं कुछ अधिक प्रभावोत्पादक प्रतीत होने लगीं। यह विवेचन फोटो की पृष्ठभूमि है, जो प्रधान चित्र को प्रभावोत्पादक और सुस्पष्ट करने के लिए आवश्यक होती है। यह उस कलापूर्ण चित्र की पृष्ठभूमि नहीं है, जिसके रंग और रेखाएं ही गहरी और गुरुतर होकर चित्र का रूप धारण कर लेती हैं। कहीं-कहीं पृष्ठभूमि के रंगों से प्रधान चित्र का अन्तर भी वैषम्य के द्वारा वस्तु को परिस्थितियों के अपवाद स्वरूप बताने तथा अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए दिखाया जाता है। शुक्ल जी का भक्ति को निराश हिन्दू-जनता को आश्रय देने की आकांक्षा का परिणाम बतलाना, इसी प्रकार का विवेचन है। भक्ति की अविरल धारा को देखकर उसे केवल सामयिक परिस्थितियों का परिणाम-मात्र कह देना साहित्य के कालों को एक-दूसरे से विच्छिन्न करके देखना है। तुलसी की कविता को केवल तत्कालीन

१—ज्येष्ठ से भाद्रपद, सं० १९६४।

परिस्थिति से प्रसूत मानना भी उसकी परम्परा से अलग करके ही देखना है। शुक्ल जी की इस विचार-धारा और शैली का अनुकरण बहुत दिनों तक होता रहा। अब भी हिन्दी के कवियों और साहित्य को इसी रूप में देखने की प्रवृत्ति निर्मूल नहीं हो गई है। लेकिन ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति में शैली के प्रौढ़तर स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। 'साहित्य की झांकी'[1] में भक्ति-काव्य, कृष्ण, राम, प्रेम-कथा, वीर-काव्य आदि के स्वरूपों के विकास पर विचार किया गया है। इन निबन्धों में साहित्य की विभिन्न धाराओं और प्रत्ययों के विकासमान रूप का अध्ययन हुआ है। लेखक ने सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम का परम्परा से सम्बन्ध बताया है। इन लेखों में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वैदिक काल से तुलसी और सूर तक विष्णु किन अवस्थाओं को पार करके पहुंचा है और हिन्दी के इन महाकवियों ने इनके किस स्वरूप को ग्रहण किया है। लेखक शृंगार-रस का चित्रण भी तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम नहीं मानते। उनका कहना है कि यह अकबर के राजत्व-काल की देन अथवा सूर या नन्ददास की कृति नहीं है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है।[2] भूषण के विवेचन में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का भी विवेचन है। भूषण पर इन परिस्थितियों का प्रभाव दिखाया गया है। यहां पर लेखक शुक्ल जी की शैली का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। "रावण" में मुगल-सम्राट् के अत्याचारों का दर्शन भी ऐतिहासिक दृष्टि-कोण ही है। कवि को (तुलसी के) रावण के तत्कालीन अत्याचारों के चित्रण से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। यह पुस्तिका बहुत पहले ही (सन् ३० के पूर्व ही) की प्रकाशित है। यह ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का आभास देती है। ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में इतिहास-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियों के निराकरण के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं। इनमें इस समीक्षा-पद्धति के स्वरूप का प्रारम्भिक आभास ही मिलता है, सर्वांगीणता के दर्शन नहीं होते। साहित्य की धाराओं और प्रत्ययों की निर्बाध विकास-परम्परा विशेष युग के साहित्य से तत्कालीन परिस्थितियों का सम्बन्ध, साहित्य के विशेष युग और कवि की सांस्कृतिक और साहित्य की विकासमान परम्परा की देन आदि कतिपय महत्वपूर्ण विषय अस्पृष्ट हैं। शुक्ल-पद्धति के आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का बहुत सुन्दर उपयोग किया है। उनकी प्रवृत्ति भी साहित्य को अविच्छिन्न धारा के रूप में देखने की है। 'भूषण-ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने ऐतिहासिक

१—साहित्य की झांकी, पृष्ठ ६६।
२—वही, पृष्ठ १७१।

पृष्ठभूमि का विशद निरूपण किया है।

द्विवेदी जी :—ऊपर ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के जिन तत्वों पर विचार हुआ है, वे साहित्य की मूलभूत प्रेरणाएं हैं। ऐतिहासिक समालोचक के लिये उन दृष्टियों से विचार करना अनिवार्य सा हो जाता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की समीक्षा-शैली प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दतावादी एवं ऐतिहासिक रही है जिसमें क्रमशः, मानवतावादी एवं समाजवादी मूल्य भी पुष्ट होते गये हैं। द्विवेदीजी साहित्य को एक अविच्छिन्न धारा के रूप में ही देखना चाहते हैं। प्रत्येक कलाकार और कला-कृति एक अविरल धारा का कोई विशिष्ट अंश तथा उस धारा को आगे बढ़ाने का कारण भी है। द्विवेदीजी के आलोचक - रूप का विकास इस दिशा में हुआ है। उनकी सूर सम्बन्धी आलोचना में यह दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट नहीं है, इसीलिए वह पुस्तक आँशिक रूप में शुक्ल-शैली एवं अधिकांशतः स्वच्छन्दतावादी-धारा की कृति है। स्वच्छन्दतावाद के साथ ही समीक्षा की ऐतिहासिक दृष्टि का भी शुक्लोत्तर विकास हुआ है। उस विकास की दृष्टि इस रचना में भी थोड़ी स्पष्ट हुई है। लेकिन उनका 'कबीर' स्पष्टतः ऐतिहासिक शैली के प्रौढ़ रूप का उदाहरण है। इसमें उन्होंने साहित्य की उपर्युक्त सभी प्रेरणाओं की दृष्टि से कबीर पर विचार किया है। हिन्दी के अंग्रेज आलोचकों ने इनके साहित्य को युग तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सहज परिणाम मात्र कहा था। भक्ति-काल की प्रौढ़ रचना के मूल में मुगल दरबार की प्रेरणाएं हैं, ऐसी कुछ दृढ़ धारणा इन आलोचकों ने कर दी थी। ग्रियर्सन और के—दोनों की यही धारणा थी।[1] हिन्दी-साहित्य के परवर्ती विद्वानों की धारणा भी इसी आधार पर बनी। वे सूर, तुलसी आदि को तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं की ही उपज मानने लगे। इससे हिन्दी की लम्बी परम्परा उपेक्षित हो गई। हिन्दी-साहित्य का उसकी पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा ने ही आलोचकों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया था। डा० सत्येन्द्र के कतिपय लेखों पर विचार करते हुए हमने देखा है कि वे कुछ परम्परा-सम्बन्धी भ्रांतियों का निराकरण करने के लिए लिखे गए हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य संबंधी महत्वपूर्ण भ्रांतियों का निराकरण किया है। उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को वास्तविक अर्थ में ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की है। उन्होंने हिन्दी की साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध भारत की मूल चिन्तन धारा से स्थापित कर दिया है। संस्कृत के रीति और अपभ्रंश के लोक-साहित्य, तथा नाथ-सम्प्रदाय की विचार-धारा एवं वैष्णव भक्तों की भक्ति-पद्धति—इन सभी का

१—के : हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर, पृ० ३४-३५

समाहार हिन्दी साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है। हिन्दी की विभिन्न काव्य-धाराएं उन्हीं के विकसित रूप-मात्र हैं। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इसी परम्परा की एकसूत्रता घोषित करने के लिए लिखी है। उन्होंने कबीर की चिन्तन-धारा को केवल मुसलमानों के आगमन का परिणाम न मानकर उसको भी एक बहुत लम्बी परम्परा की एक विशेष कड़ी माना है। इस चिन्तन-धारा के विकास में जातीयता, परिवृत्ति और युग-चेतना—सभी ने सहयोग दिया है। कबीर को समझने के लिए इन सबका समझना अत्यन्त आवश्यक था, इस धारा को ध्यान में रखकर ही कबीर का महत्व जाना जा सकता है। यही द्विवेदी जी ने किया है।

कबीर के साहित्य में योग और दर्शन-सम्बन्धी विचार, बाह्याचार का खंडन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता को अस्वीकार करना, गुरु का महत्व आदि कतिपय प्रत्यय, प्रधान रूप से मिलते हैं। ये सब कबीर को अपनी जातीय और वंश-परम्परा से प्राप्त हुए थे। यही द्विवेदी जी ने प्रतिपादित किया है जो ऐतिहासिक समीक्षा का प्रधान तत्व है। द्विवेदी जी 'बयनजीवि' जाति से कबीर का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उस जाति में जो विचार और लोक-व्यवहार परम्परा से चले आ रहे थे, वे ही प्रधान रूप से कबीर की कविता में व्यक्त हुए हैं। कबीर के परिवार पर नाथ-सम्प्रदाय के विचारों का भी पूरा-पूरा प्रभाव था।[1] इन जोगियों में निराकार की पूजा प्रचलित थी, वे या तो जुलाहे थे अथवा भीख मांगकर अपनी गुजर करते थे। ब्राह्मणों के प्रति इनमें घृणा का भाव था। ये लोग हिन्दू-समाज द्वारा उपेक्षित थे तथा समाज में निम्न स्तर के समझे जाते थे।[2] योग के जिन साधनों और जिन योगपरक उलटबासियों का बाहुल्य कबीर की कविता में मिलता है, वे सब कबीर को उनके परिवार तथा तत्कालीन वातावरण की देन है।[3] कबीर का जिस वंश में लालन-पालन हुआ है, उसमें यह योग-चर्चा साधारण धर्म-चर्चा के रूप में होती थी। इसीलिए कबीर की भाषा, युक्तियों, तर्क शैली और विचार-धारा पर इस योग मत का स्पष्ट प्रभाव है।[4] कबीर की साधनात्मक प्रवृत्ति आगन्तुक मुसलमानों की देन है, एक आकस्मिक वस्तु है, इस धारणा को द्विवेदी जी भ्रान्त मानते हैं। वे इसको वंश-परम्परा से प्राप्त तथा अत्यन्त पुरानी कह रहे हैं। हां, कबीर में जो साहसिक भाव आ गया है,

१—कबीर, पृष्ठ ११।
२—वही, पृष्ठ १२-१५।
३—वही, पृष्ठ ८०-८१।
४—वही, पृष्ठ २२।

उसका एक कारण मुसलमान-वंश में पालन-पोषण भी है।[1] इस प्रकार द्विवेदी जी यह सिद्ध करते हैं कि कबीर के विचार, तर्क, भाषा आदि ही नहीं अपितु उनके व्यक्तित्व और स्वभाव का मूल अंश भी वंश-परम्परा में रखकर ही समझा जा सकता है। कबीर तथा अन्य सभी सन्त-कवि अपनी वंश-परम्परा के अतिरिक्त चिरकाल से चली आती हुई योग दर्शन आदि की परम्परा से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। बौद्ध धर्म अनेक शाखाओं में बंटता हुआ नाथ-सम्प्रदाय का रूप धारण कर गया। कबीर के समय में योग, नाद, बिन्दु आदि की बातें प्रायः प्रचलित हो गई थीं। निम्न स्तर के हिन्दुओं के जीवन पर इनका गहरा प्रभाव था। इन निर्गुण पंथी सन्तों की तरह बौद्ध-सिद्ध और नाथ-पंथी योगी भी नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे और गुरु की भक्ति करने का उपदेश देते थे। इतना ही नहीं; भाषा, भाव, अलंकार, छन्द, पारिभाषिक शब्द आदि पर भी तत्कालीन अवस्थाओं की स्पष्ट छाप है। सिद्ध और योगी भी इन्हीं का प्रयोग करते थे।[2] उलटबांसियां तो स्पष्टतः ही इन सिद्धों से ही कबीर को प्राप्त हुई हैं। जाति-पांति का विरोध एवं बाह्याचार का खंडन भी उस काल की विशेषता है।[3] साहित्य और संस्कृति के उसी स्वरूप के दर्शन कबीर आदि में होते हैं, जो स्वरूप निरन्तर विकास के उपरान्त उनको प्राप्त हुआ था। ये भक्त सगुण भक्तों की अपेक्षा कुछ भिन्न थे। उनकी परम्परा कुछ भिन्न स्रोतों से प्रवाहित होकर आई थी, इसलिए सगुण और निर्गुण में साधना तथा दर्शन-सम्बन्धी पर्याप्त वैषम्य था। पर फिर भी भक्ति-सामान्य का जो स्वरूप विकसित होकर युग-धर्म के रूप में ग्रहण होता आया है, उसके दर्शन इन दोनों में होते हैं। भगवान् के साथ आनन्द-केलि मध्यकालीन भक्ति का केन्द्र-बिन्दु है। निर्गुण-भक्तों की भी यह प्रमुख विशेषता है, द्विवेदी जी आनन्द-केलि की यह प्रकृति कबीर में भी मानते है।[4] इस विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने कबीर पर परिवृत्ति तथा जातीयता की देन की दृष्टि से विचार किया है। कबीर की कविता के स्वरूप-निर्देश में इन दोनों तत्वों का कितना हाथ है, यह स्पष्ट करना ही द्विवेदी जी का अभिप्राय है। इनके अतिरिक्त साहित्य की विशेष धारा को निश्चित स्वरूप प्रदान करने की तीसरी प्रबल शक्ति है--तत्कालीन अवस्था, अर्थात् युग-चेतना। द्विवेदी जी ने इस पर भी विचार किया है। बाह्याचार और जाति-पांति के खंडन की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन

१—'कबीर', पृष्ठ १३६-१३८।
२—हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ३१-४३।
३—कबीर, पृष्ठ १३५। ४—वही, पृष्ठ १८०

थी। कबीर के बहुत पहले से ही यह विचार-धारा पर्याप्त प्रबल होती जा रही थी, पर इसके प्रभावोत्पादक स्वरूप के दर्शन कबीर में ही होते हैं। द्विवेदी जी निःसंकोच इसे उस समय की राजनीतिक अवस्थाओं का परिणाम स्वीकार करते हैं। मुसलमानों के आगमन के कारण हिन्दू-धर्म को एक विचित्र 'मजहब' का सामना करना पड़ा। उसके कारण हिन्दू-धर्म की समन्वयवादी बुद्धि कुण्ठित हो गई और वह व्यक्तिगत चारत्र्य-प्रधान धर्म के स्थान पर आचार-प्रबल अधिक होता गया।[1] इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों ने कबीर आदि सन्त-मत के कवियों को लोकप्रिय होने में सहायता दी है।[2] इस विवेचन का सोदाहरण एवं विस्तार का एक-मात्र तात्पर्य द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षा की सर्वांगीणता और प्रौढ़ता को स्पष्ट करना है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि साहित्य जन-समुदाय की संस्कृति का मार्ग-निर्देश अपनी प्रतिभाओं द्वारा ही कर सकता है। परम्परा एव मौलिकता—ये दोनों तत्व प्रत्येक युग के साहित्य में रहते हैं, केवल अनुपात बदलता रहता है। इसी प्रकार कवि में भी यह दोनों तत्व रहते हैं। पर अगर किसी युग में परम्परा मात्र को लेकर चलने वाले कवित्व का प्राधान्य हो तो वह युग सांस्कृतिक दृष्टि से प्रधानतः स्थित्यात्मक कहा जाएगा। उस काल में साहित्य सांस्कृतिक निधि की रक्षा अधिक कर पाता है, उसकी श्री-वृद्धि कम। प्रतिभाएं ही विकास के नवीन मार्गों का उद्घाटन करती हैं। इसीलिए साहित्य की प्रमुख एवं सामूहिक प्रेरणाओं (जातीयता, परिवृत्ति और युगचेतना) के साथ ही हमने कलाकार के व्यक्तित्व का महत्व भी स्वीकार किया है। सृजन ही, नवीन चेतना ही काव्य का वास्तविक स्वरूप है, उसका प्राणतत्व हैं। इसके अभाव में साहित्य की वास्तविक पृथक् सत्ता तथा उपादेयता ही नहीं रह जाती। परम्परा-मात्र का संरक्षण तो इतिहास का काम है, अतः परम्परा का अनुवाद मात्र तो काव्य का गौण कार्य है। ऐसे काव्य के लिए काव्य शब्द का प्रयोग भी गौण प्रयोग ही है। क्रान्त-दर्शी प्रभावशाली प्रतिभाएं ही युग-परम्परा में एक नवीन चेतना जाग्रत करती हैं जो तत्कालीन संस्कारों की समष्टि के अतिरिक्त भी कुछ हैं। यही उसी युग का अपना वास्तविक व्यक्तित्व है। इसे हम युग के व्यक्तित्व का वह अंश कह सकते हैं जो युग-परम्परा के सामने स्वयं आत्मसमर्पण नहीं करता अपितु परम्परा को बदलकर अपने अनुकूल बना लेने की क्षमता रखता है।

१—कबीर, भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान।
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४३।

साहित्य-समीक्षा के लिए युग और कलाकार के ऐसे व्यक्तित्व का उद्घाटन बहुत महत्व की वस्तु है। ऐतिहासिक समीक्षा का उद्देश्य रूढ़ि और मौलिकता—दोनों का अध्ययन करना है। द्विवेदी जी ने रूढ़ियों और परम्पराओं के साथ ही मौलिकता का अध्ययन भी किया है। वे कबीर की परम्परा तथा उसके समय पर ही विचार नहीं करते, अपितु उसके व्यक्तित्व का महत्व भी स्पष्ट कर देते हैं। द्विवेदी जी मस्त, फक्कड़ स्वभाव और अक्खड़पन के विशेषणों से कबीर का व्यक्तित्व स्पष्ट करते हैं। कबीर सब कुछ झाड़-फटकार कर चल देने वाला तेज व्यक्तित्व था।[1] इसलिये उसमें सब परम्पराओं के विरोध की क्षमता थी। कबीर बाह्याचार के वातावरण में पले थे, पर वे उसको जैसा-का तैसा ग्रहण नहीं कर सके। थोथे तर्क, कुटिल कवि-ज्ञान, कटु वचन और मधुर शब्द-जाल उनको भरमा नहीं सके। कबीर ऐसे प्रेम की खोज में थे जो सारे हलाहल को अमृत कर देता।[2] इन विशेषणों से द्विवेदी जी कबीर के व्यक्तित्व को स्पष्ट कर रहे हैं। यह सब कबीर के ऐसे दृढ़ और परिस्थितियों के सम्मुख आत्म-समर्पण न करने वाले व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि परम्परा से भिन्न होते हुए भी उनकी भक्ति-साधना और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से समाज इतना अधिक प्रभावित हुआ। व्यक्तित्व विशेष के निर्माण में परिवृत्तियों का भी पूरा सहयोग रहता है। द्विवेदीजी ने समीक्षा के इस अंश की भी उपेक्षा नहीं की है। परिवेश एवं व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध की सचेतनता के प्रति भी द्विवेदी जी सजग हैं। इस दृष्टि से उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व का अध्ययन किया है। कबीर ऐसी ही परिस्थितियों में जन्मे और पले थे जिनमें वे मजहबी प्रभावों से मुक्त रह सकें। द्विवेदी जी ने कबीर के व्यक्तित्व को बहुत ही सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट किया है : "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे।...वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानव-प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे।... असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन-बिन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-विन्दु पर खड़े थे जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व...जहां पर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहां से एक तरफ निर्गुण

१—कबीर, पृष्ठ २१७।
२—वही, पृष्ठ १३६।

भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना··· ।"[१] इन पंक्तियों में कबीर के मौलिक व्यक्तित्व तथा परिवृत्तियों के उस पर पड़े हुए संस्कारों को आत्म-सात् करके नवीन रूप देने की क्षमता का अच्छा निरूपण हुआ है। नृसिंह शब्द से द्विवेदी जी ने बहुत कुछ कह दिया है । इसी से कबीर की युग में नवीन चेतना जागृत करने की क्षमता स्पष्ट हो जाती है।

साहित्य का इतिहास और समीक्षाः—

ऐतिहासिक समीक्षा साहित्य के रसास्वाद एवं मूल्यांकन में ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का महत्व ऐतिहासिक शैली में आंकती है। साहित्य का इतिहास तथा आलोचना दो पृथक् विधा होते हुए भी एक-दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे एक-दूसरे पर आश्रित भी हैं। समीक्षा का उद्देश्य साहित्य का रसास्वाद कराते हुए उसका मूल्यांकन करना है। इस मूल्यांकन में ऐतिहासिक विवेचन भी सहायक होता है। ऐतिहासिक समीक्षा आलोचना की एक मान्य और महत्व-पूर्ण शैली ही है। साहित्य का इतिहास भी साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। पर साहित्य के इतिहास का उद्देश्य प्रधान रूप से साहित्य का रसास्वाद कराना तथा उसका मूल्यांकन करना नहीं है। छोटे रूप से साहित्य की कृतियों का अनुसंधान, काल-क्रम की स्थापना, उनकी सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य की विभिन्न धाराओं के स्वरूप एवं विकास का निरूपण तथा काल-विभाजन ही साहित्य के इतिहास का प्रमुख कार्य माना जा सकता है। साहित्य का इतिहास साहित्य के विकासशील एवं प्रवहमान रूप के दर्शन कराता है। इतिहासकार तत्कालीन अवस्थाओं से साहित्य की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध स्थापित करके देखता है। वह जन-समुदाय के बौद्धिक विकास और उस पर प्रभाव डालने वाली बाह्य शक्तियों का अध्ययन करके उनका साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करता है। साहित्य एक तरफ जन-समुदाय के हृदय और बुद्धि का प्रतिबिम्ब है, तथा दूसरी तरफ वह जीवन को विकास की नई प्रेरणा भी देता रहता है। इसलिए साहित्य के इतिहासकार के लिए इस दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। "जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[२] शुक्ल जी ने इन पंक्तियों में साहित्य के इतिहास के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है।

१—कबीर, पृष्ठ १८१-१८२।

२—'हिन्दी शब्द सागर', हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १।

ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का यह भी एक उद्देश्य है। इस पर ऊपर विचार हो चुका है। इतिहास का उद्देश्य एक कलाकार की अपेक्षा सम्पूर्ण साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों और धाराओं के विकास का भी अध्ययन करना अधिक है। वह इस सामान्य विकास में कलाकारों के सहयोग का मूल्यांकन अवश्य करना चाहता है। यही कारण है कि इतिहासकार को भी कवियों की विस्तृत समालोचना प्रस्तुत करनी पड़ती है। पर इतिहास में साहित्यकार की सर्वांगीण आलोचना न अपेक्षित तो है और न सम्भव ही। "इतिहास की पुस्तक में किसी की पूरी तो क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।"[1] स्काट जेम्स इतिहासकार और समालोचक—दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक मानते हैं। इतिहासकार प्राचीन तथ्यों का संकलन और संपादन करता है तथा उन तथ्यों की प्रामाणिकता का परीक्षण करता है। पर आलोचक का कार्य साहित्य का मूल्यांकन करना है। यह आवश्यक नहीं है कि अच्छा इतिहासकार उत्कृष्ट समालोचक भी हो।[2] ऐतिहासिक समालोचक को इतिहास का बहुत कुछ उपयोग करना पड़ता है। पर वह प्रधानतः साहित्य-परम्परा का अनुसंधान करके कवि और कला का मूल्यांकन करता है। जिस प्रकार सफल समीक्षक में इतिहासकार का मिश्रण आवश्यक एवं श्लाघ्य है, उसी प्रकार सफल इतिहासकार के लिए भी समीक्षक का मिश्रण आवश्यक और उपयोगी है। यही कारण है कि साहित्य के उत्कृष्ट इतिहासकार आलोचना में भी प्रमाण माने जाते हैं। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में प्रसंग-वश जिन कवियों की आलोचना प्रस्तुत की है, वह प्रामाणिक हैं। यह सभी भाषाओं के उत्कृष्ट इतिहासकारों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

हिन्दी में साहित्य के इतिहास

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति जग गई थी। ऐतिहासिक समीक्षा के रूप में आलोचकों ने इसका आभास भारतेन्दु-काल में ही दे दिया था। स्वयं भारतेन्दु जी

१—शुक्ल जी—'इतिहास', वक्तव्य, पृष्ठ ७।

2.—The historian of literature must be disti guished from the critic of literature. The task of research among the remains of a literary period is distinct from the task of estimating those remains for what they may be intrinsically worth. A literary historian who may do invalueable work in compiling, sifting, annotating, editing, is often a very poor critic—"The Making of Literature. Page, .24-25."

दो-एक लेखों में हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास पर दृष्टि डाली है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। इतना ही नहीं वृत्त-संग्रह के रूप में भी ये प्रयास आरम्भ हो गए थे। शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' ही इस प्रकार का प्रथम क्रमबद्ध प्रयास माना जा सकता है। इसके पहले भी छोटे-मोटे कवित्त-संग्रह हुए हैं, ऐसा भारतेन्दु-कालीन पत्रिकाओं से अनुमित होता है। स्वयं शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक की भूमिका में उन संग्रहों के नाम दिए हैं। उन्होंने अपनी इस भूमिका में यह भी माना है कि इसके पूर्व भी कुछ कवियों के जीवन-वृत्त पर ग्रन्थ लिखे गए थे। वार्त्ता-साहित्य भी इसी की पूर्व-परम्परा मानी जा सकती है। पर ये सब प्रयास वास्तविक अर्थ में इतिहास नहीं माने जा सकते। इसीलिए इनको वृत्त-संग्रह कहना अधिक समीचीन समझा गया है। 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर ही ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' लिखा। इसमें लेखक ने कुछ कवियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से भी विचार किया है। सन् १९०० में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज का कार्य अपने हाथों में ले लिया था और हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की कई रिपोर्टें प्रकाशित की थीं। इस सामग्री का उपयोग मिश्र-बन्धुओं ने किया। इन्होंने इसके आधार पर एक बहुत बृहत् वृत्त-संग्रह 'मिश्र-बन्धु-विनोद' के नाम से प्रकाशित किया। पर ये सभी रचनाएं इतिहास की गरिमा को नहीं पहुँच सकी हैं। एफ० ए० के० ने एक छोटा-सा इतिहास सन् १९२० में लिखा था। उसमें उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं का भी थोड़ा-सा विवेचन किया है। इसमें कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति आदि की कुछ साधारण कोटि की विशेषताओं का भी परिचय दिया गया है। बद्रीनाथ भट्ट ने भी 'हिन्दी' के नाम से एक बहुत छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जिसमें हिन्दी-साहित्य और भाषा—दोनों का क्रमिक एवं संक्षिप्त इतिहास है। पर वस्तुतः ये सभी ग्रन्थ इतिहास के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सके। इनमें जनता की चित्त-वृत्तियों का अध्ययन नहीं हुआ है और न उन चित्त-वृत्तियों के साथ साहित्य का संबंध ही स्थापित हो सका है। साहित्य की आलोचना के विकास में इसी प्रकार का इतिहास सहायक हो सकता है और समीक्षा की दृष्टि से ऐसे ही प्रयास का महत्व भी है। इसके कुछ अंकुर बख्शी जी की रचना में अवश्य फूटे, और यदि उसी दिशा में हिन्दी-चिन्तन विकसित होता रहता तो शायद हिन्दी-साहित्य में इतिहास-लेखन अधिक शीघ्र एवं ठोस प्रगति करता, पर उस समय हिन्दी का इतिहास-लेखक उस दिशा में नहीं अपितु शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ा। शुक्ल जी प्रमुखतः समीक्षक थे, इतिहासकार तो उन्हें बनना पड़ा था। पर हिन्दी में साहित्य के इतिहास को प्रौढ़ और व्यवस्थित रूप

शुक्ल जी ने ही दिया। 'हिन्दी शब्द सागर' के अन्त में इतिहास के रूप में जो-कुछ प्रकाशित हुआ था, वही वास्तविक अर्थ में साहित्य का प्रथम इतिहास कहा जा सकता है। यह भी विकास का प्रारम्भिक रूप ही है। शुक्ल जी ने इसीलिए काल-विभाजन करके उन कालों की विशेषताओं का भी निरूपण किया था। शुक्ल जी ही ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य की धारा को इतिहास के साथ मिलाकर देखा और राजनीतिक अवस्थाओं के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया। इसके बाद शुक्ल जी ने इसी के कई परिवर्तित एवं परिवर्द्धित संस्करण निकाले। उनमें वे कालों के उपविभाग करते गये हैं तथा साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक परिचय भी देते गए हैं। इतिहास में कवियों की स्वतन्त्र आलोचना के लिए बहुत कम स्थान होते हुए भी शुक्ल जी ने साहित्य के सभी प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों की विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की है। आज भी हिन्दी में इतिहास-रचना के अधिक प्रयास शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट पथ पर ही हो रहे हैं। अतः वे मूलतः इतिहास होने की अपेक्षा कवियों और काव्य-प्रवृत्तियों की साहित्यिक समीक्षा अधिक हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में कवियों की बहुत विस्तृत और प्रौढ़ समालोचना को स्थान दिया है। यह शोध-प्रबन्ध है। श्यामसुन्दरदास जी का इतिहास कहीं-कहीं प्रवृत्तियों के निरूपण में अवश्य भिन्न है। इसमें एक काव्य-प्रवृत्ति के आधुनिक काल तक के विकास का एक साथ ही निरूपण है। पर इन्होंने भी अधिकांशतः शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अवलम्बन किया है। शुक्ल जी के इतिहास में राजनीतिक अवस्थाओं का साहित्य के विभिन्न कालों से सम्बन्ध अवश्य है, पर वे अवस्थाएं केवल पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सकी हैं। उनमें भी साहित्य की अपरिछिन्न धारा के दर्शन स्पष्ट और अविकल रूप में नहीं होते। आचार्य हजारी-प्रसाद जी द्विवेदी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' इस अभाव की पूर्ति का एक प्रौढ़ एवं सफल प्रयास है। वे हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध एक चिर-परम्परा से जोड़ देते हैं। वे उसे केवल तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[1] हिन्दी-साहित्य दस करोड़ मनुष्यों के चिन्तन के इतिहास का इसी दृष्टि से उनके उत्थान-पतन और जीवन संघर्ष का मूर्त रूप है। साहित्य के इतिहास का इसी दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व की कई शताब्दियों के लोक-जीवन और

१—'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृ० २।

विद्वत्समाज के साहित्य की विशेषताओं का निरूपण तथा उनका हिन्दी-साहित्य से परम्परागत सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी की भक्ति, रीति आदि की परम्पराएं चिरकाल की साहित्य-परम्पराओं के ही विकास हैं, किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं। यही द्विवेदी जी दिखाना चाहते हैं। इसमें समाजशास्त्र की दृष्टि इतनी प्रमुख है कि यह विशुद्ध इतिहास नहीं बन पाया। हिन्दी में विभिन्न कालों, प्रवृत्तियों एवं विधाओं के इतिहास भी लिखे गये हैं। इनमें अधिकांशत: शोध-प्रबन्ध के रूप आये हैं, अत: उनमें इतिहास की अपेक्षा समीक्षा और शोध की दृष्टि का प्राधान्य है।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने 'इतिहास के आलोक' में वर्तमान कविता के क्रम-विकास का, तथा 'छायावाद और उसके बाद' नामक निबन्धों[1] में साहित्य के विकास का अध्ययन किया है। इनमें कवियों और रचनाओं का ही नहीं अपितु लोक-रुचि और लोक-विचार-धारा का भी क्रमिक अध्ययन है। ये विचार-धाराएं साहित्य का स्वरूप किस प्रकार निश्चित करती गई हैं, इस पर भी द्विवेदी जी ने विचार किया है। उन्होंने गांधीवाद समाजवाद, रोमाण्टिसिज्म, रियलिज्म आदि वादों की परिधि में लोक-चिन्तन का अध्ययन किया है और इनका साहित्य पर प्रभाव भी आंका है। द्विवेदी जी यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किस प्रकार साहित्य समाजवाद, की ओर उन्मुख है। दिनकरजी भी इतिवृत्तात्मक, छायावादी और प्रगतिवादी साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाली विचार-धारा को स्पष्ट करते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि वैयक्तिकता का उत्थान ही साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर गया है। धीरे-धीरे हिन्दी का कवि अपनी वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर उन्मुख हुआ है। वह समाज के अधिक निकट आकर अनुभूति ग्रहण करने लगा है। वह अब देश और समाज की अवस्थाओं के प्रति भी सजग है। इसी से वह साहित्य के पलायनवादी दृष्टिकोण को तिलांजलि देकर राष्ट्र-प्रेम के गीत गाने लगा। अब वह समाज के यथार्थ-चित्रण की ओर उन्मुख हो गया। इसी स्वाभाविक चिन्तन-विकास से प्रेरणा प्राप्त करके साहित्य प्रगतिशील होता जा रहा है।[2] इस प्रकार दिनकरजी और द्विवेदी जी युग-चेतना के विकास का साहित्य के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके देखना चाहते हैं। ये निबन्ध ऐतिहासिक समीक्षा के अच्छे उदाहरण हैं। इनमें युग और साहित्य के चेतन सम्बन्ध का निर्वचन है। पर ये इतिहास नहीं हैं। यह प्रवृति हिन्दी-साहित्य

१—शान्तिप्रिय द्विवेदी : 'युग और साहित्य'।

२—देखिये मिट्टी की ओर' में संग्रहीत 'इतिहास के आलोक में' शीर्षक निबन्ध।

में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ऐतिहासिक समीक्षा हिन्दी की प्रधान विशेषता होती जा रही है और उसका दृष्टिकोण भी धीरे-धीरे वही होता जा रहा है जिसका निर्देश हो चुका है। आज ऐतिहासिक समीक्षा इस अवस्था को पहुंच चुकी है कि वह युग-चेतना को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में नहीं चित्रित करती अपितु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखलाती है। साहित्य युग का परिणाम और दिशा-निर्देशक---दोनों है, इसी सिद्धांत की ओर हमारी ऐतिहासिक समीक्षा अग्रसर हो रही है, वह साहित्य के इतिहास को भी नवीन दृष्टि से लिखने की प्रेरणा प्रदान कर रही है। साहित्य को युग--चेतना, लोक-रुचि, लोक-चिन्तन के समानान्तर विकासमान वस्तु देखने की प्रवृत्ति जाग रही है। ये निबन्ध तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' इसी प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के इन निबन्धों में ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन की प्रवृत्ति नहीं है, उनमें उनके वैयक्तिक चिन्तन का प्राधान्य है। रोमाण्टिसिज्म, रियलिज्म आदि प्रत्ययों को उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार विशेष अर्थ में ही ग्रहण करके उन्हीं के अनुसार साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन किया है। इसलिए इनमें इतिहास के विशुद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह नहीं है। दिनकरजी के निबन्धों में अपेक्षाकृत ऐतिहासिक प्रामाणिकता अधिक मानी जा सकती हैं। फिर भी ये वस्तुतः इतिहास नहीं, अपितु ऐतिहासिक समीक्षा के उदाहरण हैं और इतिहास-लेखन की नवीन प्रेरणा का संकेत-भर करते हैं।

हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति तथा इतिहास-लेखन का बहुत विकास नहीं हो पाया है। समाजशास्त्रीय एवं मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धतियाँ इस शैली का उपयोग करती हैं पर वहाँ वह सम्प्रदाय विशेष की विचार-धाराओं से आक्रान्त हो गई हैं। हिन्दी में इतिहास ग्रन्थ तो लिखे गये हैं और बराबर लिखे जा रहे हैं, पर शुक्लजी के बाद इतिहास सम्बन्धी किसी प्रौढ़ दृष्टिकोण का विकास नहीं हो पाया। मार्क्सवादी समीक्षकों ने इतिहास में नया दृष्टिकोण अपनाने की घोषणा अवश्य की, पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से कोई व्यवस्थित एवं प्रौढ़ प्रयास नहीं हो पाया। सम्पूर्ण इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टि से देखने के प्रयास तो हुए ही नहीं। कुछ छोटे-छोटे अन्शों या प्रवृतियों पर जो प्रयास हुए हैं उनमें भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। वे भी प्रायः कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टि की रचना ही अधिक कही जा सकती हैं। उनमें तोड़-मरोड़ एवं खण्डन की विध्वंसात्मक दृष्टि के अधिक दर्शन होते हैं। शिवदानसिंह चौहान की 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' की कल्पना से आधुनिक साहित्य का पूर्व परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। बोली और जनपदीय भावना को अनुचित महत्व देने के परिणाम-स्वरूप वे हिन्दी-भाषी को एक लम्बी एवं समृद्ध सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परम्परा से वंचित रख देना

चाहते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की 'बृहद् इतिहास' तथा हिन्दी-साहित्य-परिषद् की 'हिन्दी-साहित्य' का कई खण्डों में सम्पूर्ण इतिहास प्रकाशित करने की योजनायें भी चल रही हैं। 'बृहत् इतिहास' की भूमिका में इतिहास- लेखन के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। उसमें साहित्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण को प्राधान्य देते हुए साहित्य पर दार्शनिक, सांस्कृतिक, समाज-शास्त्रीय एवं मानवीय आदि दृष्टियों से विचार करने की प्रतिज्ञा भी है। इसके कई खण्ड प्रकाशित भी हुए हैं। पर यह योजना वास्तविक इतिहास के अभाव की पूर्ति नहीं कर पा रही है। इसमें इतिहास की धारा को रूपायित करने वाली संश्लिष्ट दृष्टि का अभाव है। इसका एक कारण विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखा जाना भी है। साथ ही सम्पूर्ण इतिहास एवं इसके खण्डों के सम्पादकों के समक्ष सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का न कोई बिम्ब है और न उसको परखने की एक दृष्टि ही। अतः इसके लेख विभिन्न दृष्टियों से ही लिखे जा रहे हैं। वे स्वयं अपने आप में पृथक-पृथक खण्ड ही हैं, एक धारा के अंश नहीं बन पा रहे हैं।

अभी हिन्दी में इतिहास को परखने का, विभिन्न दृष्टिकोणों, का सम्यक् विकास नहीं हो पाया है। भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना किस प्रकार इन युगों में प्रवाहित होती हुई हिन्दी के माध्यम से रूपायित हुई है, उसकी सृजनात्मकता के प्रवाह ने कौन-सा मार्ग अपनाया है, कहां-कहां उसने उच्च स्तरों को स्पर्श-किया है और वह वहाँ धूमिल हुई हैं, हिन्दी-साहित्य ने कौन-से सार्वभौम जीवन-मूल्य दिये हैं, उनमें किस प्रकार विकास हुआ है, साहित्य की सौन्दर्य चेतना किन रूपों और विधाओं में एवं कितनी सफलता से बही आदि अनेक दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य पर विचार करना शेष है। तब कहीं हिन्दी-साहित्य का सम्यक् इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके लिए अनेक प्रतिभाओं के मौलिक चिन्तन एवं सृजन की अपेक्षा है।

नई-दृष्टि

आधुनिक युग की साहित्य-चेतना पर प्रारम्भ से ही गहरा बाह्य प्रभाव रहा है और उस प्रभाव ने उस चेतना को शुरू से ही विकास-दिशा भी प्रदान की है। सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी साहित्य-चेतना तक के विकास-क्रम में भारतीय दृष्टि प्रमुख रही, किन्तु परवर्ती धारायें पश्चिम के प्रभाव से अधिक आक्रान्त हो गईं। स्वच्छन्दतावादी चेतना की मूल अन्तरात्मा यहां की संस्कृति एवं चिन्तनधारा के साथ पूर्ण सामंजस्य रखती रही। प्रसाद, पंत, वाजपेयी, द्विवेदी और डा० नगेन्द्र आदि का चिंतन भारतीय आधार-भूमि पर स्थित रहकर ही बाह्य प्रभावों को आत्मसात् करता रहा है और इस प्रकार वे एक ऐसे आधुनिक भारतीय साहित्य-दर्शन की उद्भावना में प्रवृत्त हुए जिसमें सार्वदेशिकता के बीज अन्तर्हित थे। अगर पश्चिम की तथाकथित वैज्ञानिकता एवं भौतिकवादी दृष्टि का हिन्दी के साहित्य-चिंतकों पर आक्रमण नहीं हुआ होता तो संभवत: हिन्दी एक अत्यन्त स्वस्थ एवं व्यापक साहित्य-दृष्टि को पनपा लेती। अब भी इस दिशा में प्रयास जारी है। पंत जी का साहित्य-चिंतन, अरविंद-दर्शन के मानवतावादी आधार को लेकर प्रगतिशील है। अन्य चिन्तक भी उस ओर बढ़ रहे हैं पर यथार्थवाद, भौतिकता एवं वैज्ञानिकता के पाश्चात्य दृष्टिकोणों से अभिभूत होकर हिन्दी के कतिपय चिंतक जिस दशा की ओर प्रवृत्त हुए उसके परिणामस्वरूप मार्क्सवाद और फ्रायडवाद हिन्दी के साहित्य-चिंतन पर हावी हो गया। हिन्दी का साहित्य-चिंतन इनकी साम्प्रदायिक एवं रूढ़िगत दृष्टियों में उलझकर रह गया। जिन परिस्थितियों

ने पश्चिम में फ्रायडवाद और मार्क्सवाद को जन्म दिया था, भारतीय जीवन में वे परिस्थितियां उस उग्र रूप में कभी नहीं आई थीं। सामंतवाद की प्रतिक्रिया एवं औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जिस पूंजीवाद की प्रतिष्ठा यूरोप में हुई, वह सामंतवाद, वह औद्योगिक क्रान्ति अथवा वह पूंजीवाद भारत में नहीं रहे। अन्तश्चेतनावादियों की अतृप्ति, कामवासना, हीनता-ग्रन्थि, आदि केवल पशुओं अथवा अत्यन्त निम्नस्तर की वासना-प्रधान संस्कृति के मानव व्यवहार की अन्त: प्रेरणा हो सकती है—मानवता की अत्यन्त उच्च आध्यात्मिक भूमियों तक पहुँची हुई भारतीय संस्कृति के मानव का व्यवहार उन प्रेरणाओं द्वारा परिचालित नहीं हो सकता। समाज और संस्कृति ने मानव के मानस को बहुत बदला है। अब उसका व्यवहार सहजवृत्तियों (Instincts) के द्वारा नियन्त्रित नहीं रहा है। भारत का मानव, शताब्दियों पूर्व ही, सहजवृत्तियों (Instincts) की प्रेरणाओं से ऊपर उठकर प्रेम और करुणा के उच्च स्थायीभावों द्वारा परिचालित होने लगा था। इस प्रकार ये दोनों सिद्धान्त भारतीय मन और बुद्धि की पूर्ण स्वीकृति नहीं पा सके, पर हिन्दी के कृति-साहित्य और समीक्षा-साहित्य—दोनों पर ये दोनों प्रवृत्तियां हावी अवश्य हो गई थीं। यही कारण है कि इनके द्वारा दी गई यथार्थवादी, भौतिकतावादी, समाजवादी एवं व्यक्तिवादी साहित्य-चेतनायें यहां की जमीन में गहरी जड़ें नहीं जमा सकीं। अन्तश्चेतनावादी धारा तो क्षीण होकर लुप्तप्राय: हो रही है। समाजवादी चेतना के अनुरूप कुछ उर्वर भूमि भारत में अवश्य रही है। इसलिये यह पनपी और इसने व्यापक तथा उदार प्रगतिशील साहित्य-चेतना को पुष्ट किया। प्रगतिवादी दृष्टि का एक उदार एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं से ऊपर उठा हुआ रूप भी हिन्दी में विकसित हुआ। इससे हिन्दी में ऐतिहासिक एवं समाजवादी समीक्षा-दृष्टि का स्वस्थ विकास भी हुआ और साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की एक वैज्ञानिक एवं सशक्त धारणा भी पुष्ट हुई। उसने मानवतावादी आधार भी अपनाया। यह दृष्टि स्वस्थ दिशाओं में नियंत्रित होती रहती, पर यह प्रवृत्ति भी रूढ़िगत हो गई और साहित्य के मुक्त, स्वच्छन्द एवं सहज स्वरूप को प्रश्रय नहीं दे सकी। साहित्य-मूल्य एवं साहित्य-सर्जन इसकी साम्प्रदायिक और सैद्धान्तिक मान्यताओं एवं रूढ़ियों में जकड़कर रह गए और साहित्य केवल इनके प्रचार का साधन भर हो गया। भारतीय जीवन-दर्शन से इन मूल्यों का सहज एवं गहरा सम्बन्ध तो कभी नहीं था। इनके अत्यधिक रूढ़िगत होने का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी क्षेत्र में साहित्य के सम्बन्ध में 'परम्परा और प्रयोग' समाज और साहित्य, साहित्य के मूल्य, स्थायी अथवा परिवर्तनशील आदि अनेक प्रश्न खड़े हो गये। हिन्दी की सभी धाराओं के चिंतकों ने इन प्रश्नों का समाधान

ढूंढने के प्रयास किये और उसके परिणामस्वरूप उनके पारस्परिक भेद भी कम हुए। एक सामूहिक सहयोग और सद्भावों का वातावरण-सा बना और कुछ रूढ़िगत जटिलताएं भी शिथिल हुईं। इसके परिणामस्वरूप नव-मार्क्सवाद में व्यक्ति तथा उसकी स्वतंत्रता एवं साहित्य के स्थायी मूल्यों की धारणा भी बनी। पर इस असन्तोष ने व्यक्ति की कुण्ठाओं तथा समाजवादी यथार्थ के साहित्य एवं उनके रूढ़ साहित्य-मूल्यों के विरुद्ध अनास्था को जन्म दिया। इस प्रतिक्रिया ने व्यक्ति, समाज और साहित्य के स्वस्थ सम्बंधों पर आधारित साहित्य-मूल्यों के विकास में सहयोग भी दिया है। पर इसी प्रतिक्रिया का एक स्वरूप पश्चिम के आधुनिकतम सिद्धान्तों मानवतावाद आदि का प्रश्रय लेकर आया है। वही 'नई समीक्षा' है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिकता एवं भौतिकता यूरोप के जीवन में व्याप्त हो गई थी। प्राचीन धार्मिक अंध-विश्वासों तथा रूढ़ियों से उसने मानव को मुक्ति दिला दी थी। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली। वह उसकी सुख-सुविधा का साधन बन गई। धार्मिक विश्वासों की तरह यह वज्ञानिक दृष्टि भी अपनी अतिवादी सीमाओं पर पहुंची। मानव ने निसर्ग का ही नहीं अपना तथा अन्य जीवों का भी उसी प्रकार वैज्ञानिक विश्लेषण किया और अन्त में वे भी जड़-जगत् के समकक्ष हो गये। इससे आपाततः तो यह प्रतीत होता था कि मानव ने जड़-जगत् पर विजय प्राप्त की है, पर वस्तुतः वह स्वयं ही पराजित हो रहा था; वह स्वयं जड़ बनता जा रहा था। यांत्रिक भौतिकवाद से वह यंत्रवत् चलने वाला भूत मात्र रह गया था। ऐतिहासिक भौतिकवाद भी उसे जड़ बनने से नहीं रोक सका। उससे भी व्यक्ति का अपनत्व समाप्त हो रहा था और वह समाज के समष्टि-यंत्र का एक पुर्जा मात्र रह गया। व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं अन्तरात्मा कुचल कर रह गई। समाज और व्यक्ति की विकास-दिशा किसी विशेष मतवाद के द्वारा निर्दिष्ट कर दी गई। फ्रायड आदि के यथार्थवाद ने मानव को एक प्रकार से पशु स्तर पर लाकर रख दिया। उसके नैतिक मूल्यों का विघटन हो गया। मार्क्सवाद में जीवन-मूल्य केवल सामयिक उपयोगिता के पर्याय मात्र रह गये। इससे वे स्थायी हैं अथवा केवल परिवर्तनशील जैसा प्रश्न उग्र होने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिकता और भौतिकता ने मानव को ही खतरे में डाल दिया। इन्हीं परिस्थितियों में यूरोप में भौतिकता क विरुद्ध मानववाद (Humanistic view) की प्रतिक्रिया जागी। प्रकृति की विशालता, सामाजिक नियमों की जटिलता, विज्ञान की विभीषिकाओं से 'लघुमानव' की भावना जाग गई थी। ये ही सब चिन्तन धाराये यूरोप में पिछले दशकों में पनपीं और उन्होंने नवीन साहित्य-चेतनाओं को जन्म दिया। प्रतीकवाद अतियथार्थवाद, नवमानवतावाद आदि इसी प्रतिक्रिया क परिणाम हैं।

भारत के जीवन में वैज्ञानिकता का यूरोप जैसा उग्र रूप तो कभी नहीं रहा। यहाँ पर जड़वाद, भोगवाद एवं वैज्ञानिकता का, यूरोप की तरह का ज्वार आज भी नहीं आया है। भारत में मानवीय मूल्यों का वैसा विघटन भी नहीं हुआ। पर विश्वव्यापी इन चिन्ताधाराओं से भारत असंपृक्त भी कैसे रह सकता था। दो विश्व-युद्धों के जन-जीवन के विनाशकारी एवं मानव-मूल्यों के विघटनकारी प्रभावों से भारत वंचित नहीं रहा। मार्क्सवादी और फ्रायडवादी विचारधारा ने यहाँ के जीवन और साहित्य की स्वच्छंद-धारा को भी जड़ काराओं में अवरुद्ध कर दिया। यहां के जीवन पर भी यथार्थवाद, प्रकृतवाद, समाजवादी यथार्थवाद का प्रभाव पड़ा था। उसमें भोगवाद एवं अर्थवादी मूल्यों का महत्व हो गया। भारत के जीवन में भी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का कुछ सीमा तक विघटन हुआ। पर यह भारतीय जीवन की सहज परिणति कम तथा बाह्य प्रभाव का आरोप—अधिक था। इस प्रकार विरोधी प्रतिक्रिया तथा उसका परिणाम ही नई समीक्षा के रूप में जगाने वाली चेतना यहाँ की परिस्थितियों के सहज प्रोद्भास के साथ ही यूरोप की चिन्ताधाराओं के प्रभाव की परिणति भी है। हाँ, हिन्दी की यह चिन्ताधारा छायावाद, रहस्यवाद, मार्क्सवाद एवं फ्रायडवाद के द्वारा उत्पन्न एक प्रकार के गतिरोध के विरुद्ध की प्रतिक्रिया का भी परिणाम है।

'नई कविता' अथवा नव-लेखन[1] तथा उसके मूल में रहने वाली साहित्य-चेतना तत्कालीन परिप्रेक्ष्य की सहज उपज है। 'नई कविता' के उन्नायकों का यह दावा बहुत सीमा तक ठीक भी कहा जा सकता है। 'छायावाद' महायुद्धों के द्वारा उत्पन्न कठोर संघर्ष चेतना को आत्मसात करने में असमर्थ-सा हो गया था। फैलती हुई मँहगाई, बेकारी, अनैतिकता, विघटित होती हुई जीवन-आस्था के चित्रण में छायावाद और रहस्यवाद सक्षम नहीं थे। उनके पास न तो इस विघटन के जीवन को अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य रही थी और न ही नैतिक संबल देने के लिये कुछ शेष बचा था। यही कारण है कि पंत आदि के आधुनिकतम काव्य एवं साहित्य-चिंतन ने नया-मोड़ लिया है तथा वे नये जीवन-मूल्यों की ओर अभिमुख हुए हैं। प्रगतिवाद में बदलते हुए यथार्थ को स्वर देने की क्षमता थी, पर वह विदेशी चिन्ता-धारा में बंध गया था। वह जीवन को विकास के सहज मार्ग की प्रेरणा न देकर मार्क्सवाद के द्वारा पूर्व निश्चित मार्ग पर ढकेलने की कृत्रिमता एवं

१.—रामस्वरूप चतुर्वेदी तो नवलेखन को नयी कविता के भी आगे की स्थिति मानना चाहते हैं।

रूढ़िवादिता से आक्रान्त हो गया था। अन्तश्चेतनावाद ने भी मानव के व्यक्तित्व को कुछ बंधी हुई कुण्ठाओं से नियंत्रित तथा पूर्व निश्चित दिशा में यंत्रवत् चलने वाला मान लिया था। इन सबमें मानव के सहज स्वरूप एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पूर्ण उपेक्षा हो रही थी। प्रयोगवाद इसी रूढ़िग्रस्तता से मुक्त होने की पूर्व पीठिका थी तथा नवलेखन उसी का व्यवस्थित प्रयास। इस सारे आन्दोलन की मूल आधारभूमि को नव-मानवतावाद कह सकते हैं। इसमें जनवादी परम्परा एवं समाज की सापेक्षता वाले व्यक्ति के स्वातंत्र्य की चेतनायें हैं। इस चिन्ताधारा के तत्वों का संघटन अमेरिका के नव-मानवतावाद, अति-यथार्थवाद, अस्तित्ववाद एवं अरविंद-दर्शन के अतिमानसवाद से हुआ है। इस नवीन चेतना के निर्माण में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद एवं अन्तश्चेतनावाद का भी योग रहा, पर यह उनके आगे की अवस्था है और बहुत कुछ उसके विरुद्ध प्रतिरोध का परिणाम ही अधिक कही जा सकती है। इन सभी के कुछ संस्कार हैं। इसका मानव वह मानव नहीं है जो विज्ञान के समक्ष आत्म-समर्पण करके भूत प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के भ्रम में स्वयं ही जड़ हो गया था और जड़ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के आवेश में स्वयं ही विजित होने एव जड़ हो जाने की विडम्बना सहने लगा था। यह किसी अलौकिक ईश्वरीय शक्ति पर अंध-विश्वास रखने वाला, उसी से परिचालित मानव भी नहीं है। रोमांसवादियों का 'महामानव' भी नहीं, जो आदर्श के कल्पना-लोक में विचरण करता हुआ अविवेक की सीमा को छूने वाली भावुकता में बह गया था। यह मार्क्सवाद का संकल्प-हीन मानव नहीं, जिसके समक्ष इतिहास के द्वारा पूर्वनिश्चित किसी विकास-मार्ग में बढ़ने वाले समाज के यंत्र का पूर्जा मात्र बनकर चलने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प ही नहीं और न उसमें अपना कोई संकल्प ही है। यह अवचेतन की दमित वासना या कुंठा के द्वारा परिचालित होने के अतिरिक्त विकल्प से रहित तथा चेतन के किसी भी संकल्प से शून्य मानव भी नहीं है। यह मानव वह है जिसमें अन्तरात्मा है, जिसमें अपने गौरव की निष्ठा है, जिसमें विवेक एवं संकल्प-शक्ति है, जिसके कारण वह अपना और अपने इतिहास का नियामक है। वह विशाल प्रकृति एवं समाज के शक्ति-शाली परिप्रेक्ष्य में 'लघु-मानव' की विवशता, नैराश्य आदि की यथार्थता को स्वीकार करता हुआ भी मानव-मूल्यों एवं उनकी गरिमा में आस्था नहीं खो बैठा है बल्कि उनकी प्रतिष्ठा के लिये सजग है। उसमें अपनी अन्तरात्मा, संवेदनशीलता तथा विवेक का विश्वास है। नव-मानवतावाद की इस चिंताधारा के उदय में आज के भारतीय जीवन की परिस्थितियां उत्तरदायी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। पर उसकी चेतना को देने का प्रधान श्रेय पश्चिम के

चिंतन को ही है। यह मानवतावादी दृष्टि भौतिकवाद की तरह अभारतीय नहीं, पर चिंतन की जिस पद्धति से हम इन निष्कर्षों पर पहुँच रहे हैं, और पहुंचे हैं, वे पाश्चात्य हैं। इस मान्यता के प्रति सजग होने वाले हिन्दी चिंतकों का पाश्चात्य साहित्य से जितना निकट का परिचय है उतना हमारे भारतीय चिंतन से नहीं, अन्यथा तो इस मानवतावाद की प्रतिष्ठा शुद्ध भारतीय आधार लेकर भी हो सकती थी। विश्व की जिन समस्याओं को सुलझाने के लिये, जिस crisis से बचने के लिये, इस नवमानवतावाद का प्रश्रय लिया जा रहा है, वह कार्य भारतीय मानवतावाद से अधिक सुचारू रूप से होता। उसमें अन्तरात्मा की अधिक सम्पन्न रूप में निष्ठा जागती। माना कि उसमें आध्यात्मिकता, नैतिकता, ईश्वरवादिता का बहिष्कार नहीं किया जा सकता था, पर इनको भूत बनाकर डरने की क्या बात है? भारत का धर्म यूरोप का 'रिलिजन' नहीं, यहाँ की आध्यात्मिकता वहाँ का 'स्प्रिच्युलिज्म' नहीं। भारत की ईश्वर सम्बन्धी धारणा भी भिन्न आधारों पर प्रतिष्ठित है। कर्म, ईश्वर, ब्रह्म, माया आदि के सिद्धान्त मानव के विवेक, अन्तरात्मा की संकल्प-शक्ति, अपने नियति के स्वयं नियामक आदि विचारों को पुष्ट आधार तो देते ही हैं, साथ में जागने वाले मिथ्या अहंकार की संभावनाओं पर भी नियंत्रण रखते हैं।

इस नवीन साहित्य-चेतना में कवि की सृजनात्मकता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। यह सृजनात्मकता का रूप छायावादी, फ्रायडवादी एवं मार्क्सवादी धारणाओं की रचनात्मकता से भिन्न है। इसके अनुसार कला मानवीय स्तर पर जगने वाली एवं सृजन में परिणत होने के लिये विवश कर देने वाली अन्तःप्रेरणा का परिणाम है। सृजन का यह क्षण इतना सहज एवं प्रबल होता है कि कला-सृष्टि अपने आप हो जाती है। कलाकार एक निर्वैयक्तिक रचना का माध्यम मात्र बन जाता है: "हमारे जाने बिना जब उन शक्तियों के कारण कला-कृति हमारे अन्तर्जगत में बन जाती है और प्रगट होने के लिये हमसे माध्यम मांगने लगती है .... किन्तु यह वही क्षण है जब कलाकार की सचेतन भावना उसकी अवचेतना को पीछे छोड़ कर कला-सृजन के सूत्र अपने हाथ में ले लेती है......उसे आकार देकर प्रेषणीय बनाना...... इसका साधन कलाकार अनिवार्यतः ढूंढता है।"... धर्मवीर भारती द्वारा उद्धृत ये शब्द नवीन चेतना के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं।[1] युंग की भी इससे कुछ मिलती जुलती धारणा है: "कला का सृजन करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो अपनी इच्छानुसार कला का उपयोग अपने लक्ष्य की

१— धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १६१

प्राप्ति के लिए करता है बल्कि अपने आशयों का साक्षात्कार अपने माध्यम से होने देता है।" यह सृजन (रोमांसवादियों की आत्माभिव्यक्ति की तरह) कलाकार के अहं की पुष्टि नहीं है। यह अन्तश्चेतनावादियों के कुण्ठाग्रस्त मानव की स्वप्न-सृष्टि नहीं है, और न ही मार्क्सवादियों के सामाजिक अहं की प्रतिकृति मात्र है। यह दैवीय शक्ति की प्रेरणा का परिणाम भी नहीं है। इसे हम वास्तव में अतियथार्थवाद के 'सुपरमैन' से अथवा अरविंद के अतिमानस से भी पूर्णतः सम्बद्ध नहीं मान सकते हैं। यह युग और समाज क परिप्रेक्ष्य में रहने वाले मानव के व्यक्तित्व (Personality) की अभिव्यक्ति है। वास्तव में यह अज्ञेय जी के शब्दों में कलाकार के व्यक्तित्व का बृहत्त इकाई में विलय है।[1] यह कलाकार के व्यक्तित्व का निर्वैयक्तिकरण है। सृजन की यह प्रक्रिया आत्म-तुष्टि या आत्म-रति की नहीं अपितु आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया है, कला उसी का साधन है। विलय की इस अवस्था तक आज का कवि नहीं पहुँच पाया है। यह उनका गतव्य है। स्वयं अज्ञेय जी अपने आपको इस पथ का पथिक भर मानते हैं।[2] पर यह विलय या निर्वैयक्तिकरण इस नई चेतना की मूल आधार-भूमि है। अन्तःप्रेरणा की सहज अभिव्यक्ति प्रेषणीय होकर कला-कृति बन जाती है। यह कलाकार के व्यक्तित्व (individuality) से ऊपर उठी हुई मानवीय स्तर की वस्तु है। कलाकार की व्यक्ति से भिन्न सत्ता है, पर उसके व्यक्ति के लौकिक संवेगों का उस मानवीय स्तर पर आकर काव्य के भाव बन जाना ही सृजन है। रचना कलाकार की मानवीय संवेदना या चेतना की अपने से इतर अर्थात् विषय के साथ परस्पर प्रतिक्रिया में जाग्रत वस्तु है।[3] युग के परिप्रेक्ष्य में निर्मित कलाकार के इस संवेदनशील व्यक्तित्व में जब मानवीय स्तर की यह रचनात्मक अन्तः प्रेरणा जागती है, उसी क्षण काव्य-सृष्टि होती हैं। परिस्थिति और अनुभूति के विरोध में अनुभावक की अनुभूति की सत्यता एवं प्रामाणिकता का आग्रह क्षण का आग्रह है। अस्तित्ववादी के अनुसार मृत्यु के साक्षात्कार के समय जीवन की तीव्रतम अनुभूति का जागना, जीवन के चरम आग्रह का जागना, उस क्षण का का सत्य है। ऐसे क्षण की अनुभूति प्रेषणीय बनकर काव्य कहलाती है। इस क्षण

१—काव्य-रचना का—किसी भी कला सृष्टि का अधिकार तभी प्रारम्भ होता है जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाय...कविता द्वारा कवि व्यक्ति को बृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है।—अज्ञेय- आत्मनेपद, पृ० ३३०

२—अज्ञेय-आत्मनेपद पृ० ३३-३४

३—अज्ञेय-आत्मने-पद पृ० १६५-१६६।

की अनुभूति ही कृति को जन्म देती है। इसी अनुभूति में अनुभावक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने निजी संवेगों को मानवीय स्तर के भावों में परिणत करता है। शेष जिनमें परिस्थिति का आग्रह अनुभूति की अपेक्षा प्रबल है, वे सब अनुकृति मात्र हैं। उनमें कलाकार का निजत्व नहीं है। कलाकार की अपनी अनुभूति काव्य की वस्तु है और परिस्थिति का चित्रण विषय के अन्तर्गत कला के कृतित्त्व अथवा अनुकृतित्त्व वस्तु-स्वरूप पर निर्भर करता है, विषय पर नहीं। कृति और अनुकृति को पहचानना ही 'नई समीक्षा' है। मानव के उपर्युक्त विवेकी स्वरूप तथा इस क्षण की अनुकृति में निष्ठा रखने वाला कलाकार ही आज के वर्तमान का युग-बोध दे सकता है। यही आधुनिकता है, इस आधुनिकता में विश्वास भी साहित्य की नई चेतना का एक प्रधान तत्त्व है। इस आधुनिकता का बोध ही इनकी दृष्टि से वास्तव में यथार्थवाद है। इस आधुनिकता का बोध देने वाली कृति ही भविष्यत् प्रेरणा भी दे सकती है। वर्तमान का बोध एवं भविष्यत् की प्रेरणा पर भी कृति एवं अनुकृति का अन्तर आधारित है। कृति की सफलता का यह भी एक मानदण्ड है।

कला की स्वतः सृष्टि, कलाकार की कला-सृजन के माध्यम बन जाने में सचेतनता एवं सजगता कलाकार के व्यक्तित्व का निर्वैयक्तिकरण कलाकार की उसके व्यक्तित्त्व से भिन्न सत्ता, व्यक्ति के सवेगों की लोक के भावों में परिणति, उनकी प्रेषणीयता आदि के कई महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्त आज की नई समीक्षा की आधारभूत मान्यतायें हैं। हिन्दी समीक्षा की ये उपलब्धियां हैं। इन सिद्धान्तों में बहुत से हमारे प्राचीन भारतीय साहित्य-चितन की उपलब्धियों के आधुनिक रूपान्तर मात्र हैं। निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त साधारणीकरण एवं उसी के एक निजमोहसंकटापन्नता से युक्ति का पाश्चात्य संस्करण है। कला की स्वतः सृष्टि, कलाकार की भिन्न सत्ता आदि के सिद्धान्त भी अपने भिन्न आवरणों में भारतीय साहित्य चिन्तन को मान्य थे। पर हिन्दी की 'नई समीक्षा' को इनके पाश्चात्य संस्करण ही मिले हैं : यही कारण है कि पाश्चात्य चिंतक इसके उपजीव्य ही हैं। आई० ए० रिचर्डस, टी० एस० इलियट, आदि साहित्य-चिंतकों की विचार-धारा का इस समीक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन सिद्धान्तों के स्वरूप को उन्हीं की मान्यताओं में स्पष्ट करना अधिक समीचीन है।

व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति ही कला है। यह हिन्दी के छायावादियों, बाद के रोमान्सवादियों तथा पश्चिम के रोमाण्टिकों की एकमात्र धारणा थी। इसने एक प्रतिवादी रूप धारण किया और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को मान्यता मिली। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नई-समीक्षा का यह एक प्रधान तत्त्व है और इसकी प्रेरणा

पश्चिम से मिली है, अतः इसका स्वरूप भी उन्हीं के चिन्तन के आलोक में ही पूर्णतः स्पष्ट हो सकता है। आई० ए० रिचर्ड्स तथा टी० एस० इलियट —दोनों ने ही अपने ढंग से इसका स्वरूप स्पष्ट किया है। इलियट ने रचनाकार के संवेग-अभिभूत व्यक्तित्व के आत्म-समर्पण को कला-सृजन के लिये आवश्यक माना है। **कलाकार की प्रगति का मानदण्ड ही उसके** निरन्तर आत्म-त्याग एवं व्यक्तित्व का **विलय ही है।**[1] कलाकार के व्यक्तित्व का महत्तर व्यक्तित्व में विलय ही वास्तव में निर्वैयक्तिकता की स्थिति है, यही निर्वैयक्तिकता कला की मूल प्रेरणा है। व्यक्तिगत संवेगों की अन्विति को इलियट ने महत्त्व दिया है। वह वास्तव में निर्वैयक्तिकता ही है। रिचर्ड्स की मान्यता है कि कलाकार अपने क्षणिक, अजनबी और व्यक्तिगत संवेगों को दबाकर एक महत्तर व्यक्तित्व को (अर्थात् निर्वैयक्तिकता को) पाने की चेष्टा करता है।[2] कला का संघटन उसके विषय से नहीं अपितु उस विषय के प्रति जाग्रत भावात्मक प्रतिक्रिया से होता है। उसी को अज्ञेय जी काव्य-वस्तु कहते हैं। इस काव्य-वस्तु की प्राप्ति के लिये कलाकार को अपने संवेगों से तटस्थ रहकर सामंजस्य-पूर्ण रूप-विधान करना होता है। यह तटस्थता निर्वैयक्तिकता है। काव्य की अनुभूति—भाव अथवा दृष्टि, कवि हृदय की अनुभूति, भाव एवं दृष्टि से भिन्न होते हैं।[3] रिचर्ड्स ने कला जगत् को सामान्य जगत् से नितान्त विच्छिन्न एवं विशेष तो नहीं माना है, पर फिर भी इलियट और रिचर्ड्स —दोनों ही इसमें एकमत हैं कि कविता के भावों का साधारण जीवन के भावों से कुछ विशिष्ट

1. What happens in a continuous surrender of himself as he is at the moment to something which is more valueable. The progress of an artist is a continual self serrifice a continual extingual of personlity. T. S Eliot-Selected Essays P. 17
2. What we find the artist struggling towards imprersonality, towards structure of his work, which excludes his private eccentric momentary rdo syncrancies and using always as its basis those elements which are most uniform in their effect upon impulses. I. A. Richards—Principles of Criticism. P. 27.
3. ......The feelingg or emotion are vision resulting from poetry is something different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet.

T. S. Eliot--Sacredwood, Introduction.

अर्थ होता है ।[1] काव्यानंद भी मानव को व्यक्तिगत सम्बन्धों से ऊपर किसी व्यापक भाव-भूमि पर ले जाता है। काव्य-सृजन के लिये अतिशय भावुकता की अपेक्षा का, नई समीक्षा के चिन्तक तथा इलियट—दोनों ही खण्डन करते हैं। पर इलियट ने श्रेष्ठ कवियों के लिये अपने आन्तरिक संवेदनों से मुक्ति पाकर बुद्धि द्वारा उनको लय देना आवश्यक माना है। इससे कवि का सीमित 'स्व' निर्मूल्य होकर व्यापक समष्टि में मिल जाता है। फिर भी कवि का व्यक्तित्व उपेक्षणीय नहीं है। कवि का व्यक्तित्व निर्लिप्त रहता हुआ भी संवेगों और भावों में अपने व्यक्तित्व को मिलाकर नई सृष्टि करता है, यही कला है। कवि अपने व्यक्तिगत एवं निजी दृष्टि-विषाद को समष्टिगत एवं निर्वैयक्तिक बना देता है।[2] इस निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के साथ ही इस नयी चिंता-धारा में कला को कुछ अर्थों में समाज-निरपेक्ष भी माना गया है। मार्क्सवादी की तरह इनको यह मान्य नहीं है कि कला सामाजिक अहं की अभिव्यक्ति है। व्यक्तित्व का समष्टि में विलय का तात्पर्य सामाजिक अहं की प्राप्ति नहीं है।

साहित्य में मूल्य के प्रश्न पर इस धारा में अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है। इस प्रश्न से इस चेतना का सूत्रपात मानना भी समीचीन नहीं है। साहित्य के मूल्य स्थायी हैं अथवा परिवर्तनशील ? इन मूल्यों का जीवन-मूल्यों से क्या सम्बन्ध है ? साहित्यकार किसके प्रति उत्तरदायी है ? आदि अनेक प्रश्न इस चेतना के समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इन्हीं प्रश्नों पर हुए परिसंवादों, परिचर्चाओं एवं विचार-मंथन से आज जो साहित्य-चेतना स्वरूप धारण कर रही है, उसका एक रूप 'नई समीक्षा' है। इन परिचर्चाओं आदि से वह हिन्दी-समीक्षा एवं समन्वयवादी साहित्य-दृष्टि का विकास कर रही हैं। मार्क्सवाद ने जीवन और साहित्य के स्थायी मूल्य नहीं माने थे। पर समाजवादी यथार्थवाद एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा पूर्व निश्चित मूल्य वस्तुतः स्थायी ही नहीं, अपितु रूढ़ एवं जड़ भी हैं। यही बात अन्तश्चेतनावादियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पर इस नूतन चेतना में मूल्यों का आधार नव-मानवतावाद है। मानवता शाश्वत होते हुए भी चिरगतिशील

1. The effect of work of art upon the person who enjoys it is an experience different in kind from any experience of art.

   T. S. Eliot-Selected Essays, P. 18.

2. Which alone constitutes life for a poet--to transmute his personal and private agonies into something rich and strange, something universal and impersonal.

   Ibid, P. 137

एवं विकासमान है । इसे ये चिंतक परिवर्तनशील नहीं कहना चाहते, क्योंकि 'परिवर्तन' में नवीन आधार-भूमि पर पहुँच जाने की कल्पना है। मानव का मूल स्वरूप गतिशील है । पर वह नितान्त नवीन रूप धारण नहीं करता, अतः उसका एक शाश्वत स्वरूप भी है । मानवीय अन्तरात्मा एवं विवेक, गतिशील मूल्यों की शाश्वत कसौटी है। इसलिये मानवीय मूल्य गतिशील होते हुए भी स्थायी हैं। इन मार्क्सवादी एवं अन्तश्चेतनावादी जीवन-दृष्टियों के प्रतिरोध में जागी हुई मानवतावादी भावना ही इसकी मूल भित्ति है । इन चिंतकों को मार्क्सवाद एवं अन्तश्चेतनावादियों के पास सर्वांगीण जीवन-दर्शन का अभाव प्रतीत होता है। यही कारण है कि युद्धों और वैज्ञानिकता ने जो स्थिति पैदा कर दी है उसमें 'मानव' की संरक्षा का उसके पास कोई साधन नहीं है। मानव के विवेक एवं अपनी नियति के नियामक होने में पूर्ण विश्वास पैदा करने से ही वास्तव में मानव संरक्षा सम्भव है । इस नवमानवतावाद का उद्देश्य मानव-विशिष्टता की क्रियाशीलता को नई शक्ति एवं नई निष्ठा प्रदान करना हैं। इससे समाज की सापेक्षता में व्यक्ति एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। आज मानव को वाहय आडम्बरों से उन्मुख होकर अपने, स्वयं के, प्रति आत्म-विश्वास पैदा करना है तथा यथार्थ वस्तु-स्थितियों का साक्षात्कार करना है । यथार्थ मानव को वह मानवीय स्तर प्रदान करना है जिससे आज के मानव, लघुमानव में अधिक से अधिक आत्म-विश्वास पैदा हो सके तथा उसकी नई सम्भावनाओं को आंका जा सके । आज के साहित्य को यही करना है । इस यथार्थ की अनुभूति को जगाना ही उसका वास्तविक प्रयोजन है आज के साहित्य को भाव-बोध के उस स्तर को प्रश्रय देना है जो मानव का मनोरंजन मात्र नहीं करता अपितु उसको जीवन की यथार्थता का अनुभव करने की क्षमता, सक्रियता एवं बल देता है। आज के साहित्य को चमत्कार और वक्रोक्ति की भाषा नहीं, अपितु जीवन की भाषा अपनानी है।[1] धर्मवीर भारती ने साहित्य की मर्यादा प्रगति मानी है और प्रगति की कसौटी मनुष्य।[2] सृजन के वास्तविक क्षण वे ही हैं जिनमें मानव आत्मोपलब्धि करता है। वे ही क्षण अर्थवान् हैं। इस आत्मोपलब्धि का तात्पर्य आधुनिकता एवं सम-सामयिक जीवन की विद्रूपता, कटुता एवं आन्तरिक विरोध से जनित संवेदना की अनुभूति करना ही नहीं है, इसके साथ ही अपने इतिहास के निर्माता और अपनी नियति के अधिनायक बन सकने का विवेक एवं संकल्प-शक्ति से पूर्ण मानव के गौरव में विश्वास

१—लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २८०

२—आलोचना, अंक १०

भी है। ऐसे मानव की प्रतिष्ठा ही वास्तव में साहित्य का स्थायी मूल्य है जो परिवेश के अनुकूल गतिशील हैं। आज मानवता की पुनः प्रतिष्ठा, उसके लिये व्यक्ति की अनिवार्यता तथा मानव की मुक्ति ही साहित्य का साध्य है। मानव को बाहरी नियंत्रणों से, समाज की रूढ़िकुंठा आदि से मुक्ति साध्य है, पूर्ण दायित्वहीनता नहीं। उसमें आन्तरिक दायित्व जगाना है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि ने पीड़ा को ही इस आन्तरिकता को जगाने में सक्षम माना है। इसी से आज के विघटन की निवृत्ति तथा व्यक्ति और समाज के मूल्यों में समन्वय सम्भव है। "जो आन्तरिकता इस विघटन का परिहार कर ऐसी नयी भाव-भूमि का सृजन कर सके जिसमें व्यक्ति और समाज के कृत्रिम विरोध का परिशमन हो"।[1] इस नूतन मानवतावादी दृष्टि के अनुसार कलाकार किसी बाहरी रूढ़ि, परम्परा, समाज, राजनीति, धर्म अथवा सम्प्रदाय के प्रति उत्तरदायी नहीं है, उसे अपने प्रति, सहज मानवीय मूल्यों के प्रति, अपनी सृजनात्मकता के प्रति उत्तरदायी होना है। यही कलाकार की अपनी अन्तरात्मा, जो आधुनिक संदर्भ में मानवीय गौरव के प्रति जागरूक संवेदना हैं उसके प्रति, अपनी ही आन्तरिकता के प्रति उत्तरदायी होना है। मनुष्य के विवेक नियामक संकल्प एवं गौरव में विश्वास, आत्मान्वेषण तथा आत्मोपलब्धि की निष्ठा, आधुनिकता, समसामयिकता मानव-मूल्यों के विघटन एवं अन्तर्विरोधों का बोध, उस क्षण की यथार्थता की संवेदना एवं पीड़ा का माध्यम आदि कतिपय मान्यताएं इस मानवतावादी दृष्टि के सहज निष्कर्ष हैं। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि के प्रतिपादन से ये ही तत्त्व नयी कविता के मानदण्ड माने जा सकते हैं। इनमें उनके द्वारा मान्य साहित्य के स्थायी मूल्यों का अन्तर्भाव भी है। इसी मानवतावादी दृष्टि के साथ नैतिकता, सौन्दर्य-बोध एवं सांस्कृतिक-बोध के प्रत्यय भी जुड़े हुए हैं। नैतिकता का कोई रूढ़ एवं बाह्यारोपित मानदण्ड इन्हें मान्य नहीं। किसी विशेष सम्प्रदाय, राज-नीतिक विचार-धारा या अर्थ-दर्शन के द्वारा निर्दिष्ट आचरण के नियमों से नीति नियंत्रित नहीं है। इसका नियामक, जीवन का यथार्थ है, मानवीय संवेदना है। "कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यन्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिये···मानवीय सवेदना तो सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है ही।[2] यह नैतिक मूल्य समाज निरपेक्ष नहीं है। समाज और जीवन के परिवेश में ही व्यक्ति-मूल्यों को स्वीकृति मिली है। पर इस चेतना का चिंतक सामाजिक परिवेश के साथ बदलने वाले समाज-मूल्यों का नहीं, गहरे मानवीय मूल्यों का अन्वेषक है। ये नैतिक मूल्य तथा

१—धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य पृ० १७९
२—अज्ञेय : समालोचना और नैतिक मान, आलोचना अंक ६

कला-मूल्य उतने ही शाश्वत हैं जितना यह बुद्धि-सम्पन्न का मानव।[1]

इनका सौन्दर्य-बोध भी यथार्थ पर ही आधारित है। एक तरफ यह छायावाद और रोमांसवाद के आदर्श और कल्पना के सौन्दर्य से भिन्न है तो दूसरी तरफ केवल सामाजिक उपयोगितावाद भी नहीं है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने छायावादी सौन्दर्य-बोध को 'शिशु की जिज्ञासा' कहा है।[2] वर्मा जी की दृष्टि में छायावादी सौन्दर्य-बोध केवल चमत्कारहीनता है; केवल आश्चर्यचकित होना जानता है, 'वह' केवल विचित्रता का कायल है, उसमें निष्क्रियता है, भोग रूप की क्षमता नहीं है। वास्तव में वर्मा जी तथा अन्य नये चिंतकों के ऐसे विवेचन छायावादी सौन्दर्य को एकांगी दृष्टि तथा पूर्वाग्रह से देखने के परिणाम हैं। उन्होंने छायावाद की उस भावभूमि का स्पर्श ही नहीं किया है जहां अन्तर्विरोधों का सामंजस्य मंगल एवं सौन्दर्य में परिणत हो जाता है। वे 'तुमुल कोलाहल कलह में, 'मैं हृदय की बात रे मन' के मंगलमय सौन्दर्य में तन्मय नहीं हो पाये। कमल है तो कीचड़ भी है, यह ठीक है। पर इनकी एक साथ स्थिति की यथार्थता की अनुभूति में ही सौन्दर्य नहीं है, अपितु उनके पारस्परिक कार्य-कारण भाव सम्बन्ध में, इन विरोधों के द्वारा व्यक्त होने वाली अखण्ड जीवन सत्ता में भी सौन्दर्य है। यह वह अखण्डता है जो इनकी स्थिति को सुन्दर बना देती है। कमल छायावाद के सौन्दर्य का प्रतीक है, कैक्टस नई चेतना का, पर इनके मूल में रहने वाली भी तो एक सौन्दर्य-चेतना है जिसके कारण ये दोनों सुन्दर हैं। इन्द्रियगोचर एवं विज्ञान से सिद्ध होने वाला यथार्थ ह सत्य नहीं है। जो भावना के राज्य में है, बुद्धि से परे है, वह भी सत्य है और सुन्दर है। भावुकता एक सत्य नहीं, पर जीवन का एक मूल्य अवश्य है। अतः उसका सौन्दर्य भी सौन्दर्य ही है। पर नयी समीक्षा के चिन्तकों ने यथार्थ की संवेदना में, अन्तर्विरोधों के अस्तित्व में सौन्दर्य देखा है। रूप को उतना ही बड़ा सत्य माना है जितना विरूप को।[3] गांधारी के पुत्र-शोक एवं उसकी क्षुधा—दोनों में, आपाततः प्रतीयमान अन्तर्विरोधों के मूल में जीवन के यथार्थ का अनुभव, उसकी मानवीयता का साक्षात्कार, इस सौंदर्य-बोध का स्वरूप है। यही नयी कविता का भाव बोध है। इस सौंदर्य-बोध को अज्ञेय जी बुद्धि का व्यापार मानते हैं। उसका नैतिकता से विरोध भी नहीं मानते। जो सुन्दर है, वह शिवेतर नहीं हो सकता। इस प्रकार सौंदर्य-मूल्यों और नैतिक मूल्यों में अन्तर्विरोध नहीं है। अज्ञेय जी ने उच्चकोटि के

१—आलोचना अंक ६, पृ० १३०

२—लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ०१८

३—वही : वही-'सौन्दर्य-बोध के नए तत्व'

सौंदर्य-बोध एवं नैतिक मूल्यों की कृति साहित्यकार में एक ही साथ स्थिति मानी है। फलत: वास्तव में सौंदर्य-बोध और नैतिक-बोध का मानवीय स्तर पर सामंजस्य ही इन चिंतकों को अभीप्सित है।

द्वितीय महायुद्ध तथा स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन में प्राचीन मूल्यों का विघटन हुआ है। परम्परागत मूल्यों के प्रति वह पुरानी आस्था नहीं रह गई है। धर्म, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के प्रति वह पुरानी निष्ठा समाप्त प्राय: सी प्रतीत हो रही है। धूमिल तो निश्चित रूप से हो ही गयी है। यह मूल्यों के विघटन और संक्रमण का संक्रान्ति काल है। जीवन की परिस्थितियां इस विघटन एवं संक्रमण के लिये जितनी उत्तरदायी हैं, उससे कहीं अधिक उत्तरदायी पश्चिमी प्रभाव तथा तज्जनित अद्यतन साहित्य है। मूल्यों के इस विघटन को चेतना देना इस नयी समीक्षा की एक उपलब्धि है। पुराने मूल्य विघटित हो रहे हैं पर नये मूल्यों की स्थापना हो रही है, यह नहीं कहा जा सकता है। पर एक विचार-धारा अवश्य बन रही है। इस समय इसके मघटक तत्व पाश्चात्य अधिक हैं। आज के नवमानवतावाद का मूल स्वर ही पाश्चात्य है। अस्तित्ववाद के प्रभावस्वरूप जीवन में व्यक्ति एवं व्यक्ति की अस्मिता का महत्व बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति समाज-निरपेक्ष तो नहीं, पर उसमें अपने अस्तित्व को बनाये रखने की चेतना अधिक है। उसमें एक तरफ अपने अधिकार, शक्ति और भोग की आकांक्षा बढ़ रही है, पर दूसरी तरफ अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रति सजगता उसे दूसरों के अस्तित्व के प्रति आदर का भाव भी दे रही है। इससे स्पष्ट है कि मूल्यों के इस अन्तर्विरोध के मूल में संक्रमण है। यह मानवतावादी दृष्टि लौकिकता और यथार्थता पर टिकी है। वह मात्र धरती का मानव है, उसकी क्रियाओं की नियामिका कोई ईश्वरीय या अलौकिक शक्ति नहीं है। शेष सृष्टि के क्रिया-व्यापार, उसका अपना विवेक एवं संवेदनशीलता ही उसकी क्रियाओं एवं नियति के नियामक हैं। उसका अस्तित्व तथा उसके अस्तित्व की संरक्षा अपने परिप्रेक्ष्य एवं सम्पूर्ण मानवता पर आधारित है। अत: आज का मानव सक्रिय रूप से बौद्धिकता तथा संवेदनशीलता में अखिल मानवता से प्रतिबद्ध है। उसमें आज के जीवन की यथार्थता की कटुता है। आज की गांधारी के पुत्र-शोक तथा क्षुधा-तृप्ति के अन्तर्विरोध में जीवन के यथार्थ की विवशता एव अनुभूति की कटुता है। पर महाभारत में कृष्ण के व्यंग ने धर्माधर्म नियति,जीवन की सुनिश्चित परिणति आदि के सिद्धान्तों पर आधारित जीवन के महत्तर अर्थ वाले दर्शन को ध्वनित किया है। उसमें जीवन के शाश्वत मंगल के मूल्य अन्तर्हित हैं। उस मानवतावादी दृष्टि को आज का युग नहीं अपना पा रहा है, क्योंकि आज का चिंतन भारतीय परम्परा की

बहुत कुछ उपेक्षा करके आगे बढ़ रहा है। 'नई-समीक्षा' की मानवतावादी दृष्टि में मानव के त्याग, संयम एवं सहज तथा उच्च नैतिक आदर्शों वाले द्विवेदी जी के मानव में भी विश्वास नहीं रह गया है। वह नितान्त लौकिक स्तर की वासना और बुद्धि का प्राणी मात्र रह गया है। जो जैसा है उसके उसी रूप में मानवीय संवेदना से ग्रहण करना आज का मानवतावाद है, पर द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि में तो जो जैसा होना चाहिए उसके लिए प्रयास करना भी मानवता है: "लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है। पर औदार्य, पर-दुःख संवेदन उसमें नहीं होते, न यह मनुष्य की अपनी विशेषता है, यही मनुष्य की मनुष्यता है। ...विवेक, कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध आने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं हैं।"[1]

अभी नई-समीक्षा मूल्यगत संक्रमण की बात कर पा रही है। अभी उसके पास सर्वांगीण जीवन-दर्शन नहीं है। उसे मानवतावादी जीवन-दर्शन देना है, पर भारतीय आध्यात्मिकतावादी दृष्टि की नितान्त उपेक्षा-विज्ञान के समक्ष विघटित होते हुए मानव की संरक्षा में उसे सक्षम नहीं होने देगी। मानव के सामयिक एवं शाश्वत मंगल की कसौटी का एक तत्व विवेक से गृहीत आध्यात्मिकता भी होती है।

नवमानवतावाद का मानव, धर्म की उच्च भूमियों के मानव एवं द्विवेदी जी के नैतिक मानव से भिन्न है। वह रोमांसवाद के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के जीवन-दर्शन में आस्था तथा महामानव की कल्पना में विश्वास रखने वाला मानव नहीं है। उसकी अन्तश्चेतनावादी के 'केसहिस्ट्री'-रूप और मार्क्सवाद के कामरेड से भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट है। वह मात्र धरती का मानव है, उसमें अपनी अस्मिता है, अपने विवेक पर विश्वास है और अपनी अन्तरात्मा में निष्ठा है। वह लौकिक मानव की संवेदनशीलता से पूर्ण तथा 'लघुमानव' की संकोच-रहित स्वीकृति वाला है। उसे 'लघु-मानव' की प्रतिष्ठा में आस्था है। वह आज की विशृंखलता, घुटन एवं अन्तर्विरोध की बौद्धिक संवेदनशीलता में सक्षम मानव है। मानव की भारतीय कल्पना में उपर्युक्त सभी प्रकार के मानवों के अन्तर्भाव तथा धरती एवं स्वर्ग के मानव में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता है। पर अभी हिन्दी की मानवतावादी चेतना पाश्चात्य प्रभाव से आक्रान्त है।

आधुनिकता भी आज के साहित्य की परख का एक मानदण्ड है। पर इसके वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में इन चिन्तकों में ही पारस्परिक कुछ मतभेद है। कुछ तो इसको समसामयिकता के अर्थ में ग्रहण करते हैं। पर यह तो प्रत्येक युग के

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी—साहित्य का मर्म, पृ० ६८

साहित्य का तत्व ही नहीं अपितु एक प्रकार से मानदण्ड भी होता है। लेकिन आज के संदर्भ में इस शब्द का कुछ अधिक आन्तरिक एवं 'मूल्यगत भाव' के अर्थ में ही ग्रहण होता है। यह एक प्रकार से एक विशेष जीवन-दृष्टि का द्योतक बन गया है। इस जीवन-दृष्टि का मूल आधारभूत सिद्धान्त नवमानवतावाद है। अपने समाज, प्रकृति एवं सम्पूर्ण मानवता के संदर्भ की सापेक्षता में रहने वाला, छायावाद का स्वतंत्र व्यक्ति, अन्तश्चेतना के 'केस-हिस्ट्री' तथा 'कामरेड' से भिन्न—पर नितान्त-अकेले रहने की इच्छा वाले मानव की विवेक सम्मत सहज संवेदनशीलता का बोध आधुनिकता का बोध है। गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में "आधुनिकता परिवर्तित भाव-बोध की वह स्थिति है जिसका प्रादुर्भाव यांत्रिक तथा वैज्ञानिक विकास-क्रम के वर्तमान बिन्दु पर जाकर हुआ है।"[1] इसके उपरान्त उन्होंने इसके स्पष्टीकरण में आज की परिस्थिति एवं नये भाव-बोधों के उदाहरण दिये हैं जिनसे वर्तमान बिन्दु का बोध जागता है। संसार में सामूहिक आत्म-हत्या के भय की उत्पत्ति, मानवीय भाव-बोध को पहुँचे गहरे आघात, परम्परागत मान्यताओं के बह जाने, सुदृढ़ आस्थाओं के स्थान पर आकंठ अवसाद, संशय, क्षोभ, विडम्बना आदि से आक्रांत मानव-मन, जीवन पद्धति तथा विचारों में तनाव-उद्विग्नता आदि के वातावरण की समस्याएं, आत्मनिष्ठ दृष्टियों एवं असंपृक्तता के विकास आदि का संवेदन ही वास्तव में आधुनिकता का बोध है। 'नयी कविता' के ये ही भाव-बोध हैं। इन भावों का चित्रण आज की कविता की सार्थकता है। आधुनिक बोध का व्यक्तिगत बोध, आत्मलघुता का बोध, अनास्था का बोध, प्रेम की पूर्णता पर न पहुंचने और खिचाव बने रहने के बोध आदि को कई अर्थों में इन चिंतकों ने प्रयोग किया है। इनमें एक पूर्ण सत्य नहीं है, पर इन सभी के अन्तस्तल में एक विचार-धारा है, वही वास्तव में आधुनिकता की प्रतीक है। उसका स्वरूप ऊपर के विवेचन में कुछ स्पष्ट हुआ है। यह आधुनिकता-बोध भावुकता से गृहीत अनुभूति नहीं अपितु बुद्धि से साक्षात्कृत अनुभव है। यह विशेष परिप्रेक्ष एवं संदर्भ में एक क्षण की अनुभूति है। इन चिन्तकों की दृष्टि में यह क्षण की अनुभूति ही कला बन जाती है, और एक प्रकार से स्थायी हो जाती है। यहीं इस चिन्तन पर 'प्रभाववाद' का प्रभाव है।

नयी-कविता के संदर्भ में 'रस' के मूल्यत्व की अनिवार्यता का खण्डन हुआ है। इसके खंडन में जो तर्क इन चिन्तकों ने प्रस्तुत किये हैं उनका संक्षिप्त विश्लेषण नगेन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ 'रस-मीमांसा' में किया है। इनके द्वारा रस पर किये गए

१—हिन्दी वार्षिकी, १९६१

अपर्याप्तता के आक्षेप निम्नलिखित हैं—

(१) नई-कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है जबकि रस का आधार समाहिति और अद्वन्द्व है।

(२) नयी-कविता का विषय क्षण की अनुभूति है और रस का आधार जन्मान्तर्गत वासना और स्थायी भाव है।

(३) रसानुभूति में अव्यक्तिगत भावना का आस्वादन सम्भव है, किन्तु आज की कविता का संवेद्य अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है जिसे रसानुभूति के समकक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है। रसानुभूति में व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक है, किन्तु सह-अनुभूति का आस्वादन व्यक्ति-चेतना के साथ ही हो सकता है। आत्म-विलयन की दृष्टि से रसानुभूति उत्कृष्टतर है जबकि मानवीयता की दृष्टि से सह-अनुभूति।

(४) नयी-कविता की अनुभूति निरानंदमयी है। कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों से हमें सहला देती है।

(५) नयी कविता का मूल स्वर बौद्धिक है, रागात्मक नहीं।

(६) रसवादी कविता के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण नयी-कविता में नहीं मिलते, यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त छंद, गेयता आदि से सजाने-संवारने से उसकी सहजता नष्ट हो जाती है।

ऊपर नयी-कविता की दृष्टि से रस की अपर्याप्तता सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये गए हैं उन्हें नगेन्द्र जी ने तर्क-जाल कहा है। यह वास्तव में समीचीन है। इसमें न रस को पूरी तरह समझा गया है, न नयी कविता को ही। नयी कविता को नयी सिद्ध करने का आग्रह अपनी सीमाओं का उल्लघन कर गया है। वह कुछ अर्थों में कारण-कार्य युग-बोध के नये भाव-बोध, अभिव्यंजनापक्ष आदि की दृष्टि से नयी है अर्थात् छायावादी, प्रगतिवादी रचनाओं से भिन्न है—इसमें कोई संदेह नहीं है। पर नयी-कविता, कविता ही न हो, काव्य के व्यापक मानदण्डों से नितान्त मुक्त हो, ऐसा नयी कविता के कवियों के वक्तव्यों से भले ही प्रकट हो जाय, पर वास्तव में जो नयी कविता है उसकी अनुभूति से नहीं। वह भी अन्य कविताओं की तरह 'सहृदयश्लाघ्य' है। 'अन्धा-युग' 'द्वार के आरपार' और 'संशय की रात', आदि इसके प्रमाण हैं, यद्यपि अपने आपको पूर्ववर्ती दशकों की सम्प्रदाय-वादी मान्यताओं के आग्रहों में पूर्णतः बांधने वाला पाठक इसका सहृदय नहीं हो सकता, देश, काल एवं विचार-धारा के अनुकूल सहृदय के स्वरूप भी बदलते हैं। आचार्य वाजपेयी जी ने 'नयी कविता' के स्वरों को नये चिंतन की अपेक्षा अधिक भारतीय

माना है।[1] नयी कविता में द्वन्द्व, असामंजस्य, अन्तर्विरोध, जीवन की कटुता आदि की अनुभूति है। पर मूल प्रश्न यह है कि यह 'नयी कविता' उसके जीवन-दर्शन का प्राप्तव्य है अथवा प्राप्तव्य का साधन मात्र ? अस्तित्ववादी क्या मानव को— आधुनिक मानव को ही सही--यह द्वन्द्व, असामंजस्य, संन्यास आदि किसी सामंजस्यपूर्ण मानवता पर पहुंचने की कचोट पैदा करने के लिये देता है या ये ही उसकी दृष्टि से मानवता के लक्ष्य हैं। अगर इन्हें केवल सामयिक अनुभूति नहीं मानवता का लक्ष्य ही मान लिया जाय तब तो आज मानव अपने लक्ष्य पर पहुँच गया है। अब विकास और गतिशीलता नहीं रहने चाहिएँ। गन्तव्य के बिना गतिशीलता क्या ? अगर गतिशीलता स्वरूप ही है तब भी द्वन्द्व आदि उसकी गति के एक 'फेज' (phase) हैं। उस फेज से अभिव्यक्त होने वाली गति में ही सौन्दर्य है। इस प्रकार नयी-कविता में द्वन्द्व, असामंजस्य, कटुता, संन्यास आदि के द्वारा समाहिति, सामंजस्य आदि की प्राप्ति की आकांक्षा एवं न प्राप्त कर सकने की विवशता की ध्वनि है। यह 'ध्वनि' ही उसे काव्य बनाये हुए है। यह 'रस रूप' है। यह रस-परिपाक की अवस्था चाहे न हो, पर इसका भाव, भावाभास, रसाभास आदि में से किसी में अन्तर्भाव सम्भव है। 'रस' तो व्यापक शब्द है, जिसमें काव्य की भाव, भावाभास, अलंकार आदि सभी तत्वों से उद्भूत मानसिक दशाओं का अन्तर्भाव है। द्वन्द्व, असामंजस्य आदि की उपाधि से भी अद्वन्द्व एवं समाहिति की स्थिति, जो रस-रूप है, उस पर पहुँचा जा सकता है। आज की कविता यही कर रही है। फिर वह रस विरोधी कैसे ? 'रस' उसके मूल्यांकन में असमर्थ क्यों ? रिचर्ड्स ने विरोधी मनःस्थितियों के सामंजस्य पर पहुंचने को काव्य का लक्ष्य तथा उसकी श्रेष्ठता का मानदण्ड माना है। यह भी रस के अनुरूप तत्त्व है।

'रस' अनुभूयमान अवस्था है, किसी अतीत की वासना की स्मृति नहीं। जन्मान्तर की वासनायें किसी के सहृदय होने में कारण तथा उस स्वरूप की विशेषता की नियामक हैं। जिनकी वासनाओं का क्षय हो गया है, वे तो काव्य से ऊँची भूमिका पर रहते हैं। काव्य भी एक प्रकार की भ्रान्ति की सृष्टि है, उसके अनुभव में दोष की महिमा कारण रूप में स्वीकृत है। रति, शोक आदि की वासनायें रस प्रतीति की उपाधियां हैं। रस स्वयं तो अनुभूति रूप है, उसकी स्थिति तो अनुभूयमान क्षण में ही है। रति आदि की तरह वह कोई संस्कार रूप से अन्तःकरण में रहने वाली वस्तु नहीं है। फिर 'रस' का क्षण की अनुभूति से विरोध कैसा ? एक प्रश्न अवश्य उठता है कि कवि अपने अतीत के पुराने संस्कार रूप में रहने

१—धर्मयुग की लेखमाला

वाले भावों को ही काव्य की सामग्री से उद्बुद्ध करता है अथवा नितान्त नवीन भावदशाओं की नयी सृष्टि कर लेता है। क्या ये 'क्षण' के अनुभव नितान्त नवीन भाव-सृष्टि हैं जिनसे वासना या संस्कार का सम्बन्ध ही न हो? अगर नये भाव की सृष्टि नहीं करता तब तो नये भाव-बोध के तात्विक अस्तित्व पर ही संदेह है? नये आचरण—नये परिप्रेक्ष्य तथा नये विभावों में होने के कारण नये हैं, तात्विक रूप से नहीं। अगर नई सृष्टि है या अतीत के सस्कारों और वासनाओं से उस भावोद्बोध का सम्बन्ध है, बदलता हुआ परिप्रेक्ष्य नये विभावों की सृष्टि करता है, पुराने एवं परम्परागत विभावों को भिन्न (इसलिये नये) भावों से सम्बद्ध कर देता है। कल जो व्यक्ति घृणा के पात्र थे, वे आज घृणा के आलम्बन नहीं रहे हैं, शायद आकर्षण के कारण बन गए हैं। कारण स्पष्ट है, कल उनके किसी एक व्यक्तित्व की तरफ कवि का ध्यान गया था। उसने उसी धर्म को आलम्बन बनाया था। आज का कवि उसके किसी अन्य धर्म को देखता है। अतः उसका आलम्बनत्व बदल गया है। पर इससे भाव और आलम्बनत्व के पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध का व्यवच्छेद तो नहीं हो गया। राग के लिये अनुकूल वेदनीयता चाहिये। यह स्थायी तत्व है। इसके बाह्य स्वरूप एवं उपाधियां बदल रही हैं। विशेष परिप्रेक्ष्य में एक विशेष भाव की अनुभूति होती है। वह उस 'क्षण' की अनुभूति है और उस क्षण की दृष्टि से सत्य है। पर उस क्षण की अनुभूति के रस-रूप होने में बाधा कहां है? रस भी तो अनुभूयमान क्षण ही है। धीरोदात्त आदि का 'रस' के साथ सम्बन्ध तो उस युग के परिप्रेक्ष्य की वस्तु है। रस की अनुभूति उस युग में उन्हीं माध्यमों से होती थी। पर आज अन्य माध्यमों से होने वाली उसकी अनुभूति में क्या बाधा है? रस का एक शाश्वत स्वरूप है, वह युगानुकूल माध्यम ढूंढ लेता है। रसवादी आचार्यों ने जिन स्थायी भावों की गणना की है, वे तो केवल उदाहरण मात्र हैं, भावदशाओं की इयत्ता के द्योतक नहीं। रसवादी आचार्य किसी भी भावदशा (से जिसमें वस्तु, बिम्ब, बुद्धि, कल्पना, अलंकरण आदि सभी का अन्तर्भाव है) रस की निष्पत्ति का सिद्धान्त मानते हैं। अतः आज के नये भाव-बोध भी रसानुभूति के माध्यम बन सकते हैं, इसमें रस सिद्धान्त का कहीं भी अपलाप नहीं है।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि 'रति', 'शोक', 'जुगुप्सा' आदि मानव की अस्मिता या राग के ही विभिन्न रूप हैं। ये सम्पूर्ण अस्मिता के द्योतक उपलक्षण मात्र हैं। पर ये आज तक की विकसित एवं संभाव्य विकास के अनुभावित मानवता के आधार स्तम्भ मात्र भी हैं। 'रति' आदि का अपना एक क्षेत्र है। रति में 'दाम्पत्य रति' वात्सल्य, सख्यभाव, सखी-भाव आदि अनेक भावों का अन्तर्भाव है। उसका एक परिवार है, एक वर्ग है। उस परिवार में अतीत की स्वीकृति ही नहीं, विकास-

मान सभी भावों का भी उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। यही अन्य भावों के लिये भी कहा जा सकता है। इसलिये आज जो नये भाव-बोध हैं, उनका विभाव जगत् बदला है, वे एक ही साथ दो-एक भावों के मिश्रण, सांकर्य अथवा संधि-स्थल भी हो सकते हैं, और हैं भी। इतना होने पर भी उनकी मूल प्रकृति वैसी ही है। उनका स्पष्ट अन्तर्भाव किसी एक भाव दशा में नहीं हो पाता। इन्हें नितांत नवीन भाव कहने का इतना ही अभिप्राय है। पर वे रति आदि अथवा उनसे बने वर्गों में रखे जा सकते हैं। अतः उनकी नवीनता केवल सापेक्षिक वस्तु है, नितांत निरपेक्ष नहीं। इनकी 'रस' के परम्परागत रूप से नितांत भिन्नता कहाँ है? क्षण की अनुभूति अपने पूर्ववर्ती क्षण से नितांत असंपृक्त तो नहीं रह सकती। पूर्व क्षण की अनुभूति के संस्कार उत्तर क्षण की अनुभूति के बोध के (कम से कम नाम रूपात्मक बोध में) कारण हैं। अतः वासना और संस्कार से मुक्ति कहाँ मिल पाती है? रिचर्ड्स और इलियट—दोनों ने परम्परा का महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने अतीत की महान् कृतियों में प्रवाहित संवेदनों द्वारा ही किसी युग की महान् कृतियों का सृजन सम्भव माना है। सहृदय अपने पूर्वानुभवों, स्मृतियों तथा विचारों को मिलाते हुए कृति का आनन्द-उपभोग करता है। रिचर्ड्स ने काव्य से उद्भूत सहृदय के भावों के लिये उसके पूर्वानुभव के संस्कारों की कारणता मानी है।[1] अगर हम क्षण की अनुभूति को अतीत के संस्कारों एवं वासना से असंपृक्त तथा नये भाव-बोध को पूर्णतः नवीन भाव भी मान लें तब भी उनके रसत्व में क्या बाधा है? उन भावों के माध्यम से भी रसानुभूति हो जाती है। परम्परागत विभावों का अनुसरण और प्रत्येक आनन्दानुभूति को शृंगार आदि के नामों से नामांकित कर देना किसी अनुभूति के रसरूप होने की अनिवार्य शर्त नहीं है। बिना नाम के भी काव्यानुभूति में रसत्व रहता है। रसत्व का निजत्व से ऊपर उठना आवश्यक है। यह नयी कविता की अनुभूति में भी हो जाता है। फिर 'रस' किसी अतीत के संस्कार-रूप में विद्यमान भाव की स्मृति नहीं है। यह अनुभूयमान अवस्था है, अतः नवीन सृष्टि है। पंडितराज ने रस की रजत की भ्रान्ति से तुलना की है। रजत पुरानी रजत की स्मृति नहीं, अज्ञान से सद्यः उत्पन्न अनिर्वचनीय रजत है। इसी प्रकार ये भाव भी सद्यः उत्पन्न अनिर्वचनीय भाव हैं। 'व्यक्ति-विवेककार' ने भी रति आदि भावों को असत् तथा प्रतिबिम्ब कार्य कहा है।

आत्म-विलय की अवस्था में तो नया समीक्षक भी रस-परिपाक मान लेता

1. The success of the communication in difficult cases depends upon the extent so which past.

है। उसे नयी कविता की व्यक्तिपरक अनुभूति के—जिसे वह सह-अनुभूति कहता है, रसत्व में संदेह है। वास्तव में नयी कविता की यह व्यक्तिपरक अनुभूति भी निर्वैयक्तिकता के स्तर की वस्तु है। इसमें भी निजमोह, संकटापन्नता का परिहार हो जाता है। इसी की उत्कृष्ट अवस्था आत्म-विलय है। अतः इसमें भी परिपच्यमाण रसत्व है। रस के सभी स्तरों की अनुभूति का मानवीय होना अपरिहार्य तत्व है। व्यक्तिपरक अनुभूति की मानवीयता लौकिक स्तर के मानव के यथार्थबोध की मानवीयता है पर 'रस' की 'मानवीयता' सम्पूर्ण स्तरों की मानवीयता में अनुवर्त्तमान मानवीयता है। वह मानव का सहृदय संवेद्य रूप है। रस आनन्द रूप स्थिति है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सुख और दुःख से भिन्न एवं उन दोनों की उपाधियों से अभिव्यक्त अवस्था है। उसका मूल स्वरूप तो सुख-दुःख के मूल में रहने वाली 'नित्य समरसता' है, जो आनंदरूप है। पर वह भावों की दृष्टि से 'सुख-दुखात्मक' है। इस प्रकार नयी-कविता की अनुभूति का उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। नयी-कविता की अनुभूति को बौद्धिक मानने तथा रस को राग-रूप कहने से उन दोनों का अन्तर्विरोध सिद्ध नहीं होता। नयी-कविता की बौद्धिकता भी दर्शन, विज्ञान या इतिहास की बौद्धिकता नहीं है, वह भी मूलतः राग रूप है। रस का बोध पक्ष से कोई विरोध नहीं है। रस का भावुकता से नहीं अपितु भावात्मकता से नित्य सम्बन्ध है। वैसे भावुकता का भी अपना सत्य है, अपना यथार्थ है। फिर भावात्मकता से नयी कविता का क्या कविता-मात्र का ही विरोध नहीं हो सकता है।

काव्यानुभूति के स्वरूप एवं प्रेषणीयता की समस्या पर चिन्तन करते हुए भारतीय आचार्य रस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। रस-निष्पत्ति आत्म-विश्रान्ति की वह अवस्था है जहां 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है। यह अनुभूति सहृदय की अपनी है, इसको कवि-अनुभूति का वास्तव में सम्प्रेषण नहीं कह सकते। अभेद की इस भूमि पर आत्म-विश्रान्ति रूप 'रस' में कवि और सहृदय के अन्तर की चेतना नहीं रहती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कवि की अनुभूति का सम्प्रेषण नहीं होता। सहृदय की अपनी अनुभूति होती है। कवि और सहृदय की अनुभूति में अभेद सिद्ध करने के लिये भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण का आश्रय लिया था। पर काव्य की कुछ भाव-भूमियां और भी होती हैं, जिनमें साधारणीकरण की प्रक्रिया अपनी पूर्णता पर नहीं पहुँचती और वे अनुभूतियाँ रूढ़ एवं शास्त्रीय अर्थ में 'रस' की पूर्णता की अवस्था नहीं हैं। पर उनमें भी वास्तव में व्यापक अर्थ में गृहीत रसत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। पश्चिम के चिन्तकों ने अन्य भेदों के साथ ही समानुभूति एवं सह-अनुभूति के नाम से काव्यानुभूति के

दो स्वरूपों को स्वीकार किया है। हमारे प्राचीन आचार्यों के चितन में इनके संकेत मिलते हैं। रस-चिंतन के विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं के द्योतक होने के कारण ये प्रकार रस-प्रतिपादन के पूर्व पक्ष के अंश बनकर उस चिंतन में विलीन हो गए और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सके। पर इनके संकेत रस की व्याख्याओं में हैं। नयी-समीक्षा के चिंतकों ने समानुभूति एवं सह-अनुभूति के सिद्धान्तों को अपनाया है और इस प्रकार 'रस' और साधारणीकरण के सिद्धान्तों की अपर्याप्तता की घोषणा की है। पाश्चात्य चिंतन के अत्यधिक बढ़ते हुए प्रभाव एवं आधुनिक कृति-साहित्य के स्वरूप को देखते हुए काव्यानुभूति को समानुभूति एवं सह-अनुभूति मानना स्वाभाविक एवं समीचीन भी है। आज के साहित्य की अनुभूतियाँ रस-निष्पत्ति की अवस्था तक प्रायः कम ही पहुँचती हैं। पर रस के व्यापक अर्थ में इसका भी अन्तर्भाव है। रिचर्ड्स ने काव्य की प्रेषणीयता पर विचार करते हुए कवि और सहृदय की अनुभूति में समानता के सिद्धान्त का समर्थन किया है और काव्यानुभूति (अर्थात् सहृदय की अनुभूति) को समानुभूति कहा है। कवि में जैसी अनुभूति जागती है, उसी के समान अनुभूति पाठक में भी जाग जाती है। इसका कुछ विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि अगर कवि में काव्य-सृजन के समय 'रति' भाव है तो पाठक में भी अनुशीलन के समय वह भाव होगा, जिसे हम 'रति' कह सकें। ये दोनों रतियाँ (कवि और सहृदय की) दो व्यक्तियों के अन्तःकरण में उदित होती हैं। इनमें पारस्परिक कुछ ऐसा हल्का वैषम्य भी हो सकता है जो इनके 'रति' बने रहने में बाधक नहीं है। सह-अनुभूति की अवस्था इससे कुछ भिन्न है। इसमें समानुभूति एवं भाव-तादात्म्य का अंश तो रहता ही है। पाठक पात्र के सुख-दुःख का तथा अन्य भावों का प्रत्यक्ष (कभी भावात्मक और कभी बौद्धिक) तो करता ही है, पर उसमें सहानुभूति भी जागती है। यह सहानुभूति भी जब निजत्व की परिधि से ऊपर उठी हुई होती है तब काव्यानुभूति होती है। काव्य की अनुभूति बनने के लिये इसका निजत्व से ऊपर उठना एव निर्वैयक्तिक हो जाना आवश्यक है। यह नया समीक्षक भी मानता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है। शुक्ल जी के शील भाव में इस सहानुभूति का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रकार यह मध्यम कोटि का रस है। रसानुभूति के लिये समानुभूति एवं सहानुभूति दोनों ही आवश्यक हैं। वास्तव में रसनिष्पत्ति विभावन एवं साधारणीकरण व्यापार के द्वारा परिपुष्ट उस अवस्था की द्योतक है जहाँ सहृदय में इन भावों के कारण आत्म-विश्रान्ति का अनुभव जाग जाता है और उसमें सहानुभूति एवं समानुभूति की सजग चेतना नहीं रहती है। पर ये साधारणीकरण एवं रस की परिपच्यमान अवस्था की

अनुरूप तथा अनिवार्य भूमियाँ हैं। इस प्रकार ये रसानुभूति की पूर्वपीठिका में रहने वाली दो अनुभूतियाँ हैं। कवि और सहृदय की अनुभूति में जितनी ही वैचित्र्य की मात्रा अधिक रहती है, उतना ही उसमें विभावन व्यापार कम हो जाता है और उसमें क्रमशः सह-अनुभूति, समानुभूति और रसानुभूति का परिपाक कम हो जाता है। रस और साधारणीकरण के सिद्धान्तों से इनका विरोध मानना तो वास्तव में भ्रम है। पर आज के साहित्य के संदर्भ में, शास्त्रीय अर्थ में, गृहीत 'रस' शब्द की अपेक्षा समानुभूति और सह-अनुभूति शब्दों का प्रयोग अधिक यथार्थ-स्थिति का बोधक तथा समीचीन है।

मानवीय मूल्य बौद्धिकता, आधुनिकता, क्षण के महत्व, सृजनात्मकता, विषय की उपेक्षा, काव्यवस्तु का महत्व एवं कलाकर की आन्तरिकता की परख आदि साहित्य-मूल्यों के साथ ही इस नये समीक्षक ने काव्य में लय के प्रश्नों को भी उठाया। जगदीश गुप्त आदि ने काव्य में छंद आदि की अपेक्षा आन्तरिक लय अर्थात् अर्थ की लय को अधिक महत्व दिया है। यह 'लय' का सिद्धान्त ध्वनि, रस, औचित्य एवं रमणीयता पर आधारित भारतीय साहित्य-चिंतन के मूल स्वर से असामंजस्य नहीं रखता, पर हिन्दी में यह विदेशी प्रभाव का परिणाम ही है। यह आई० ए० रिचर्ड्स के Rythm of meaning का अनुवाद मात्र है। रिचर्ड्स ने छ्रदों की लय को कृत्रिम एवं छिछला कहा है। उससे केवल अल्पवयस्क लोगों का मनोरंजन होता है। काव्य का वास्तविक सौन्दर्य गहराई में स्थित उसके अर्थ लय में है। विविध प्रकार के अर्थों के सम्बन्ध-योग तथा अर्थ-लय में ही रिचर्ड्स काव्य की वास्तविक स्थिति मानते हैं। शब्द की लय का मानदण्ड भी अर्थ की लय ही है, क्योंकि वह भी वास्तव में भाव और अर्थ की सापेक्षता में ही पहचानी जा सकती है। उसकी अच्छाई का आधार अर्थ के साथ सामंजस्य में ही है।[1] डॉ० नौन्द्रिय भी आन्तरिक व्यवस्था को ही काव्य का प्राण मानते हैं। संगीतात्मक कविता' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इलियट ने अर्थ-

The meaning of poetry is not something which exists apart from the meaning, otherwise we could have poetry of great musical beauty which made no sense, and I have never come across such poetry.

—The Music of poetry P. 13. (quoted from Literary criticism—A short History by winsatt.

लय को स्वीकार किया है।[1] इसी को इलियट आन्तरिक संगठन के रूप में स्वीकार करते हैं। रिचर्ड्स ने इलियट की कविता में लय, ध्वनि और अर्थ का समन्वय माना है। रिचर्ड्स के अनुसार अर्थ के सारूप हैं—(१) तथ्य (Sense) अथवा वस्तुस्थिति का संकेत (२) विषय के प्रति कलाकार का भाव (feeling) (३) ध्वनि (Tone) या श्रोता अथवा पाठक के प्रति कवि की भावना (४) वक्ता या कवि का अभिप्राय (Intention)। इन चारों में जहाँ पूर्ण समन्वय है, आवर्त्तन-विवर्त्तन एवं गहरी गति-शीलता के साथ जो एक अर्थ का सामंजस्यपूर्ण प्रवाह जागता है, वही वास्तव में अर्थ-लय है। यही काव्य का प्राण है। सामान्य उक्ति में इनका ऐसा पूर्ण समन्वय नहीं हो पाता है, यह काव्य में ही सम्भव है। इसी से यह काव्य की उत्कृष्टता का मानदण्ड भी है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि से शब्द और अर्थ का पूर्ण समन्वय रूप साहित्य-तत्त्व जैसे काव्य का प्राप्तव्य है,[2] वैसे ही रिचर्डस आदि की दृष्टि से इस अर्थ लय को माना जा सकता है। रिचर्डस ने छंद की गति का अर्थ, अर्थ की गति एवं लय में परिणत होने का सिद्धान्त माना है। शब्द-लय को अर्थ से असम्बद्ध मानना उनकी दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है।[3] डॉ० जगदीश गुप्त ने नयी-कविता के प्रश्न में इस अर्थ लय का विवेचन किया है। बाहर से गद्याभास प्रतीत होने वाली कविताओं में इसी अर्थ लय को उन्होंने उनके कवित्त्व का आन्तरिक आधार माना है। लय को ये काव्य का अभिन्न तत्त्व मानते हैं और उन दोनों का जन्म-जात सम्बन्ध भी स्वीकार करते हैं। काव्य के सभी स्वरूपों में वह इसका अस्तित्त्व मानते हैं। 'गीत' में एक पंक्ति की कई बार की पुनरावृत्ति केवल नाद-सौन्दर्य के लिये ही नहीं है, अपितु अर्थ की पुनरावृत्ति से अन्तःकरण में स्पंदन तथा लय पैदा होती है। एक भाव की अनुभूति के गेय हो जाने पर गीतिकाव्य की रचना होती है। यह वास्तव में लय की ही स्थिति है। सम्पूर्ण काव्य में चाहे वह मुक्त छंद हो या प्रबन्ध, एक मूल ध्वनि एवं रमणीयता होती है और वह 'लय' को भी अपने आप में अन्तर्भुक्त किये है। पर नयी समीक्षा में 'अर्थ-लय' पर बहुत थोड़ा ही विचार हुआ है। इसका विरोध

1. Winssatt—Literary criticism, A short History, P. 642
२ लेखक का 'भारतीय सौन्दर्य चिंतन में साहित्य-तत्त्व' (प० जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ में संकलित) नामक लेख द्रष्टव्य है।
3. No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone, his signifiance, his appriciations in the appriciation of his relation to the dead poets and artists.
—T. S. Eliot—Selected Essays P. 15

करके इसको उछालने की ही अधिक चेष्टा हुई है । आज हिन्दी में सम्प्रदायवादी रूढ़िवादिता के कारण एक दूसरे की बात को सहृदयता पूर्वक समझने की अपेक्षा अपनी मान्यताओं के आग्रह से खण्डन कर देने की प्रवृत्ति अधिक है । 'नई चेतना' भी इसकी शिकार हैं । इस चिंता-धारा के समीक्षकों ने समीक्षा के स्वरूप एवं हिन्दी में उसके विकास का भी पर्याप्त विवेचन किया हैं । इससे व्यावहारिक समीक्षा के भी कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार हो गया है । समीक्षा के आयाम को विस्तार देने के पुष्ट प्रयास हुए हैं । कृति अथवा युग को ही अधिक सर्वांगीण दृष्टि से देखने की चेतना का सैद्धान्तिक निरूपण भी हुआ है । किसी भी कलाकृति को अपनी परम्परा से विच्छिन्न करके देखने से उसका सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सकता है ।[1] युग अपने से पूर्ववर्ती साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करता है । प्रत्येक कलाकृति विभिन्न युगों में नये अर्थ और मूल्य देती है । शास्त्रीय एव जातीय परम्परा के सरक्षण तथा विकास, युग-बोध एवं कलाकार के विशिष्ट सर्जनात्मक क्षण की अनुभूति की अभिव्यक्ति, क्षण के महत्व का अनुभव, आधुनिकता का बोध आदि इन सभी दृष्टियों से कलाकृति का विश्लेषण एवं मूल्यांकन ही उसकी वास्तविक समीक्षा है। "एक कलाकृति पहले रूप में एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्य-बोध एव परम्परागत काव्य-शृखंला की विशिष्ट कड़ी होती है । दूसरे रूप में वह एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती हैं । तीसरे रूप में वह एक व्यक्ति की, एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्त्वों से समन्वित होकर वह कलाकृति का महत्त्व प्राप्त करती है।......इनमें से एक के पक्ष की उपेक्षा की गई तो वह समीक्षा एकाँगी बन जाती है ।[2] कलाकृति की सर्जनात्मकता का परीक्षण ही इस दृष्टि की समीक्षा है । उसमें निहित मानव-मूल्यों, नये भाव-बोध, नये सौन्दर्य-बोध, बौद्धिकता, आधुनिकता आदि का विश्लेषण तथा मूल्यांकन ही समीक्षक का वास्तविक कार्य है । वैसे सर्जनात्मकता की परीक्षा में ही इन सबका अन्तर्भाव है । यह काव्य के विषय की नहीं अपितु उसकी वस्तु की परख करती है । कोई कला-कृति वास्तव में कृति है अथवा अनुकृति मात्र है—इस मूल्यांकन को अज्ञेय जी ने महत्त्वपूर्ण माना है। इस चेतना के अनुसार कृति वही है जिसमें मानव

1 The movement of the verse because the movement of the meaning and as a study of verse from apart from meaning is seen to be a product of enwary abstraction.

-Coleridge on Imagination P.179.

२ धर्मवीर भारती—मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १४६ ।

के आज के यथार्थ जीवन की अनुभूति को पूर्ण ईमानदारी से व्यक्त किया गया है। इस धारा के समीक्षकों ने प्रधानतः साहित्य के परिप्रेक्ष्य तथा उससे उद्भूत विचार-धाराओं भावों एवं साहित्य-मूल्यों का विशद विवेचन किया है। इसके साथ ही इन्होंने कवि की मनःस्थिति तथा सृजन-प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है। इससे इनके विवेचन में ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक समीक्षा के तत्वों का प्राधान्य हो गया है। इस धारा के प्रवेश के साथ ही साहित्य-समीक्षा में केवल साहित्य तक ही सीमित न रहने तथा सम्पूर्ण जीवन के चिन्तन तथा मूल्यों की समीक्षा पर पहले से अधिक जोर दिया जाने लगा। इससे समीक्षा के आयाम में विस्तार हुआ है। इस धारा के साथ हिन्दी-समीक्षा मूल्यवादी समीक्षा की ओर उन्मुख हुई है। समीक्षा के सिद्धान्तों पर तो अनेक दृष्टियों से विचार हुआ पर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रौढ़ प्रयास नहीं हुआ। इस धारा के समीक्षकों ने अपनी विचार-धारा की प्रतिष्ठा के लिये छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि आधुनिक काव्य-धाराओं के मूल्यों की अपूर्णता पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है और यह भी निश्चित है कि इन पूर्ववर्ती धाराओं के विवेचन में इनका अभिप्राय नई चेतना के स्वरूप का प्रतिपादन करना था, अतः उन्होंने पूर्ववर्ती धाराओं के उन तत्वों का अधिक विश्लेषण किया जिनसे इस चिंता-धारा के निर्माण में—चाहे प्रेरक रूप में, चाहे प्रतिक्रिया के रूप में—सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः पूर्ववर्ती धाराओं की उपलब्धि की अपेक्षा उनके अभावों पर इनका ध्यान अधिक गया।

'तार-सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ। हिन्दी में प्रयोगवादी चेतना का जन्म इसी समय हुआ है। इस समय छायावाद एव रहस्यवाद के विरोधी स्वर तो काफी प्रबल हो चुके थे, पर 'तार-सप्तक' में कतिपय कवि-समीक्षकों ने कम्यूनिस्ट विचार-धारा का भी विरोध प्रारम्भ कर दिया था। यह चिंता-धारा नई समीक्षा की पूर्व पाठिका है। 'प्रतीक' पत्रिका (१९४६) के प्रकाशन से नई समीक्षात्मक चेतना कुछ स्पष्ट रूप में साकार होने लगी थी। 'नयी-कविता' (१९५४) नामक पत्रिका से तो निश्चित रूप से ही यह नई चिंताधारा बन गई थी। उसके बाद से तो अनेक पत्र-पत्रिकाओं, परिसंवादों, परिचर्चाओं तथा स्वतंत्र लेखों द्वारा यह धारा पुष्ट हो रही है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'नयी कविता के प्रतिमान' (१९५७) अज्ञेय जी का 'आमने पद' (१९६०), धर्मवीर भारती का 'मानव-मूल्य और साहित्य' (१९६०) रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'नव लेखन' (१९६०) डॉ० रघुवंश का 'साहित्य का नया-परिप्रेक्ष्य' (१९६३), डॉ० देवीशंकर अवस्थी का 'विवेक के रंग', राजेन्द्र यादव का 'दुनिया : एक समानान्तर' (भूमिका का भगा)

आदि इस धारा की उल्लेखनीय सामग्री हैं।

इस धारा को सबसे प्रमुख, शक्तिशाली एवं नया मोड़ देने वाली क्रान्तिकारी प्रतिभा अज्ञेय जी हैं। इनमें सर्जन, भावन एवं चिंतन—तीनों का अद्भुत मिश्रण है। ये मार्क्सवाद को एकमात्र एकांगी विचारधारा मानते हैं, जीवन-दर्शन नहीं। इसके विरोध में उन्होंने मानवतावादी दृष्टि की स्थापना की है। भौतिकता, आध्यात्मिकता, समाजवादी यथार्थवाद--सभी की अपेक्षा अज्ञेय जी मानवीय संवेदनाओं की यथार्थता को महत्व देते हैं, जो इस नए चिंतन की आधारभूमि है। इस प्रकार अज्ञेय जी इस धारा के प्रमुख आधार स्तम्भ हैं। अज्ञेय जी ने काव्य के विषय एवं वस्तु, परम्परा तथा प्रयोग, श्लील-अश्लील, नैतिकता तथा सौन्दर्य-बोध, आधुनिकता, अहं के विलय, अस्तित्ववाद, प्रेषणीयता आदि महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक पक्षों का विवेचन किया है। इस विवेचन पर पाश्चात्य चिंतन का गहरा प्रभाव है, पर अज्ञेय जी ने उस चिंता-धारा को आत्म-सात कर लिया है। इससे उनके सम्पूर्ण चिंतन पर उनके व्यक्तित्व की मौलिकता की गहरी छाप है।

लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'लघु-मानव' के अपने लघु परिवेश में यथार्थ अनुभवों को महत्व दिया है। उन्होंने मानव-जीवन के प्रेम, घृणा, सत्, असत्, क्षुधा-संयम के अन्तर्विरोधों के अनुभवों की मानवीय संवेदना को साहित्य में सर्वोपरि माना है। इसी आलोक में उन्होंने नये भाव-बोध को स्पष्ट किया है। लघु-मानव के साथ क्षण के महत्व की स्वीकृति मिल जाती है। युग-चेतना को अनुभव की कटुता, कुरूपता, प्रतारणा आदि सभी की संवेदनीयता स्वीकार करनी पड़ती है। वर्मा जी ने नयी-कविता का मूल्यांकन करते हुए नये चिंतन के तत्वों का स्पष्टीकरण किया है। धर्मवीर भारती ने मानव की अन्तरात्मा, उसकी आन्तरिकता, गौरव, विवेक, आत्मान्वेषण तथा आत्मोपलब्धि पर सबसे अधिक जोर दिया है। डॉ० रघुवंश में प्राचीन परम्परा के प्रति भी सम्मान और प्रेम है। अतः उन्होंने 'रस' आदि प्राचीन सिद्धान्तों का नये परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकन किया है। उनमें इस चिंता-धारा की व्यावहारिक समीक्षा को अधिक अभिव्यक्ति मिली है। उनमें समीक्षक की प्रौढ़ता, गंभीरता तथा तटस्थता का अभाव नहीं है। उनके सजग ऐतिहासिक समीक्षक ने भारतेन्दु से लेकर प्रयोगवाद एवं नयी-कविता तक के विकास का अच्छा विश्लेषण किया है, जिसे हम किसी वाद के आग्रहों से प्रायः मुक्त कह सकते हैं। उनके निष्कर्ष नई चेतना के अनुरूप हैं, और अधिक तर्कसंगत हैं। छायावाद में आधुनिक भावबोध एवं सौन्दर्य-बोध की क्षमता तथा प्रगतिवाद के रूढ़ एवं एकांगी मानदंड में अतीत के साहित्य के समुचित मूल्यांकन की संभावना का निषेध इस नयी-चेतना से सामंजस्य रखता हुआ भी एक प्रकार से पुष्ट तर्कों पर आधारित कहा जा सकता है। डॉ० रामस्वरूप

चतुर्वेदी ने इस चेतना का कई दृष्टियों से विश्लेषण किया है। अंग्रेजी साहित्य के 'न्यू राइटिंग' के आन्दोलन से हिन्दी नव-लेखन को भी सम्बद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने पाश्चात्य चिंतन के आलोक में इसके मानदण्डों, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण किया है। इसको उन्होंने व्यापक आन्दोलन के रूप में देखा है जिसका साहित्य की सभी विधाओं से सम्बन्ध है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'अर्थ-लय' के सिद्धान्त पर सबसे अधिक जोर दिया है। 'लघु-मानव' के प्रत्यय के आलोक में आधुनिक सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का परीक्षण भी हुआ है। उन्होंने रसानुभूति के साथ ही सह-अनुभूति की भी स्थिति मानी है। अकविता आदि की भी बातें करते हैं। वास्तव में इनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्यय अपने आप में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा के गम्भीर ज्ञान के कारण विजयनारायण शाही का समीक्षक प्रौढ़ रूप में उभरा है। वे साहित्य को अखण्ड इकाई मानकर हिन्दी साहित्य के दशकों एवं युगों की समीक्षा करते हैं।

नई चेतना पर दूसरी धारा के समीक्षकों ने भी पर्याप्त विचार किया है। उनका दृष्टिकोण प्रायः सहानुभूति-शून्य एवं खण्डनात्मक ही अधिक कहा जा सकता है। पंत जी, स्व० वाजपेयी जी और नगेन्द्र जी का विवेचन प्रयोगवाद तक ही सीमित रहा। प्रयोगवाद तो नयी-कविता की पूर्व-पीठिका मात्र प्रस्तुत करता है। पंत जी का विवेचन अत्यन्त गम्भीर एवं तात्विक है। बालकृष्णराव ने इस नई धारा पर अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक विचार किया है। उनका प्रतिपादन भी अत्यन्त प्रौढ़ है। धीरे-धीरे यह नई चिन्ता-धारा हिन्दी चिंतकों का ध्यान आकृष्ट कर रही है और उसे सहानुभूति भी मिल रही है। यह हिंन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि का आभास दे रही है। ये समीक्षक साहित्य के साथ ही जीवन के समीक्षक हैं, इससे वे इतिहास संस्कृति, मानवशास्त्र के प्रबुद्ध अध्येता भी हैं। एक विशेष विचार-धारा के प्रति आकृष्ट होते हुए भी इनकी समीक्षा में आग्रह नहीं है।

आधुनिक काल में साहित्य-शास्त्र

सिद्धान्त और प्रयोग

समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नाम से दो भेद प्रत्येक प्रौढ़ साहित्य में मान्य रहते हैं। वस्तुतः ये दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष अथवा पटल हैं। इनको एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। इनका विकास भी अन्योन्याश्रित है, प्रयोगात्मक आलोचना के अन्तस्तल में भी साहित्य-दर्शन या साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं की एक धारा अविरल रूप में निरन्तर बहती रहती है। ये धारायें जो प्रयोगात्मक समीक्षा का मान भी होती हैं समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष में ही अन्तर्भूत हैं। इन धारणाओं के अभाव में समीक्षा के प्रयोगात्मक रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यावहारिक रूप का आधार-स्तम्भ है। यही कारण है कि आत्म-प्रधान समालोचना का सिद्धान्त भी सापेक्षतामूलक है, उसका भी कोई साहित्य-दर्शन होता है। मानदण्ड अथवा साहित्य-सम्बन्धी धारणा से शून्य एवं निरपेक्ष आत्म-प्रधान आलोचना का कोई तात्पर्य ही नहीं। इस प्रकार के कथन तो अर्थशून्य होते हैं। स्वरूपों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होते हुए भी इनमें से किसी एक का एक साहित्य में अधिक महत्त्व उस साहित्य एवं चिन्तन की प्रकृति पर निर्भर है। पाश्चात्य देशों की विचारधारा कुछ ऐसी ही सरणियों से विकसित हो रही है कि उसमें आलोचना के प्रयोगात्मक स्वरूप का अधिक विकास हुआ है। पर भारत में साहित्य-शास्त्र का शास्त्र और दर्शन के रूप में विकास अधिक हुआ है, प्रयोगात्मक कला के रूप में कम। समीक्षा के कला

रूप का विकास अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक कहा जा सकता है। उसके इस बहु-मुखी विकास का काल तो आधुनिक काल ही है। इस विकास में भी पाश्चात्य प्रेरणा का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समीक्षा को मूलतः चिन्तन की वस्तु मानने के कारण कुछ लोग समीक्षा को कला मानना ही नहीं चाहते। वैसे भी समीक्षा को कला कहना वास्तव में कला शब्द का गौण प्रयोग ही है। मूलतः कला का प्रयोजन आनन्द है और समीक्षा का मूल्यांकन। पर इतना निर्विवाद है कि भारतीय चिन्तन-धारा समीक्षा के शास्त्रीय पक्ष के विकास की ओर ही स्वभावतः उन्मुख रहती है। संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु रीतिकाल में भी इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। आज भी इस प्रवृत्ति की ओर ही भारतीय चिन्तन विशेष उन्मुख है। भारतीय प्रत्येक वस्तु की आत्मा का अनुसन्धान करने का स्वाभाविक रूप से इच्छुक रहता है। इसलिए यहां पर आज भी दर्शन का ही विकास हो रहा है। हिन्दी-समीक्षा में भी प्रयोगात्मक रूपों के साथ-साथ साहित्य-दर्शन का विकास होता रहा है। वैसे मूलतः प्रयोगात्मक आलोचनायें भी साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के विकास का ही इतिहास हैं। सम्पूर्ण प्रयोगात्मक समीक्षाओं का मूल प्रयोजन साहित्य-दर्शन का निर्माण ही है।

तीन धारायें:—

भारतेन्दु काल से अब तक हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक रूप का विकास तीन प्रधान सरणियों में हो रहा है। प्रथम सरणी उन पुस्तकों की है, जिनके उपजीव्य प्राचीन भारतीय सिद्धान्त हैं। इन पुस्तकों में आचार्य परम्परा के मान्य सिद्धान्तों का ही निरूपण हुआ है। दूसरी सरणी उन ग्रन्थों और निबन्धों की है, जिनकी विवेचन-प्रणाली एवं सिद्धान्त दोनों ही मुख्यतः पाश्चात्य हैं। इनमें पाश्चात्य अलंकार शास्त्र के तत्वों का स्वच्छन्दतापूर्वक ग्रहण हुआ है। इनमें समीक्षा के विभिन्न पाश्चात्य सम्प्रदायों और तत्वों के आधार पर काव्य के स्वरूप की विशद व्याख्या हुई है। प्रारम्भ में यह दूसरी प्रकार का साहित्य-शास्त्र भी विशुद्ध पाश्चात्य नहीं था। इसमें भारतीय दृष्टिकोण का भी पर्याप्त मिश्रण था। हाँ, मिश्रण के परिमाण और महत्व में तारतम्य अवश्य रहा है। इधर ऐसे ग्रंथ अवश्य लिखे गए हैं जिनका आधार विशुद्ध पाश्चात्य है। तीसरी सरणी वह है जिसमें पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय है। यह हिन्दी की मूलधारा कही जा सकती है। कवियों और आलोचकों की काव्य सम्बन्धी धारणायें वही हैं। प्रत्येक कवि काव्य की एक विशेष धारणा से प्रेरित होकर काव्य-सृजन करता है। उसकी यह धारणा उसके काव्य में अभिव्यक्त हो जाती है। आलोचक अपनी मान्यताओं का पृथक निबन्धों अथवा ग्रन्थों के रूप में चाहे विवेचन न भी करे लेकिन वे उसके साहित्य

में स्पष्ट झलक जाती हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार की धारणाओं को ग्रन्थों की भूमिकाओं में स्थान मिल जाता है। साहित्य-शास्त्र के इस तीसरे प्रकार का अन्तर्भाव प्रायः दूसरे में ही हो जाता है। इसकी विचार-धारा में कुछ वैयक्तिकता की छाप के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्र के दूसरे प्रकार से कोई विशेष मौलिक भिन्नता नहीं है। इन धारणाओं में पाश्चात्य और भारतीय विचारों का मिश्रण ही रहता है। कवि और आलोचक इनको अपनी वैयक्तिकता के आवरण में अभिव्यक्त भर कर देता है। प्रसंगानुसार इन धारणाओं का भी ऊपर विवेचन होता रहा है। साहित्य-दर्शन के विकास में इन विचारों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है। पन्त जी 'पल्लव' की भूमिका, 'आधुनिक कवि' की भूमिका और महादेवी जी की अनेक भूमिकायें, 'तारसप्तक' की भूमिकायें तथा कवियों के कथन आदि इसके प्रमाण हैं।

प्रमुख विशेषतायें :

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-शास्त्र की कुछ मौलिक विशेषतायें हैं जो उसको रीतिकालीन विवेचन से पृथक करती हैं तथा विकास की ओर अग्रसर कर रही हैं। रीति-काल का विवेचन एक परम्परा की उद्धरणी और पिष्टपेषण-मात्र रहा, इसलिए वह इतनी शताब्दियों के प्रयत्न के उपरान्त भी साहित्य-शास्त्र को कुछ नवीन वस्तु नहीं प्रदान कर सका। इसका एक प्रधान कारण मौलिक चिन्तन और विश्लेषण का अभाव ही था। चिन्तन और विश्लेषण की प्रवृत्ति रीतिकाल की परवर्ती परम्परा में भी बढ़ती गई है, पर इसमें बहुत महत्वपूर्ण विकास नहीं हो सका—इसका निरूपण हम अन्यत्र कर चुके हैं। आधुनिक-काल—विश्लेषण, चिन्तन और समीक्षा का काल है। रीति-काल में जो स्थान आप्त वाक्य का था वह इस काल में विचार-स्वातन्त्र्य ने ले लिया। प्रारम्भ से ही विश्लेषण और चिन्तन की प्रवृत्ति जाग गई। साहित्य-शास्त्र का विवेचन भी पुनः विश्लेषणात्मक और तर्क-प्रधान शैली में होने लगा। विचार-स्वातन्त्र्य की भावना तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति ने साहित्य-शास्त्र को नवीन मार्ग भी दिखा दिया। उसने पाश्चात्य जगत् की विचारधारा के प्रवेश के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया और अपने यहाँ के सिद्धान्तों का भी नवीन शैली में पुनः विश्लेषण और मूल्यांकन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्राचीन परम्परा में लिखे गए साहित्य-शास्त्र के आधुनिक ग्रन्थ भी रीतिकालीन प्रवृत्ति से भिन्न रहे। प्रारम्भ से ही इन पर पाश्चात्य विवेचन शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रस आदि की मनोवैज्ञानिक एवं सौन्दर्य-शास्त्रीय व्याख्या इसी का परिणाम है। प्राचीन आचार्यों की तरह तत्व के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसके स्वरूप का साक्षात्कार करने की आकांक्षा भी आज के चिंतक में धीरे-धीरे प्रबल हो रही है। साहित्य शास्त्र की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है—आधार सबन्धी।

आज भी साहित्य-दर्शन का मूल आधार अधिकांशतः भारतीय है। काव्य-सम्बन्धी विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओं को आज का साहित्य-शास्त्रज्ञ भी रस, औचित्य तथा साधारणीकरण आदि भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाकर ग्रहण करता है। उसके पास एक कसौटी है, वह उस पर उनकी उपादेयता की जांच कर लेता है। कुछ लोगों की यह कसौटी साधारण संस्कारों के रूप में प्राप्त है तथा कुछ की गम्भीर अध्ययन और प्रौढ़ चिन्तन के फलस्वरूप। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के मिश्रण से काव्य-शास्त्र की नूतन समस्याओं और नवीन विचारधाराओं की उद्भावना का क्षेत्र खुल गया है। मौलिक चिन्तन के सहयोग से इसमें विकास की संभावनाएं सुस्पष्ट हैं। रस आदि प्राचीन तत्वों को मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण आदि के सिद्धान्तों के आधार पर समझने के प्रयास नई दिशा में विकास के सूचक हैं। नयी समीक्षा ने रस और साधारणीकरण के सिद्धान्तों को चुनौती भी दी है। मार्क्सवाद और नई समीक्षा पाश्चात्य चिन्तन का सहारा अधिक ले रही है, पर हिन्दी का साहित्य-शास्त्र का निर्माण भारतीय तत्वों को आधारभूत मानकर ही हो सकता है।

आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्र की पहली धारा प्राचीन भारतीय अलंकार शास्त्र का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह रीतिकालीन परम्परा का ही विकसित रूप है। पर इसमें प्रौढ़ चिन्तन और विश्लेषण को स्थान मिल गया है। इन ग्रन्थों में वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन पूर्ण और स्पष्ट है। रीतिकाल के अधिकांश ग्रंथों की सी अस्पष्टता धीरे-धीरे कम होती गई है। इन ग्रन्थकारों ने 'काव्य-प्रकाश', साहित्य-दर्पण', 'रस-गंगाधर', तथा 'ध्वन्यालोक' आदि संस्कृत के प्रौढ़ ग्रन्थों का अध्ययन करके इनकी सामग्री का समुचित उपयोग किया है। एक ही ग्रन्थ के अनुवाद एवं भाष्य की प्रवृत्ति भी विकास कर रही है। वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन अनेक ग्रंथों की सहायता से भी किया जा रहा है। उसी विषय से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शंकाओं और प्रश्नों का समाधान करते हुए विवेचन हो रहा है। कुछ ग्रन्थों में काव्य-तत्वों की परिभाषा प्राचीन मान्य ग्रन्थों के लक्षणों के अनुवाद हैं। पर उनको स्पष्ट करने लिए किया गया विवेचन मौलिक है। तर्कपूर्ण विवेचन का यह प्रकार आधुनिक है। ये ग्रन्थ-शैली और निरूपण-पद्धति की दृष्टि से तो नवीन है पर इनका प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त प्राचीन है। ये ग्रन्थ प्राचीन अलंकार शास्त्र के विभिन्न तत्वों के विश्लेषणात्मक परिचय के लिए ही लिखे गए हैं। ये सभी उस विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी प्रामाणिकता का यही माप दण्ड है। इन ग्रन्थों में विषय को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा वर्तमान समाज-शस्त्र एवं वर्तमान

अन्य विचारधाराओं का भी उपयोग हुआ है, पर केवल साधन रूप में। यह इनकी प्रमुख विशेषता नहीं है। इसको कहीं-कहीं अप्रासंगिक कहना भी अनुचित नहीं है। सर्वांगीण साहित्य शास्त्र, केवल अलंकार निरूपण करने वाले तथा रस और नायिका भेद के ग्रन्थ, रीति काल की इन तीनों परम्पराओं के ग्रन्थों का निर्माण भी इस काल में होता रहा है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्य कल्पद्रुम' में प्राचीन अलंकार शास्त्र के लक्षणों का उपयोग किया है। 'रसमंजरी' और 'काव्य प्रभाकर' जैसे ग्रन्थ भिखारीदास, श्रीपति आदि की परम्परा के विकसित रूप हैं। इनमें साहित्य-शास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है। 'रस मंजरी' में उन्होंने विभिन्न तत्वों, काव्य प्रकाश के लक्षणों का अनुवाद किया है। पर सारा विवेचन 'काव्य प्रकाश' के लक्षणों का मात्र अनुवाद नहीं है, अनेक ग्रन्थों से सामग्री एकत्र करके उन्होंने विषय का मौलिक ढंग से प्रतिपादन किया है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने भी अपने ग्रन्थों में अनेक विद्वानों के मतों का उपयोग किया है। उन्होंने 'साहित्य दर्पण' तथा 'काव्य प्रकाश' आदि संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का ही नहीं अपितु बहुत से रीतिकालीन आचार्यों के मतों का भी उपयोग किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने समकालीन मराठी आदि के काव्य-शास्त्रों के विचारों का भी उपयोग किया है। 'भानु जी' का 'काव्य प्रभाकर' काव्य-शास्त्र का एक विशाल ग्रन्थ है। एक प्रकार से यह प्राचीन काव्य-शास्त्र का वृहत् कोष है। लेकिन इसमें भी मौलिक चिन्तन का अभाव नहीं है। खन्डन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। जिस मत का प्रतिपादन भानु जी (इन सभी अलंकारिकों ने भी) ने किया है, वह प्राचीन अलंकार-शास्त्र का सर्वसम्मत मत है। 'मराठी निबन्ध-माला' के प्रसिद्ध लेखक चिपलूणकर की काव्य-हेतु-सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए, भानु जी ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास को अत्यन्त आवश्यक कहा है। यह सिद्धान्त उनका अपना नहीं है अपितु 'काव्य प्रकाश' का है। पर उनका विवेचन 'काव्य प्रकाश' तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने प्रतिभा के 'सहजा' और 'उत्पाद्या'-नाम से दो भेदों का भी उल्लेख किया है। विश्लेषण और विवेचन द्वारा इन तीनों में समन्वय भी स्थापित किया है। भानु जी का विवेचन पोद्दार जी की अपेक्षा अधिक विस्तृत और तर्क-प्रधान कहा जा सकता है। पोद्दार जी का निरूपण एक प्रकार से प्रामाणिक परिचय की कोटि का ही अधिक है। पर भानु जी ने संस्कृत-साहित्य के अधिक विस्तृत क्षेत्र का उपयोग किया है। उन्होंने काव्य के एक अंग का विश्लेषण करते हुए उसी प्रसंग पर अनेक आचार्यों के मतों का उपयोग किया है। उन्होंने आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज-जैसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन विद्वानों को ही उपजीव्य नहीं बनाया अपितु वामन, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों

के विवेचन का भी उपयोग किया है। उनके काव्य-लक्षण भी उद्धृत किये हैं।

'अलंकार-प्रकाश' तथा 'अलंकार-पीयूष' आदि अनेक ग्रन्थ केवल अलंकार-ज्ञान के लिए ही लिखे गये हैं। ये ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' की परम्परा के ही विकास हैं। 'रसाल' जी का 'अलंकार-पीयूष' तो अधिक प्रौढ और विश्लेषणात्मक है। उसमें संस्कृत और हिन्दी की प्रायः सारी उपलब्ध सामग्री के उपयोग का प्रयत्न किया गया है। अलंकार-सम्बन्धी भारतीय विचार-धारा को आत्मसात् करके उसको मौलिक ढंग से प्रस्तुत करने का यह सफल प्रयत्न हुआ है। इस ग्रन्थ में अलंकारों पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अलंकार-सामान्य के स्वरूप, आधार वर्गीकरण, पारस्परिक अन्तर आदि अनेक गूढ़ विषयों पर बहुत ही सूक्ष्म और प्रौढ़ विवेचन है। काव्य में अलंकारों के महत्व और स्थान पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार हुआ है। अलंकार-शास्त्र का इतिहास देते हुए विद्वान लेखक ने विभिन्न युगों की अलंकार के महत्व-सम्बन्धी धारणाओं का भी निरूपण किया है। 'रसाल' जी की शैली मात्र परिचयात्मक नहीं, वह विश्लेषणात्मक अधिक है। उन्होंने अलंकार सामान्य के स्वरूप, आधार और वर्गीकरण में ही नहीं, परन्तु प्रत्येक अलकार के निरूपण में भी इसी शैली का उपयोग किया है। वे आचार्यों के मतों की थोड़ी आलोचना भी करते जाते हैं। 'रसाल' जी ने प्रायः प्रत्येक अलंकार के लक्षण और उसके तत्वों का सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है, इसके साथ ही उन्होंने इसके विकास का इतिहास भी थोड़े में दे दिया है। वे इस बात का उल्लेख करना भी नहीं भूले हैं कि हिन्दी के रीतिकारों का विशेष अलंकारों के प्र त क्या दृष्टिकोण है। वे किस अलंकार की पृथक् सत्ता मानते हैं, और किसकी नहीं; किस अलकार का कौन-से में अन्तर्भाव करते हैं, आदि सभी विषयों का विवेचन है। 'रसाल' जी का 'अलंकार पीयूष' अलंकार-निरूपण का सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करता है। उसमें अलंकार सम्बन्धी सभी विषयों का विशद निरूपण है। शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को एक नवीन और अनुपम देन है। अलंकार-सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ पहले कभी नहीं लिखा गया। सब आचार्यों के मतों को एकत्र करके रखने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अलंकारों का निरूपण करने वाले और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, और आज भी यह क्रम जारी है। पोद्दार जी का 'अलंकार-प्रकाश' तथा 'अलंकार-मंजरी', दीन जी का 'अलंकार-मंजूषा', केडिया जी का 'भारती-भूषण' और मिश्रबन्धुओं का 'साहित्य पारिजात' आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। पोद्दार जी ने पहले 'अलंकार-प्रकाश' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। उसमें अलंकारों का प्रामाणिक विवेचन था। पर बाद में उसी के परिवर्द्धित संस्करण को 'अलंकार मंजरी' का नाम दे दिया गया। इसमें 'अलंकार पीयूष' की तरह

अलंकार-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विशद विवेचन हुआ है। पोद्दार जी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए 'अलंकारोतीति अलंकार:' कहकर उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन आचार्य भामह और दंडी के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अलंकारों का प्राण कहा है। पोद्दार जी ने रुद्रट, रुय्यक आदि के वर्गीकरण का उल्लेख और इनकी वैज्ञानिकता पर विचार किया है। पोद्दार जी की 'अलंकार-मंजरी' प्रौढ़ रचना है। दीन जी की पुस्तक भी अलंकार-परिचय के लिए अत्यन्त उपयोगी और रोचक है। अलंकारों के लक्षण पद्य में दिए गए हैं। इससे उनके स्मरण रखने में अधिक सरलता रहती है। लेकिन उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी टिप्पणी द्वारा कर दिया गया है। केडिया जी का 'भारती भूषण' भी अपनी निजी विशेषता और शैली का अच्छा ग्रन्थ है। इसमें उदाहरणों की नवीनता है। नवीन उदाहरणों में लक्षणों को घटाकर दिखाया गया है, इससे उनका विवेचन और भी प्रौढ़ और प्रामाणिक हो गया है। उन्होंने राजस्थानी के वैणसगाई' का भी उल्लेख किया है। ''साहित्य-पारिजात' में बहुत संक्षेप में काव्य-लक्षण और शब्द-शक्तियों का भी उल्लेख हुआ है, पर इसका प्रधान विषय अलंकार-निरूपण ही है। इसमें प्रत्येक अलंकार का विशद विवेचन हुआ है। तर्क और विश्लेषण द्वारा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अलंकारों के पारस्परिक अन्तर और प्रत्येक अवान्तर भेद की भी विशद व्याख्या हुई है। इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता यह है कि इसमें रीतिकालीन आचार्यों के मत भी उद्धृत किये गए हैं। इसमें रीतिकालीन विवेचन का यथाशक्ति पूरा उपयोग हुआ है। इसमें अलंकार सामान्य के स्वरूप, उनके आधार और वर्गीकरण के निरूपण का अभाव है। लेकिन समान अलंकारों (प्रतीप और व्यतिरेक, भ्रांतिमान और सन्देह आदि) के सूक्ष्म अन्तर का निरूपण जंपे बहुत ही तर्कपूर्ण एवं प्रौढ़ है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। मिश्रालंकार'-सम्बन्धी धारणा तो अत्यन्त मौलिक ही है। इनको तो वे अलंकारों के प्रधान वर्गीकरण में स्थान देते हैं। यह धारणा 'रसाल' जी की धारणा से भिन्न है। इस ग्रन्थ में लेखक ने 'रसवत्' आदि को अलंकार माना जाय या नहीं, इस समस्या पर भी विचार किया है। उनको इस सम्बन्ध में 'काव्य-प्रकाश' का मत ही मान्य है।

रीति काल में केवल रस निरूपण करने वाले ग्रन्थों की भी एक परम्परा थी। आधुनिक काल में भी यह परम्परा कुछ दिन तक चलती रही है। इस पर भी कई छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गए और लिखे जा रहे हैं। इन सबसे महत्वपूर्ण हरिऔधजी का 'रस-कलश' ही है। आधुनिक काल में इस पद्धति पर अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गए। 'हरिऔधजी' ने इस ग्रन्थ में नायिका-भेद और रस—दोनों का समावेश किया है और

निरूपण में कुछ मौलिकता का भी परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में उदाहरण अत्यन्त सरस, सुरुचिपूर्ण और उपयुक्त हैं। लेखक ने रहस्यवाद का समावेश अद्भुत रस में कर दिया तथा कुछ आधुनिक नवीन नायिकाओं के भी नामकरण किये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ केवल परम्परा-मुक्त ही नहीं रहा, अपितु युग की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला भी हो गया हैं। लेखक ने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका भी लिखी है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी परम्परा में बाबू गुलाबराय जी का 'नवरस' तथा अन्य एक दो ग्रन्थ और भी लिखे गए। रीतिकाल में शब्द-शक्तियों पर बहुत कम लिखा गया था। यह विषय व्यापक अध्ययन प्रौढ विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। रीतिकाल में इसका प्रायः अभाव था। फिर भी प्रतापसिंह की 'व्यंगार्थ कौमुदी' जैसी प्रौढ़ रचनाओं ने रीतिकाल को अलंकृत किया है। यह परम्परा इस काल में भी चलती रही। 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' जैसे शब्द-शक्तियों के निरूपण के पृथक् ग्रंथों के अतिरिक्त इस विषय पर 'काव्य प्रभाकर', 'रस-मंजरी', 'साहित्य सिद्धान्त' आदि में भी विचार हुआ है। रीतिकाल और संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में यह परम्परा इसी रूप में चलती रही है। उसी की अक्षुण्ण धारा आधुनिक काल तक आई है। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक द्वितीय उद्योत' इसी परम्परा का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। मिश्र जी का यह ग्रन्थ इस विषय का प्रामाणिक विवेचन है। इस ग्रन्थ में शब्द, अर्थ, शक्ति आदि सभी की प्रामाणिक परिभाषाएं व्याकरण और साहित्य-शास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थ वाक्य पदीय' तथा 'काव्य प्रकाश' जैसे ग्रन्थों से दी गई हैं। लेखक ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के स्वरूप का अत्यन्त सरल शैली में प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया है तथा ध्वनि के उद्गम, एवं उसका व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से सम्बन्ध जैसे महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयों को भी आलोकित किया है। इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता तो यह है कि इसमें उदाहरण हिन्दी के वर्तमान कवियों और लेखकों की रचनाओं से लिए गए हैं। इससे विषय और भी सरल हो गया है। हिन्दी के पाठक को अपने प्राचीन काव्य सिद्धान्तों का आधुनिक कविता में उपयोग देखकर उन सिद्धान्तों की व्यापकता का भी अनुभव होता है। पाश्चात्य धारणाओं की ओर भी साधारण सा संकेत किया गया है। शब्द शक्तियों के अतिरिक्त लेखक ने साहित्य शास्त्र द्वारा, ('ध्वन्यालोक' और 'काव्य प्रकाश' द्वारा) मान्य ध्वनि के प्रायः सभी भेदों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में उनको रस, भाव, भाषा-शबलता, भावोदय, भाव-शांति आदि अनेक महत्वपूर्ण काव्यांगों पर भी प्रौढ़ विवेचन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ यह स्पष्ट करता है कि रीतिकालीन-परम्परा आधुनिक काल में कितनी प्रौढ़ हो गई है। ध्वनि सिद्धान्त पर लिखे गये शोध प्रबन्धों में इस विषय का और भी गंभीर विवेचन हुआ

हैं। ऐसे ही रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के ऊपर किये गये शोध कार्यों से इन प्राचीन सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन हुआ है। इससे उनकी सार्वभौमता भी स्पष्ट हुई है।

काल-क्रम की दृष्टि से सेवक, ग्वाल, मतिराम आदि भी आधुनिक काल के रीतिकार माने जा सकते हैं। पर शैली और निरूपण-पद्धति की दृष्टि से ये पूर्णतः रीतिकालीन ही हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रचनाओं में ही स्पष्टतः नवीन शैली के दर्शन होते हैं। इसका थोड़ा सा आभास कविराज मुरारीदीन में भी मिलने लगा था। काव्यांगों के लक्षणों में स्पष्टता और पूर्णता, साहित्य शास्त्र के गूढ़ प्रश्नों के प्रौढ़ विवेचन, अलंकारों और अन्य काव्यांगों के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के निदर्शन तथा विश्लेषण-प्रधान शैली के कारण ये ग्रंथ रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न कहे जा सकते हैं। पर यथार्थ में इनमें और रीतिकालीन ग्रन्थों में विषय-निरूपण की दृष्टि से कोई तात्विक अन्तर नहीं है। इन दोनों का वर्ण्य विषय ही एक नहीं है, अपितु इनकी साहित्य सम्बन्धी धारणाएं भी एक हैं। इनकी प्रौढ़ता का आभास इनको रीतिकालीन परम्परा में रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने से ही होता है। इस तुलना से ही इन ग्रन्थों की विषय-निरूपण और शैली-सम्बन्धी प्रौढ़ता स्पष्ट होती है। इन ग्रंथों को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न करने का एक कारण है—इनकी प्राचीन साहित्य-शास्त्र की मान्य और प्रतिनिधित्व करने वाली प्रौढ़ धारणाओं के सश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने की प्रवृत्ति। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन ग्रंथों में अनेक प्रामाणिक ग्रंथों का सहारा लिया गया है। ये ग्रंथ पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखे गये हैं। साहित्य-समालोचना का आधार उपस्थित करने तथा साहित्य सृजन की प्रेरणा प्रदान करने की आकांक्षा से ही इन ग्रन्थों का सृजन हुआ है। अपनी प्राचीन निधि के स्वरूप को समझकर मूल्यांकन करने की आकांक्षा आधुनिक काल की एक प्रधान विशेषता है। यही प्रेरणा इन ग्रंथों के अंतस्तल में प्रवाहित हो रही है। इस संश्लिष्ट चित्रण के लिए आधुनिक-काल में कई साधनों का उपयोग हुआ है। ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों की भूमिका में प्राचीन अलंकार-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास और प्रतिनिधि धारणाओं पर विचार किया है। 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'रस कलश' की भूमिकाएँ महत्वपूर्ण हैं। इनमें काव्य-लक्षण, हेतु, प्रयोजन, काव्य के तत्व, रस के स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के सम्प्रदायों, ध्वनि, औचित्य आदि के अनेक प्रौढ़ और महत्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन हुआ है 'हिन्दी रस गंगाधर' की भूमिका में भी इनका प्रामाणिक निरूपण है। इसके अतिरिक्त इनके संश्लिष्ट विवेचन के लिए पृथक् ग्रंथों की भी रचना हुई है। पं० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' तथा पोद्दार जी का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास'

इसी कोटी के ग्रंथ हैं। इनमें प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, वक्रोक्ति, औचित्य, अलंकार आदि तत्वों के स्वरूप, और विकास का तात्विक, गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। भारतीय साहित्य शास्त्र के इन तत्वों की भारतीय धारणाओं के साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए इससे सम्बद्ध पाश्चात्य विचार-धारा का भी तुलनात्मक निरूपण हुआ है। भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका में डॉ० नगेन्द्र जी ने इन तत्वों पर प्रौढ़ एवं तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। ऐसे सभी ग्रंथों का प्रधान उद्देश्य भारतीय विचार-धारा का स्पष्टीकरण ही है, इसलिए ये भी इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। इस काल में 'रस-गंगाधर', 'काव्य-प्रकाश', और 'साहित्य-दर्पण' के अनुवाद भी हुए हैं। पं० शालिग्राम शास्त्री एवं सत्यव्रत सिंह की साहित्य-दर्पण' पर लिखी गई टीकायें अत्यन्त प्रौढ़ और संस्कृत-टीकाओं के समकक्ष हैं। ऐसे स्तुत्य प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। पं० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का 'हिंदी रस-गंगाधर' और पं० हरिमंगल मिश्र का 'काव्य-प्रकाश' भी प्रशसनीय प्रयास हैं। अभिनव-भारती, वक्रोक्ति जीवितम् आदि के प्रौढ़ अनुवाद, भाष्य एवं टिप्पणियों से पं० विश्वेश्वर ने बहुत बड़ा कार्य किया है। विषय-निरूपण की प्रौढ़ता और पर्याप्त प्रामाणिकता तथा शैली की दृष्टि से इस परम्परा के ग्रन्थों में विकास हुआ है। यही कारण है कि 'काव्यालोक' तथा 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' जैसे आधुनिकतम ग्रन्थ रीतिकालीन तथा 'अलंकार प्रकाश' और 'जसवन्त भूषण'—जैसे आधुनिक काल के प्रारम्भिक ग्रन्थों से बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं। 'अलंकार-पीयूष' भी शैली की दृष्टि से इस परम्परा की नवीन वस्तु है।

विषय-निरूपण की सूक्ष्म विवेचन और आलोचना-प्रधान-शैली के कारण ये ग्रन्थकार काव्य-लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन एवं रस की अलौकिकता आदि पर भी विचार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण बातें हैं जो इन ग्रन्थों को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न तथा आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्र के नूतन विकास का आभास देने वाला बना देती हैं। अलंकार-शास्त्र पर कला और विज्ञान के पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार, अलंकार-प्रयोग के अन्तस्तल की मानसिक प्रवृतियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन [1], शब्द-शक्ति, अलंकार, रीति, गुण आदि की पाश्चात्य धारणाओं पर प्रकाश [2], भारतीय धारणाओं में पाश्चात्य तत्वों क आभास प्राप्त करना आदि कतिपय ऐसी वस्तुएं हैं जो साहित्य-शास्त्र के भावी विका

१—'देखिऐ—रसाल : 'अलंकार-पीयूष'।

२—देखिए—'काव्यालोक' और 'भारतीय साहित्य-शास्त्र'।

के पूर्वाभास हैं। ये विकास की नवीन दिशा की ओर संकेत कर रही हैं। इन लेखकों ने प्राचीन भारतीय तत्वों की आधुनिक काव्य की समस्याओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से व्याख्या की है। उन्होंने कहीं-कहीं पर इस दृष्टि से नवीन वर्गीकरण भी किया है। 'हरिऔध' जी ने नायिका-भेद पर ऐसे ही नूतन दृष्टिकोण से विचार किया है। उनकी मान्यता है कि नायिका-भेद के रूप में आचार्यों ने स्त्री-पुरुषों की प्रकृति और प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। वे इसे सार्वभौम और सर्वकालिक मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि अज्ञात रूप से इनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र होती रहती है।[1] आज की जो चरित्र कल्पना है, उसका अन्तर्भाव भी नायिका-भेद में हो सकता है। 'हरिऔध' जी ने देश, जाति, और लोक-प्रेम की दृष्टि से नायिकाओं के कई नवीन भेद माने हैं। इसमें आधुनिक काल के नवीन चरित्रों का अन्तर्भाव नायिका-भेद में हो जाता है। नायिका-भेद पर राकेश जी की शोध-कृति भी अच्छा विवेचन है। इस प्रकार इन-ग्रन्थों में ही प्राचीन साहित्य-शास्त्र के तत्वों की नवीन व्याख्या और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों से समन्वय की प्रवृत्ति जाग गई थी। इनमें इन प्रवृत्तियों का पूर्वाभास-मात्र है। इन्हीं के विकास ने साहित्य-शास्त्र की नवीन परम्परा को जन्म दिया है। आधुनिक साहित्य-शास्त्र की दूसरी परम्परा प्रेरणा-बीज रूप से इन ग्रन्थों में विद्यमान है। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में लिखे गये आधुनिक ग्रन्थों में नगेन्द्र जी का 'रस-सिद्धान्त' प्रौढ़तम कृति है। इसमें रस का शास्त्रीय दृष्टि से तो सर्वाङ्गीण विवेचन है ही, इसके साथ ही यह रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। विद्वान लेखक ने रस-सिद्धान्त को आधुनिक साहित्य-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में रखकर भी परखा है, उस पर उठाई सभी आपत्तियों का निराकरण किया है। इस प्रकार 'रस' को हिन्दी के आधुनिक साहित्य-शास्त्र की आधार-शिला तो बना ही दिया है इसके साथ ही उन्होंने रस की सार्वभौम-सिद्धान्त के रूप में मान्यता को भी आगे बढ़ाया है।

दूसरी धारा

हिन्दी में साहित्य-शास्त्र की दूसरी परम्परा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अनुकरण पर विकसित हुई है। आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था। भारतेन्दु काल की पत्रिकाओं में साहित्य के इन पाश्चात्य तत्वों का साधारण संकेत होता रहा है। नाटक आदि पर विचार करते समय उस काल का लेखक नाटक के भारतीय स्वरूप के साथ ही

१—'रस-कलश' की भूमिका, पृष्ठ १२५।

पाश्चात्य तत्वों का भी उल्लेख कर दिया करता था। साहित्य समीक्षा, समालोचक के गुण, निबंध, कहानी, उपन्यास आदि काव्यशास्त्र के नवीन विषय प्रायः पश्चिम की ही देन हैं। द्विवेदी जी से तो पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्वों के मुक्त उपयोग का युग ही प्रारम्भ हो जाता है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी जो निबन्ध लिखे, उनका आधार प्रायः पाश्चात्य विवेचन ही रहा। बहुत से निबंध तो उनके छाया-नुवाद ही हैं। द्विवेदी जी के उपरान्त आचार्य शुक्ल जी, प्रसाद जी, बाबू श्यामसुन्दर दास जी, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' तथा बाबू गुलाबराय आदि तथा अनेक आधुनिक विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र की इसी परम्परा के विकास में योगदान किया है। इनमें से कुछ विद्वान अपने निबन्धों द्वारा इसकी श्रीवृद्धि अब भी कर रहे हैं। पाश्चात्य साहित्य शास्त्र ने हमारे समक्ष एक नवीन चिन्तन का मार्ग खोल दिया है। आज हिन्दी का प्रायः प्रत्येक आधुनिक विद्वान साहित्य की आत्मा और स्वरूप का अनुसंधान करता हुआ भारतीय तथा पाश्चात्य—दोनों प्रकार की शैलियों एवं तत्वों का उपयोग करता है। वह इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय भी कर लेता है। भारतीय सिद्धांतों को पाश्चात्य अनुसंधानों के तथा पाश्चात्य सिद्धांतों को भारतीय मान्यताओं के आलोक में रखकर सत्य वस्तु के निर्णय की प्रवृत्ति आज की प्रमुख विशेषता है। समन्वय की यह भावना भारतीय अलंकार शास्त्र की पद्धति के आधुनिक ग्रंथों में भी है, यह पहले कहा जा चुका है। इस नवीन साहित्य-शास्त्र में पाश्चात्य तत्वों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। भारतीय सिद्धांतों का उपयोग कहीं-कहीं तो प्रायः समर्थन के लिए ही अधिक हो गया है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि अब तक के विवेचन की आधारभूमि प्रायः भारतीय साहित्य शास्त्र ही है। हिन्दी के आधुनिक विद्वान् के मस्तिष्क में इसके प्रबल संस्कार हैं और धीरे-धीरे इसकी प्रौढ़ता में दृढ़ विश्वास भी होता जा रहा है। भारतीय साहित्य विश्व को सामंजस्य के आधार पर प्रतिष्ठित एक नवीन साहित्य-शास्त्र दे सकता है। इसमें हिन्दी का सहयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी में इस नवीन 'साहित्य-शास्त्र' के प्रणेताओं ने समन्वय का एक ही दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। इनमें पारस्परिक तारतम्य एवं अन्तर है। शुक्ल जी प्रधानतः भारतीय विचार-धारा के समर्थक आचार्य हैं। वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग प्राचीन सिद्धान्तों की गूढ़ता को स्पष्ट करने के लिए ही करते हैं। बाहर से जो कुछ उन्होंने ग्रहण किया है, पश्चिम के जो सिद्धान्त उन्होंने अपनाये हैं, उनका उन्होंने भारतीयकरण कर लिया है। पश्चिम में जो कुछ भारतीय विचार-धारा के अनुकूल है, उसे अपनाने में शुक्ल जी को हिचक नहीं है। मौलिक चिन्तन से भारतीय सिद्धान्त की अव्यक्त गूढ़ताओं का

भी उद्घाटन किया गया है। शुक्ल जी के साधारणीकरण और रस-सम्बन्धी विचारों से यह स्पष्ट है। पर शुक्ल जी भारतीयता के प्रतिकूल कहीं नहीं गये हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र की मूल धारा के विकास के लिए ही नवीन सरणियां खोली हैं। शुक्लजी पर विशद विवेचन पहले हो चुका है। भारतीय सिद्धान्तों के गूढ़ तत्वों के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति आज की प्रधान विशेषता होती जा रही है। 'सुधांशु' में कई स्थानों पर इनके स्पष्ट दर्शन होते हैं।[1] प्रसाद जी का दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय है, पर वह रूढ़िवादी नहीं है। उन्हीं सिद्धान्तों के गम्भीर विश्लेषण से उन्होंने आधुनिक सौष्ठववादी धारणाओं की उद्भावना की है। कवीन्द्र रवीन्द्र के लिए भी यही कहा जा सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने दोनों पद्धतियों को अपनाया है, पर वे दोनों में बहुत अधिक सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके हैं। बाबू गुलाबराय में समन्वयवादी प्रवृत्ति थोड़ा अधिक स्पष्ट है। पर इन दोनों विद्वानों का समन्वय दोनों पद्धतियों का आकलन ही अधिक कहा जा सकता है। सौष्ठववादी समीक्षा में पाश्चात्य साहित्य-दर्शन के तत्वों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। पर समन्वय का आधार भारतीय ही रहा है। मार्क्सवादी और प्रयोगवादी साहित्य में तो समन्वय का आधार ही बदल गया है। वह पाश्चात्य अधिक है। पर हिन्दी का अपना 'साहित्य-दर्शन' भारतीय आधार लेकर ही निर्मित होना सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन विद्वानों में समन्वयवाद का एक रूप नहीं है, उसमें तारतम्य है।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र भारतीय अलंकार-शास्त्र से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करके अग्रसर हुआ है। भारत में काव्य के निर्मित स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है। जिस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त वस्तु काव्य नाम से अभिहित होती है, उसी की आत्मा का अनुसंधान हुआ है। काव्य के विभिन्न तत्वों की विशद व्याख्या, उनके तारतम्यिक महत्व का प्रतिपादन तथा उनका स्वरूप-निर्देश उसी दृष्टि से किया गया है। कवि के मस्तिष्क और हृदय में काव्य नाम की वस्तु कैसे तैयार हो जाती है? उनके लिए कवि जगत् से किन उदाहरणों को किस रूप में ग्रहण करता है तथा उनको काव्य का स्वरूप कैसे देता है, इन सब विषयों पर भारतीय चिन्तक मौन नहीं है। उनकी व्याख्या में दिये गये सिद्धान्त बहुत प्रौढ़ हैं। रस-प्रक्रिया एवं साधारणीकरण के प्रसंग में काव्य के इस पक्ष का अच्छा विवेचन है। पर इसी को प्रधान मानकर इस

१—'सुधांशु : जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२९

विषय की विशद व्याख्या का भारतीय अलंकार-शास्त्र में अभाव है। भारतीय आचार्यों ने काव्य के निर्माण-पक्ष पर कम तथा आस्वाद-पक्ष पर अधिक विचार किया है। लेकिन इस दृष्टि से यह विवेचन अद्वितीय है और सहृदय एवं काव्य की दृष्टि से यही अधिक महत्वपूर्ण भी है। पर कवि की दृष्टि से कविता का विचार भी नितान्त उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इसी कारण पाश्चात्य आचार्यों ने कविता के इस दूसरे पक्ष का ही अधिक विवेचन किया है। प्रारम्भ से ही, अर्थात् प्लेटो, अरस्तू आदि के समय से ही, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र प्रधानत: इसी दिशा में अधिक अग्रसर होता रहा है। अरस्तु ने काव्य और कला को अनुकरण माना। उसने कवि को अनुकर्ता कहा है और उस वस्तु-जगत का संकेत किया है जिसका वह अनुकरण करता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही पश्चिम में काव्य, जीवन और कलाकार के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन हुआ है। वहां काव्य के प्रयोजन तथा आस्वाद पर भी इसी दृष्टिकोण से विचार हुआ है। रस, अलंकार आदि काव्य की निर्मित अवस्था के तत्व हैं पर विचार, भाव, कल्पना आदि उसकी कच्ची सामग्री अथवा उस सामग्री के प्रयोग की प्रक्रिया का निर्देश भर हैं। कहने का तात्पर्य यह हैं कि भारत और पश्चिम में साहित्य-शास्त्र का प्रारम्भ दो भिन्न बिन्दुओं से हुआ है। यह दोनों विचारधारायें मिलती भी हैं, पर दो भिन्न बिन्दुओं से अग्रसर होकर ही। पश्चिम में कला में कलाकार के आत्माभाव की अभिव्यक्ति, कला का जगत् तथा लौकिक जगत् से उसकी भिन्नता, कला की प्रेरणा आदि विषयों पर अधिक विचार हुआ हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पश्चिम में कला के आस्वाद और प्रयोजन पक्ष अस्पृष्ट ही रहे हैं। वहां पर कला के इस स्वरूप का भी अध्ययन हुआ है। जगत् के आनन्द से उसकी तुलना भी की गई है। कला के प्रयोजन पर कवि और सहृदय—दोनों की दृष्टियों से विचार हुआ है। 'जनहिताय' तथा 'स्वान्त:सुखाय' दोनों का ही विवेचन है। अभिव्यक्ति में कलाकार को स्वाभाविक आनन्द मिलता है, इसलिये यही काव्य का परम लक्ष्य मान लिया गया है। "कला-कला के लिए"—जैसे वादों का पश्चिम में बहुत प्राबल्य रहा, पर भारत में ऐसे वादों को प्रेरणा नहीं मिल सकती थी। यह भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रकृति के विरुद्ध है, पर हिन्दी में जिस नवीन साहित्य-शास्त्र का निर्माण हो रहा है, उसमें इन विषयों एवं वादों का पर्याप्त निरूपण है। कुछ हिन्दी के आचार्य तो इन पर भी भारतीय रस-पद्धति से ही विचार करते हैं। शुक्ल जी ने अपने नवीन ग्रन्थ 'रस-मीमांसा' में काव्य के वर्ण्य-विषय का विवेचन विभाव पक्ष तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से किया है, जो पूर्णतया भारतीय है। इस प्रकार इन विषयों को भी भारतीय रूप देने

की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन के अनेक मूलभूत तत्त्व हिन्दी में गृहीत हो गये हैं।

पश्चिम में काव्य का भी कला में ही अन्तर्भाव माना जाता है। हिन्दी में अधिकांश आधुनिक आचार्यों ने काव्य को कला मान लिया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी काव्य को कला मानकर उसकी अन्य कलाओं से अभिव्यंजना के माध्यम की अमूर्त्तता और मूर्त्तता के आधार पर श्रेष्ठता स्थापित करते हैं।[1] बाबू गुलाबराय जी भी काव्य को कला मानते हैं। उन्होंने काव्य और कला में रस रूप एक ही आत्मा की प्रतिष्ठा मानी है, इसलिए उन्हें काव्य को कला कहने में कोई आपत्ति नहीं होती। उन्होंने कला में कौशल के भाव की प्रधानता वाली बात भी स्वीकार की है, पर इतने से ही वे कला के अर्थ की व्यापकता को अस्वीकार नहीं करना चाहते।[2] सुधांशु जी काव्य और कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण के ही समर्थक हैं। कला और काव्य को भिन्न मानने वालों का भी एक सम्प्रदाय है। उसमें प्रसाद जी और शुक्ल जी प्रधान हैं। उन्होंने कला पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया है और उसे उपविधा कहा है। वे उसमें काव्य का अन्तर्भाव नहीं मानते। प्रसाद जी ने तो कविता को कला मानने का बहुत ही विरोध किया है। उन्हें कला-विभाजन का मूर्त और अमूर्त वाला आधार भी मान्य नहीं है।[3] प्रसाद जी काव्य में आध्यात्मिकता की प्रधानता मानते हैं। कवि का कार्य केवल अभिव्यंजना-कौशल ही नहीं अपितु जीवन-रहस्य का उद्घाटन भी है। वह तो द्रष्टा है।[4] संस्कृत में ऋषि और कवि का प्रयोग समानार्थी है। इससे काव्य की दिव्यता या अभिव्यंजना-कौशल एवं कला की अपेक्षा उसकी दिव्यता अत्यन्त स्पष्ट है। प्रसाद जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतः भारतीय है। पर काव्य और कला-सम्बन्धी उनके विचार अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। पाश्चात्य प्रभाव की प्रबलता के कारण पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर आदि प्रायः सभी कवियों ने काव्य और कला में कोई अन्तर नहीं किया। उन्हें प्रसाद जी के समान काव्य की उच्चता और आध्यात्मिकता का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सका। हिन्दी में नवीन साहित्य-शास्त्र का विकास कविता को कला मानकर ही हुआ है। यही कुछ अधिक तर्कसंगत भी था। भारत के प्राचीन चिन्तन के अनुसार भी संगीत, चित्रकला आदि

१—साहित्यालोचन : कला का विवेचन।

२—सिद्धान्त और अध्ययन, 'कला और काव्य'।

३—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

४—वही, पृष्ठ १२।

काव्य के समकक्ष एवं उसी वर्ग के हैं। काव्य 'रस ब्रह्म' के साक्षात्कार का साधन है तो संगीत नाद-ब्रह्म का और चित्र वस्तु-ब्रह्म का।

कला अथवा साहित्य की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में जो वाद प्रचलित हुए हैं, उनका भी उल्लेख हिन्दी के समालोचकों में मिलता है। बाबू गुलाबराय जी ने मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित फ्रायड, एडलर और जुंग के विचारों का विशद विवेचन किया है।[1] अज्ञेय जी, पं० इलाचन्द्र जोशी तथा नगेन्द्र जी ने भी कला की प्रेरणाओं पर विचार किया है। कला कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, यह सिद्धान्त तो प्रायः सर्वमान्य सा है। नई समीक्षा में कला की निर्वैयक्तिकता पर जोर दिया गया। कला को वैयक्तिकता (Individuality) का विलय कहा गया। पर उसको व्यक्तित्व (Personality) की अभिव्यक्ति माना ही गया। कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन-चरित का काव्य से क्या सम्बन्ध है, इस पर पहले विशद विवेचन हो चुका है। 'सुधांशु जी' कला को आत्मभाव की अभिव्यक्ति कहते हैं। वे काव्य के लिए अन्विति का तत्व आवश्यक मानते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी काव्य में आत्मभाव के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।'[2] जगत् और अपने वातावरण से निरपेक्ष कलाकार के व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, इसीलिए काव्य का जगत् से अनिवार्य सम्बन्ध मानना पड़ता है। काव्य का जगत् लौकिक-जगत् से भिन्न होता है। 'सुधांशु' जी कहते हैं: 'प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य में एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। जगत् में जो जीवन है, काव्य में भी वही जीवन नहीं रहता, बल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है।'[3] काव्य की घटनायें कलाकार की अपनी सृष्टि होती हैं, वह कला का निमित्त कारण हैं। कला का उपादान कारण तो जगत् ही है, पर कलाकार व्यक्ति को जगत् से भिन्न स्वरूप प्रदान कर देता है।[4] सुधाँशु जी ने काव्य की प्रभावोत्पादकता का कारण प्रभाव की गहराई को माना है। प्रभाव की सूचना मात्र काव्य नहीं है, अपितु सहृदय भी उसको वैसे ही ग्रहण कर सके इसके लिए एक विशिष्ट वातावरण अपेक्षित है। इसके लिए कवि को कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। काव्य में अनुभूति की प्रधानता का सिद्धान्त भी इस काल का सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रसाद जी और शुक्ल जी भी इसकी प्रमुखता मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं—यह यथास्थान पहले कहा जा चुका है। शुक्लजी विभाव, भाव

१—सिद्धान्त और अध्ययन।

२—सुधांशु : जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, पृ० ३७-३९।

३—वही, पृष्ठ २७।

४—वही, पृष्ठ ४९।

और अप्रस्तुत-विधान में कवि-कल्पना की उपयोगिता और अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं।[1] कल्पना के उपयोग से ही कवि काव्य-जगत् को सर्वाङ्गीण बनाता है। व्यक्ति को जगत् का एकांगी ज्ञान होता है। वह सर्वत्र उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं देख पाता। पर कला-जगत का वह स्वयं सृष्टा है, इसलिए उसकी सम्पूर्णता का उसको स्पष्ट ज्ञान रहता है। यही कारण है कि जगत् की अनुभूति से काव्यानुभूति इतनी भिन्न होती है। काव्यानुभूति हमेशा ही आनन्दानुभूति ही होती है। पाश्चात्य प्रभाव के फल-स्वरूप काव्य के नवीन उपकरणों पर विचार प्रारम्भ हो गया है। कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली काव्य के सर्वमान्य तत्व हो गये हैं। अलंकार, गुण आदि के साथ इनका विवेचन भी इस काल की प्रमुख विशेषता है। ये तत्व काव्य-निर्माण के उपादान हैं। कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है कि रस, अलंकार आदि काव्य के शोभादायक धर्म मात्र हैं। वस्तुतः उपकरण तो बुद्धि, कल्पना आदि ही हैं। पर यह भ्रांत धारणा है। बुद्धितत्व आदि काव्य की सामग्री मात्र हैं। निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाला कच्चा सामान मात्र हैं। निर्मित काव्य के संघटक तत्व तो अलंकार, गुण आदि ही हैं। वैसे भी गम्भीरता पूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि बुद्धि और राग तत्व का भाव में अन्तर्भाव है और उसको प्रस्तुत करने का साधन कल्पना है। भारतीय आचार्यों ने इसी को प्रतिभा कहा है। बुद्धि और राग तत्व का समन्वित रूप ही दूसरे शब्दों में अनुभूति है। 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' तो इस काल के विवेचन का सूत्र-वाक्य हो गया है। काव्य का क्षेत्र निश्चित करने तथा विज्ञान और धर्म से उनका अन्तर स्पष्ट करने के लिए इसी को आधारभूत माना जाता है। काव्य, विज्ञान और इतिहास के सत्यों के अन्तर का विशद विवेचन हुआ है। शिवत्व काव्य का अनिवार्य तत्व है या नहीं तथा काव्य में शिवत्व का कौनसा स्वरूप ग्राह्य है—आदि विषयों का भी इस धारा में विस्तृत निरूपण हुआ है। सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक धारणाओं पर भी विचार किया गया है। साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य-शास्त्र का विशद विवेचन करने वाले ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। इस प्रकार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के आश्रय से काव्य के स्वरूप, वर्ण्य-विषय और प्रयोजन पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया और उसके परिणामस्वरूप अनेक सम्प्रदायों का जन्म भी हो गया। हिन्दी में भी 'कला-कला के लिए' 'कला-जीवन के लिए' आदि वादों का निरूपण हुआ है। इस नवीन साहित्य-शास्त्र में रस, अलंकार आदि भारतीय तत्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। शुक्ल जी की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति पर

१—रस-मीमांसा।

अनेक स्थानों पर विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त डॉ० भगवानदास, सुधांशु, डॉ० नगेन्द्र, राकेश आदि ने इस दृष्टि से विशद विवेचन किया है। रस, भाव आदि के स्वरूप पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से थोड़ा प्रारम्भिक विचार हुआ है। 'रस' सौन्दर्यात्मक ही है, अथवा कोई भिन्न स्थिति ? रसानुभूति भाव की प्रत्यक्ष स्मृति या कल्पना में से कौन सी स्थिति है अथवा इन सबसे भिन्न है ? सहृदयता में कोई तारतम्य है या नहीं, रसानुभूति का पाठक की वैयक्तिक रुचि से क्या सम्बन्ध है ? मन के ओज और रसानुभूति का क्या संबंध है ? एक कृति को बार-बार पढ़ने से रसानुभूति में क्या कोई अन्तर पड़ता है—आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाना तथा उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के साहित्य-चिंतक में एक पुष्ट साहित्य-दर्शन के निर्माण की आकांक्षा है। भविष्य में जो साहित्य-शास्त्र निर्मित होगा वह अवश्य ही स्वतन्त्र एवं हिन्दी की अपनी एक निधि होगी, वह न प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र का पिष्टपेषण मात्र होगा और न पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का अविकल अनुवाद ही। वह इन दोनों के मंथन का नूतन परिणाम होगा।

नवीन शैली के साहित्य-शास्त्र के विकास ने हिन्दी-साहित्य का एक महान् उपकार किया है, और वह है, प्राचीन भारतीय अलकार-शास्त्र के सिद्धान्तों का आधुनिक नवीन दृष्टि से विश्लेषण। शुक्ल जी और प्रसाद जी ने पाश्चात्य विचारधारा को आत्मसात् करके नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में अपनी प्राचीन निधि का विशद विश्लेषण किया है। इससे एक व्यापक, उदार और अत्यन्त प्रौढ़ साहित्य-दर्शन के विकास की सम्भावनाएं स्पष्ट हो गई हैं। शुक्ल जी की 'रस-मीमांसा' इस कोटि का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी परम्परा का दूसरा महान् ग्रन्थ है नगेन्द्र जी का 'रस-सिद्धान्त'। ये ग्रन्थ इस बात का स्पष्ट आभास दे रहे हैं कि हिन्दी भारतीय साहित्य-शास्त्र की विशाल और अमूल्य निधि का नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में विवेचन तथा साहित्य के नवीन परिप्रेक्ष्य में उसके तत्वों को रखकर महान् साहित्य-सृजन और भावन का एक महत्वपूर्ण आधार उपस्थित कर सकती है। शुक्लजी ही इस मार्ग का निर्देश कर गए हैं। लेकिन अभी तक हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के पाश्चात्य तत्वों का निरूपण परिचयात्मक कोटि का ही है। उसमें मौलिक तथा गूढ़ चिन्तन और विश्लेषण का अभाव है। साहित्य में बुद्धि, भाव, कल्पना आदि तत्व का स्वरूप और उसकी मर्यादा आदि विषयों का प्रौढ़ विवेचन नहीं है। इधर पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के आचार्यों के ग्रन्थों, निबन्धों एवं उनके अंशों के अनुवादों तथा कुछ अन्य ग्रन्थों से इस क्षेत्र में प्रगति हो रही है। आचार्य वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, श्री रामअवध द्विवेदी, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल आदि के प्रयास स्तुत्य हैं।

किसी भी काल का साहित्य-शास्त्र तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य से असम्पृक्त नहीं रह सकता। वह काव्य-सृजन की एक प्रधान प्रेरणा का कार्य करता है, यह हम पहले देख चुके हैं। हमने यह भी देख लिया है कि किस प्रकार विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायों ने काव्य की विभिन्न धाराओं को प्रभावित किया है। यहां पर उसके समष्टिगत रूप का थोड़ा-सा संकेत पर्याप्त है। भारतीय अलकार-शास्त्र पर आधुनिक काल में ग्रन्थ-रचना तो हुई, पर वह विशुद्ध रूप में वर्तमान साहित्य की प्रेरक शक्ति का कार्य नहीं कर सकी। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों का समन्वित रूप अथवा नवीन विचार-धारा में प्रतिबिम्बित भारतीय साहित्य-सम्बन्धी धारणा ही इस काल के रचनात्मक साहित्य की मूल प्रेरणा कही जा सकती है। इस दृष्टि से साहित्य-शास्त्र की आधुनिक दूसरी प्रवृत्ति का ही विशेष महत्व है। उसी का विकास भी हुआ है और हो रहा है। प्राचीन परम्परा ने तो इसमें सहायक का ही कार्य किया है। काव्य के वर्ण्य-विषय, प्रयोजन, प्रेरणा कला एवं कलाकार के व्यक्तित्व, काव्य का युग और जीवन से सम्बन्ध आदि की स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं ने हिन्दी-साहित्य में कई वादों को जन्म दिया हैं—जैसे यथार्थवाद, आदर्शवाद, कलावाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, आदि। इनका आधुनिक काव्य-धाराओं से घनिष्ठ संबंध रहा है। इन्होंने आधुनिक काव्य के स्वरूप तथा विकास की दिशा को निर्दिष्ट किया है। इस काल को पांच प्रधान काव्य-धाराओं में विभक्त किया जा सकता है--इतिवृत्तात्मक, छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद और नई कविता। रहस्यवाद आदि अन्य काव्य-प्रवृत्तियां इन्हीं धारणाओं में अन्तर्भूत हैं। पलायनवाद, हालावाद आदि को इसीलिए स्वतन्त्र काव्य-धारा न मानकर केवल गौण प्रवत्तियों के नाम से अभिहित करना अधिक समीचीन है। पर इन सभी धाराओं और प्रवृत्तियों पर उपर्युक्त साहित्यिक वादों का बहुत नियन्त्रण रहा है। कलावाद, चमत्कारवाद, और व्यक्तिवाद आदि समीक्षा की धाराओं ने काव्य की छायावादी, पलायनवादी, हालावादी आदि काव्य-धाराओं और प्रवृत्तियों का स्वरूप निश्चित किया है। इसी प्रकार समाजवाद का प्रगतिवाद, नीतिवाद का इतिवृत्तात्मक काव्य, नवमानवतावाद व अस्तित्ववाद का नई कविता से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट हैं। ये वाद इन काव्य-प्रवृत्तियों के अन्तस्तल में प्रवाहित प्रेरक शक्तियां हैं, इसलिए इनकी समीक्षा के मानदण्ड के आधार भी हैं। काव्य सम्बन्धी ये धारणायें एक तरफ काव्य सृजन की प्रेरणा देती हैं तथा दूसरी तरफ समीक्षा के मानदण्ड के रूप में विकसित होकर व्यक्त रूप धारण कर लेती हैं। काव्य में यथार्थ, आदर्श आदि से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं में पारस्परिक कुछ अन्तर भी रहता है। इसलिए एक साहित्यिक वाद का जो तात्पर्य एक काव्य-धारा में है, ठीक वही दूसरी में नहीं

है। प्रगतिवादी साहित्य यथार्थवाद से प्रभावित है, पर उनका यथार्थवाद मनोविश्लेषणात्मक या प्रयोगवादी कवियों के यथार्थवाद से भिन्न है। प्रगतिवादी नग्न-यथार्थवाद का चित्रण काव्य के लिए उपयोगी नहीं मानता। वह समाजवादी यथार्थवाद का समर्थक है, जबकि कुछ धाराओं में, प्रकृतवाद-प्रतियथार्थवाद आदि को मान्यता मिली है। इसी तरह इतिवृत्तात्मक तथा छायावादी कविताओं के आदर्शवाद में स्पष्ट अन्तर है। इतिवृत्तात्मक कवि काव्य की निर्वैयक्तिकता का समर्थक है। उसका काव्य भी जन-सामान्य की भावनाओं का प्रतिनिधि है। पर निर्वैयक्तिकता तथा सामूहिकता की ठीक वही धारणा मार्क्सवादी और नई कविता की नहीं है। इतिवृत्तात्मक और प्रगतिवादी—दोनों ही साहित्य उपयोगितावादी कहे जा सकते हैं। पर इन दोनों के उपयोगितावादी दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर है। एक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक आदर्शवाद है, तो दूसरे का भौतिक आदर्शवाद।

प्रगतिवाद ने भौतिक विकास की प्रेरणा को ही काव्य का चरम लक्ष्य माना है पर छायावादी पन्त ने भौतिक एवं आत्मिक दोनों प्रकार के विकासों के समन्वय पर जोर दिया है। उन्होंने समतल-गति और ऊर्ध्वगति—दोनों में समन्वय आवश्यक माना है। साहित्य को इसी समन्वय की प्रेरणा देनी है। शुक्ल जी साधारणीकरण के पूर्ण समर्थक हैं, पर नई समीक्षा साधारणीकरण न मानते हुए भी आत्म विलय के सिद्धान्त की बात करती है। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि आधुनिक काल में साहित्य-संबंधी धारणाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके फलस्वरूप कई वाद भी बन गए हैं। इन वादों के रूप भी चिरविकासमान हैं। उनके विकासमान रूप, काव्य और समीक्षा की बदलती हुई धाराओं के निर्मायक तत्त्व हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के एक स्वरूप का दर्शन प्रेमचन्द जी तथा उनके समसामयिक साहित्य में मिलता है और उसी का दूसरा रूप प्रगतिवादी साहित्य है। इन दोनों के बीच की अवस्था में इस धारणा का विकास होता रहा है। कवि और समीक्षक तो अपने सम्प्रदाय और प्रवृत्तियों के अनुकूल इनके विभिन्न तात्पर्य मानते रहे। एक ने जिसे आदर्श कहा, उसी को दूसरे ने आदर्श नहीं माना। जैनेन्द्र जी का यह कहना बिलकुल समीचीन है कि एक कवि की दृष्टि से जो यथार्थ है, वही दूसरे की दृष्टि से आदर्श हो सकता है। यथार्थ के सम्बन्ध में कवि का अपना मौलिक दृष्टिकोण होता है। पाठक उसी को आदर्श भी मान सकता है, पर कवि के लिए तो वही यथार्थ भी है। विभिन्न परिस्थितियों और मानसिक दशाओं में यथार्थ और आदर्श का रूप बदल जाता है। जैनेन्द्र जी की कल्पना किसी के लिए आदर्शवादी कल्पना होती है, पर जैनेन्द्र जी तो उसे यथार्थ ही समझते हैं। सभी वादों की धारणा में इस वैयक्तिकता के थोड़े-बहुत दर्शन होते हैं। यह वैयक्तिक मतभेद ही साहित्य-सिद्धान्त और वादों के विकास की कुञ्जी है।

हिन्दी का कोई अपना आधुनिक सर्वांगीण साहित्य-शास्त्र अभी बन पाया हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। पर इस दिशा में प्रयास जारी है, यह भी निर्विवाद है। 'रस' पर आधारित प्राचीन समन्वयवादी धारणा ही आज के 'साहित्य-शास्त्र की मूल आधार-भूमि बन सकती है। उन सिद्धान्तों का आधुनिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य के अनुरूप तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपने में आत्मसात् करने वाले रूप के विकास की आवश्यकता है। यह हो रहा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न काव्य-धाराओं के स्वतन्त्र सर्वांगीण साहित्य-शास्त्र की तो अभी कल्पना भी बहुत दूर है। फिर भी सभी मुख्य काव्य-धाराओं ने अपने साहित्य-शास्त्र की मूल मान्यताओं को भूमिकाओं, निबन्धों और ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट किया है। 'रसमीमांसा' शुक्ल पद्धति का साहित्य-शास्त्र है। इन्हीं सिद्धान्तों का परवर्ती काल में स्वच्छन्दतावाद एवं सौष्ठव-वाद, मानवतावाद एवं समाजवाद के आधार पर परिष्कार होता रहा। सुधांशु जी का 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' स्वच्छंदतावादी चेतना का काव्य-शास्त्र है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी व्याख्या दी। वाजपेयी जी और नगेन्द्र जी ने भी मूल भारतीय सिद्धान्तों के रहस्यों का उद्घाटन करके नवीन साहित्य-शास्त्र के निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाया है। एक समन्वयवादी दृष्टि का विकास हुआ। वाजपेयी जी ने अलंकार, गुण, रीति आदि में पश्चिम के art as imagination, art as expression आदि सिद्धान्तों की व्याख्या देखी है। नगेन्द्र जी के 'रस-सिद्धान्त' ने भी समन्वयवादी दृष्टि के आधार पर नवीन काव्य-शास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। प्रगतिवाद के अनुसार कोई ऐसा मौलिक ग्रन्थ तो नहीं आ पाया जो मार्क्सवादी-दृष्टि से साहित्य के सब तत्वों का उद्घाटन करता। पर निबन्धों और अनुवादों के द्वारा इस कार्य की पूर्ति कुछ अंश में हुई है। 'त्रिशंकु' 'आत्मनेपद', 'तार सप्तकों' की भूमिका, 'नयी कविता के प्रतिमान' आदि के द्वारा 'नई समीक्षा' भी अपने साहित्य-शास्त्र की मूलभूत मान्यताओं को हिन्दी के समक्ष रख रही है। पुराने मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाने से 'रसवादी' धारा के पुनर्मूल्यांकन की प्रेरणा मिल रही हैं।

हिन्दी में साहित्य का सैद्धान्तिक निरूपण प्रगतिशील और विकासमान है, पर अभी तक उसने शास्त्र की निश्चित और पुष्ट सरणी का आभास-मात्र ही दिया है। नवीन-साहित्य-शास्त्र की आधार-शिला बनने के उपयुक्त साहित्य-सम्बधी प्रौढ़ और एक निश्चित विचार-धारा का अभी अभाव है। साहित्य-चिन्तन में व्यक्ति-वादियों, समाजवादियों, सौष्ठववादियों तथा नव-समीक्षा वालों के पारस्परिक मत-वैषम्य में सामंजस्य अभी स्थापित नहीं हुआ है। समन्वय की आकांक्षा धीरे-धीरे व्यक्त और स्पष्ट स्वरूप अवश्य धारण कर रही है।

उपलब्धि और अभाव

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी-साहित्य में प्रयोगात्मक समीक्षा अत्यन्त अर्वाचीन है। पर इसे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य-दर्शन की अत्यन्त प्रौढ़ चिन्तन-धारा को परम्परागत पैतृक-सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। हिन्दी ने साहित्य-शास्त्र की इस निधि को अपनाया है। हिन्दी ने उसकी गहराई में प्रविष्ट होकर उसके रत्नों से साक्षात्कार के ही सफल प्रयास नहीं किये अपितु उन सिद्धान्तों को जीवन और साहित्य की अधुनातन परिवृत्तियों में रखकर उनकी नवीन व्याख्या भी की है। रस, ध्वनि और औचित्य का समन्वित-रूप समीक्षा का सार्वदेशिक मानदण्ड बन सकता है, इसका प्रतिपादन भी हुआ है। इससे उसमें महान् शक्ति अन्तर्हित है और प्रयोगात्मक क्षेत्र में भी उन्नति की उज्ज्वल आशायें हैं। प्रयोगात्मक समीक्षा के वास्तविक एवं वैज्ञानिक रूप के दर्शन तो आचार्य शुक्ल में ही प्रथम बार होते हैं। इनके पूर्व के सारे प्रयासों में समीक्षा की वैज्ञानिकता, गम्भीरता एवं गरिमा का अभाव है। वे सब प्रारम्भिक प्रयास-मात्र हैं। उनमें वैयक्तिक रूप से काव्य को समझने तथा उसकी श्रेष्ठता को अपने ढंग से आंकने की प्रवृत्ति-मात्र के दर्शन होते हैं। आलोचक वस्तु की गहराई तक पहुंचने की अपेक्षा उसके बाह्य स्वरूप पर ही मुग्ध अथवा रुष्ट होकर उसे अच्छी अथवा बुरी कह देता था। इसमें भी उसकी वैयक्तिक रुचि ही प्रधान मानदंड थी। वह काव्य-तत्वों के शास्त्रीय विवेचन की ओर झुका है। यह काव्य-तत्वों का सामान्य परिचय अथवा बहिरंग परीक्षण मात्र है। उनकी आत्मा

तक पहुंचने अथवा उनकी कोई मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करने की क्षमता के दर्शन नहीं होते, आकांक्षा मात्र के सामान्य संकेत भर मिलते हैं। उसने काव्य का नीति से सम्बंध स्थापित करने की चेष्टा भी की है। काव्य का रस, सौन्दर्य अथवा आनन्द की दृष्टि से भी उसने अनुशीलन किया है, पर यह सब अत्यधिक स्थूल और वैयक्तिक ही रहा। यत्र-तत्र की शास्त्रीय विवेचना, काव्य-तत्वों की दृष्टि से आलोच्य रचना की परीक्षा के प्रयास, रचना-सौन्दर्य से मुग्ध होना, काव्य की जीवन-संबंधी उपादेयता पर विचार करना आदि कुछ चीजों की झलक उन आलोचनाओं में मिल जाती है। ये तत्व स्वयं तो बहुत ही अविकसित और अप्रौढ़ हैं, इसलिए इनमें समीक्षा की वैज्ञानिक गरिमा के दर्शन नहीं होते, पर समीक्षा को वैज्ञानिक बना देने की आकांक्षा का स्पष्ट आभास इनमें अवश्य है। परवर्ती-काल में जो विकास हुआ है, इनको उसका पूर्वाभास कह देना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है।

स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्य को विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखना, उसको जीवन की उपादेयता से आंकना तथा इन दोनों के समन्वित रूप को काव्य का मानदण्ड मानना—इन तीन प्रधान प्रवृत्तियों के दर्शन वर्तमान हिन्दी साहित्य-समीक्षा में होते हैं और शुक्ल जी के पूर्व की समीक्षा इन तीनों का ही पूर्वाभास-मात्र मानी जा सकती है। शुक्ल जी के पूर्व की समीक्षा में विकास हुआ है। वह धीरे-धीरे द्विवेदी जी और मिश्र-बन्धुओं के स्तर को पहुंची है। शुक्ल जी को समीक्षा का यही रूप विरासत में प्राप्त हुआ। उन्होंने उसका ही आगे विकास किया। शुक्ल जी की समीक्षा अपने पूर्ववर्ती समीक्षा तत्वों को वैज्ञानिकता के चरम विकास पर पहुंचा देती है और आगामी विकास के तत्वों को प्रेरणा प्रदान करती है। शुक्ल जी ने समीक्षा को पुष्ट सैद्धान्तिक आधार एवं प्रौढ़ शैली प्रदान की है। इसके लिए उन्होंने भारतीय साहित्य-दर्शन को मूलभूत आधार बनाकर पाश्चात्य समीक्षा-तत्वों का भी आकलन कर लिया है। वाजपेयी जी आदि ने जिस सौष्ठववादी अथवा रहस्यवादी समीक्षा-शैली का अवलंबन किया है, जो शैली इन लोगों में विकसित एवं प्रौढ़ रूप में दृष्टिगत होती है, उसकी कुछ अस्पष्ट आकांक्षा के दर्शन पं० पद्मसिंह जी शर्मा आदि में होते हैं। वे काव्य को विशुद्ध दृष्टि से देखते थे, यद्यपि उनकी काव्य-सम्बन्धी धारणा में अभिव्यंजना-कौशल की अधिक प्रधानता है। सौष्ठववादी समीक्षा ने काव्य की आत्मा को पहचानकर समीक्षा में उन तत्वों के आकलन का प्रयत्न किया है, जो समीक्षा के सार्वदेशिक और सर्वकालीन मानदण्ड को उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान समीक्षा की ये सभी प्रधान पद्धतियां परम्परा के विकास ही हैं और इन्होंने भी परस्पर आदान-प्रदान किया है। यह हम पहले कह चुके हैं कि सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने शुक्ल जी द्वारा निर्मित भूमि पर ही

अपना भवन खड़ा किया है और शुक्ल-समीक्षा-पद्धति के परवर्ती आलोचकों ने भी स्थूल नैतिकता का आग्रह छोड़कर काव्य की आध्यात्मिकता को स्वीकार किया है। इस प्रकार समन्वय की प्रवृत्ति प्रबल रही है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शुक्ल जी में अपनी एक प्रबल वैयक्तिक रुचि थी और उसकी एक गहरी छाप उनकी प्रयोगात्मक आलोचनाओं पर भी स्पष्ट है। कुछ लोग इसे पूर्वाग्रह भी कहना चाहते हैं। पर इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में शुक्ल जी का सा व्यक्तित्व अब तक नहीं हुआ है। शुक्ल जी में कवि की अनुभूति के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसके अन्तर्हित सौन्दर्य के साक्षात्कार की अपूर्व क्षमता है। वे स्वयं भी उन अनुभूतियों से भाव-विभोर होते हैं तथा पाठक को भी करते हैं। शुक्लजी अनुभूति और अभिव्यंजना के अद्वितीय पारखी हैं। इस समीक्षा में शुक्ल जी का दृष्टिकोण प्रधानतः रसवादी है। पर वह नितान्त परम्पराभुक्त नहीं है। उसमें वे भावानुभूति की मर्मस्पर्शिता के साथ ही मुख्यतः शील और लोकमंगल के सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। शुक्ल जी में इस सहृदयता के साथ ही विश्लेषण की भी अपूर्व क्षमता है। इन गुणों के साथ अगर शुक्ल जी में युग की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को आंकने की क्षमता और बढ़ी हुई होती तो सोने में सुगन्ध थी। उनका महत्व सूर, तुलसी और जायसी की आलोचना कर देने भर में नहीं अपितु समीक्षा को रस, शील-विकास एवं लोकमंगल के समन्वित रूप पर आधारित वैज्ञानिक मानदण्ड एव विश्लेषण-प्रधान समीक्षा-शैली प्रदान करने में है। शुक्ल जी की प्रयोगात्मक समीक्षा की अपेक्षा उनका सैद्धान्तिक निरूपण अधिक महत्वपूर्ण है। उनमें चिन्तन की गम्भीरता एवं व्यापकता है। भारतीय अलंकार-शास्त्र की दृढ़ आधार-भित्ति पर निर्मित इस भवन में प्रसार की अमोघ क्षमता हैं। इसमें पाश्चात्य तत्वों का भी पर्याप्त उपयोग हो सकता है, और हुआ भी है। स्वय शुक्ल जी ने ही ऐसा किया है। शुक्ल जी के ही काव्य-सिद्धान्तों को समयानुकूल परिष्कृत और व्यापक करके हिन्दी की सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षा अग्रसर हुई। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया। उनके मापदण्ड में आस्वाद और प्रभाव का, सुन्दर और मंगल का, रस एवं नीति का, अनुभूति और अभिव्यक्ति का, भाव और कला का समन्वय स्थापित करने के सफल प्रयास हुए। यह आलोचना समीक्षा के व्यापक मान और शैली के निर्माण में प्रवृत हुई। उसने शुक्ल जी की शैली से प्राप्त मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, एवं वैधानिक तत्वों का विकास किया। धीरे धीरे हिन्दी में इन शैलियों और मानों को वैज्ञानिक रूप मिलता गया। काव्य को विशुद्ध रूप में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। विशुद्ध काव्य एवं मूल्यवादी—दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की सफल चेष्टायें हुई और हो रही हैं। समन्वय

की ओर प्रगति करते हुए मानवतावादी, आध्यात्मिक, लोक-मंगलवादी एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का भी जन्म हुआ है। पर अभी ये अरूप और अनाम हैं। इनका विकास भी अवरुद्ध है।

ऐतिहासिक समीक्षा दृष्टि ने समाज-शास्त्रीय रूप को भी इसी पद्धति में ले लिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने इसको मानवतावादी आधार प्रदान करके एक नई समीक्षा पद्धति को भी जन्म दिया। समन्वय के स्वस्थ एवं आशापूर्ण परिणामों से यह उपर्युक्त दृष्टिकोण भी स्पष्ट है। पर समन्वय की निश्चित रूपरेखा बनने के पूर्व ही हिन्दी-क्षेत्र में दो और पद्धतियों का पदार्पण हो गया। ये दोनों ही एक प्रकार से विदेशी हैं। एक ने साहित्य को मानव के आर्थिक विकास अथवा दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाने का पूरा आग्रह किया। इस पद्धति के आलोचकों ने अब तक के साहित्य को पूंजीवाद की देन कहकर प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया। हिन्दी की दूसरी नवी पद्धति इस पहली की प्रतिक्रिया-स्वरूप आई है। यह काव्य को सामूहिक चेतना का परिणाम मानने का विरोध करती है। यह काव्य को कवि की अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति मानती है। ये दोनों पद्धतियां भी विकास और समन्वय की अवरोधक मात्र नहीं, अपितु एक प्रकार से साधक और प्रेरक भी हैं। इन्होंने रूढ़िवादी-दृष्टिकोण को झकझोर कर नवीन परिस्थितियों के प्रति जागरूक कर दिया है। इस प्रकार हिन्दी में मीक्षा की वर्तमान कुछ प्रवृत्तियां हैं और नई समीक्षा, जिनको इस निबन्ध में क्रमश. शुक्ल-पद्धति, सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी, समाज शास्त्र मानवतावादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणात्मक आदि नामों से अभिहित किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ गौण प्रवृत्तियां भी हैं जो या तो इन्हीं के उपविभाग हैं या इनमें से किसी का अतिवादी रूप अथवा उनमें से किसी का साधन या शैली हैं। इनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं—प्रभावाभिव्यंजक, अभिव्यंजनवादी, सौन्दर्यान्वेषी, चरितमूलक और ऐतिहासिक। इस प्रबन्ध में इन सभी प्रवृत्तियों और शैलियों का अनुशीलन हुआ है। हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण एक पुष्ट सम्प्रदाय का रूप स्थिर नहीं रख सका। वह शैली का तत्त्व बनकर अन्य सम्प्रदायों में अनायुक्त हो गया। पर अन्य सम्प्रदाय एव शैलियां निरन्तर विकासशील रही हैं, वे व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण की ओर उन्मुख रहीं। मानवतावादी एवं आध्यात्मिक, लोक-चेतनावादी दृष्टिकोण भी अभी इतने पुष्ट तथा स्पष्ट नहीं हो पाये हैं कि इनको हिन्दी में सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाए। पर सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी दृष्टि का विकास इसी दिशा में हुआ है।

आज हिन्दी काव्य-समीक्षा की जितनी पद्धतियां और शैलियां प्रचलित हैं उनके सैद्धान्तिक आधार तो ठीक हैं। वे यद्यपि सर्वाङ्गीण और सार्वभौम समीक्षा-

मान नहीं दे पा रहे हैं, पर वे सभी अपने क्षेत्र में काव्य के कुछ पुष्ट सिद्धान्तों पर आधारित हैं। लेकिन उनका व्यावहारिक रूप अतिवादी और स्थूल होता जा रहा है। उनकी मान्यता सम्प्रदायगत पूर्वाग्रहों का रूप धारण करती जा रही है। शुक्ल-पद्धति का आलोचक काव्य और कवि के सबंध में कुछ स्थूल, शास्त्रीय एवं वस्तुतंत्रात्मक तत्वों का निर्देश भर कर देने में अपने कर्तव्य की पूर्णता समझ बैठा है। वह कुछ अधिक शास्त्रीय एवं इतिवृत्तात्मक हो जाना चाहता है। उसकी आलोचना आरोप का रूप धारण कर रही है। सौष्ठववादी ने सिद्धांततः जिस शैली और प्रतिमान को अपनाया है, वे तो व्यापक हैं। उसके मान में काव्य की चिरन्तनता तथा सामयिकता के साथ ही काव्य की अनुभूति और आस्वाद के विशुद्ध मान-मूल्यों से अंकन की क्षमता भी थोड़ी स्पष्ट है। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप में ग्रहण करके उसके विशुद्ध एवं व्यापक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया है। उसके साहित्य-दर्शन में समीक्षा की प्रायः सभी शैलियों का समीचीन समन्वय और आकलन हो सका है। पर काव्य को इतने उच्च स्तर पर आंकने के लिए प्रौढ़ प्रतिभा एवं सूक्ष्म विवेचन-शक्ति की अपेक्षा है। हिन्दी में अभी इसका प्रायः अभाव ही है, वैसे प्रत्येक आलोचक में इतनी क्षमता सम्भव भी नहीं है। इसीलिए इस समीक्षा के भी अत्यधिक प्रभाववादी और आत्म-प्रधान हो जाने की आशंका है। और यह वस्तुतः ऐसी होती भी जा रही है। दूसरे इसमें गूढ़ता के मोह के कारण अनिश्चित अर्थ वाली पदावली का प्रयोग हो जाता है। इससे अस्पष्टता भी बढ़ती जा रही है। साहित्य का देश-काल से सम्बन्ध है, उसका अविरल स्रोत बह रहा है। साहित्य के पूर्ण और यथार्थ मूल्यांकन के लिए उसको देश-काल और संस्कृति की सापेक्षता में देखना आवश्यक है। पर मार्क्सवादी तथा अन्य कतिपय आलोचक इसको भी अतिवादी पूर्वाग्रह का रूप प्रदान कर रहे हैं। उनका यह दृष्टिकोण व्यावहारिक रूप में आग्रह बनता जा रहा है। उनके समक्ष समाज के विकास की एक निश्चित परम्परा तथा मानव के कल्याण का एक रूढ़ दृष्टिकोण है। उसी को वे साहित्य का जड़ प्रतिमान बनाना चाहते हैं। साहित्य का देश काल से सम्बन्ध स्थापित करने का उनका आग्रह एक विशेष दिशा में इतना बढ़ गया है कि वे साहित्य की मर्यादाओं का अतिक्रमण करना चाहते हैं। उनकी रचना साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा देश काल का एक वर्गवादी चित्र अथवा एक वर्ग का सिद्धांत-निरूपण अधिक हो जाती है। वे साहित्य को राजनीति की दृष्टि से ही प्रधानतः देखते हैं, एक प्रकार से उसके प्रचारात्मक रूप का ही वह समर्थन करते हैं। उन्हें एक दूसरे में भी यांत्रिक भौतिकवाद या कुत्सित समाजशास्त्रीय की गन्ध आती रहती है। इसी तरह कलाकार के व्यक्तित्व को ही प्रधान मान कर उसकी

अन्तश्चेतना के विश्लेषण की प्रवृत्ति और आग्रह भी साहित्य की मर्यादाओं की अवहेलना करना है। यह विवेचन भी साहित्येतर जगत का है। हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक चिन्तकों ने सिद्धान्त निरूपण ही अधिक किया है, इस दृष्टि से वे साहित्य को अधिक परख नहीं पाये। हिन्दी के इन चारों समीक्षा-सम्प्रदायों द्वारा गृहीत जीवन एवं साहित्य का दृष्टिकोण अपने पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो गया। मुक्त तथा निष्पक्ष चिन्तन के द्वार इन सम्प्रदायवादियों ने अपने लिए बंद कर लिये। इसी धारणा से हिन्दी में 'नई-सपीक्षा' की चेतना जागी है। वह एक प्रकार से पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम होते हुए भी अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों के चिन्तन की प्रतिक्रिया है। उसने मानवतावाद, नये भावबोध, और आधुनिकता के बोध के सिद्धान्त अपनाकर साहित्य का मूल्यांकन करने की शपथ ली है। नये समीक्षकों की आक्रामक नीति के कारण दूसरे सम्प्रदाय वाले भी प्रबुद्ध हुए। उन्होंने भी आक्रामक नीति अपनाई। स्वच्छन्दतावादी और मार्क्सवादी समीक्षकों ने भी नई कविता और समीक्षा पर प्रहार किये। 'नई समीक्षा' वाले भी साहित्य-समोक्षा को स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण और शैली दे पाये हैं, ऐसा नहीं 'कहा जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि आज हर पद्धति की आलोचना पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर अपने भावों को ही पूर्ण मानने के कारण कुछ स्थूल और जड़ होती जा रही है। ऐसी अवस्था में समीक्षा में स्थैर्य आ जाना भी स्वाभाविक है। ये प्रवृत्तियां पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप एक दूसरे की अवरोधक शक्ति बन गई हैं। द्विवेदी काल की 'तू-तू मैं-मैं' का भी अभाव नहीं है। हां, उसने अपना स्वरूप बदल लिया है। खेमे बंटे हुए प्रतीत होते हैं। व्यक्तिगत रागद्वेष भी थोड़ा बहुत है, पर यह रागद्वेष वर्गगत अधिक हो गया है। अपने खेमे के कवि या साहित्यकार को उछालकर आसमान में बिठा देने तथा विरोधी पक्ष के कलाकार की कला के सहज सौन्दर्य का अवमूल्यन की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है। ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। निराला और पन्त पर डा० रामविलास शर्मा की सापेक्षिक दृष्टि, पन्त जी पर कुछ छींटे, पन्त जी का जवाब, निराला के जीवन एवं व्यक्तित्व के कुछ धूमिल पक्षों का पन्त जी द्वारा उद्घाटन—समीक्षा-क्षेत्र में व्याप्त रागद्वेष का अधुनातम नमूना है। 'नव-लेखन' का समीक्षक अपने कवियों को अनुभूति के प्रति ईमानदार, सृजन की पीड़ा से आत्मोपलब्धि प्राप्त करने वाला कहता है, पर दूसरे खेमे के, अथवा, अतीत के महाकवियों में इन गुणों के दर्शन नहीं कर पाता है।

ऊपर के विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी समीक्षा की वर्तमान अवस्था अत्यन्त निराशापूर्ण है अथवा इसका भविष्य अन्धकारमय है। जहां पर हिन्दी में इन प्रवृत्तियों के व्यावहारिक रूप एक दूसरे के अवरोधक हैं वहां पर इनके सिद्धान्तों

में पारस्परिक सम्बन्ध की क्षमता भी स्पष्ट है। इनके सिद्धान्तों में थोड़ा मूलभूत विरोध अवश्य है, पर इन सबमें काव्य के सत्य हैं। विरोध का वास्तविक कारण तो आंशिक सत्य को पूर्ण मान लेने के आग्रह में है। हिन्दी में इन सभी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा भी स्पष्ट और प्रबल हो रही है, इसलिए भविष्य आशापूर्ण है। आज के प्रमुख आलोचक इस स्थिति के प्रति सजग भी हैं। वे इस समन्वय की आवश्यकता को अनुभव भी करने लगे हैं। उनमें से बहुत से समन्वय का आधार खोजने तथा उसकी रूपरेखा तैयार करने में प्रयत्नशील भी हैं। पर अभी तक विभिन्न पद्धतियों के तत्वों का समाहार ही हो पाया है, समन्वयवादी संकलन का अभी अभाव है। समन्वय के लिए एक प्रौढ़ साहित्य-दर्शन को आधार मान लेना आवश्यक है। यह आधार भारतीय ही हो सकता है। शुक्ल जी ने जो सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है, उसके विकसित रूप में यह क्षमता स्पष्ट है। रसों की ओर ध्यान आकृष्ट भी हुआ, पर एक वर्ग रस की आधुनिक परिवेश में उपादेयता बहुत सीमित ही मानता है पर पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्वों का समन्वयवादी अध्ययन उसी आधार पर सम्भव है। सौष्ठववादी समीक्षक ने उसी को व्यापक रूप में ग्रहण करके समीक्षा का एक व्यापक मानदण्ड एवं शैली उपस्थित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था। उसी के विकास की आवश्यकता है। हिन्दी में प्राचीन भारतीय रस और ध्वनि के सिद्धान्त, शुक्ल जी के शील विकास, लोकमंगल, सौष्ठववाद के सौन्दर्य और मंगल के समन्वय, प्रगतिवाद के सामूहिक प्रगति, मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के कलाकार की अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति एवं सर्जनात्मकता के सिद्धांतों के समन्वित रूप की अपेक्षा है। यह समन्वय किसी ठोस आधार अथवा मूलभूत सिद्धान्त को अपनाकर उसी के औचित्य में सिद्धांतों एवं उनके अंशों तथा स्वरूपों के संग्रह और त्याग के विवेक से ही सम्भव है। हिन्दी को अभी यह ठोस आधार बनाना है और विवेक बुद्धि जगानी है। यह क्षमता केवल रस में ही है। उसके वास्तविक स्वरूप को समझने पर उसका व्यापक एवं सार्वभौम रूप स्पष्ट हो जाता है।

समीक्षक को यह देखना है कि आलोच्य कवि समसामयिक जीवन की समस्याओं को कितनी गहराई और ईमानदारी से समझ पाया है, उसने सामयिक मूल्यों के साथ ही सार्वकालिक मानवीय मूल्य कितने दिये हैं और उन सब में वह रस संवेदना कितनी जगा पाया है। तभी उसकी सर्जनशीलता एवं प्रभावोत्पादकता का मूल्यांकन संभव है। इसके लिए समीक्षक में जीवन की जितनी परख, सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता, निष्पक्ष सहृदयता की अपेक्षा है—हिन्दी में ऐसे उच्चस्तरीय समीक्षक का अभी अभाव ही है। हिन्दी में उपन्यास, नाटक आदि विधाओं की समीक्षायें भी आजकल खूब हो रही

हैं, पर अभी उनमें, दृष्टिकोण और शैली में, अपेक्षित प्रौढ़ता की कमी है। प्रतिपाद्य विषय का विधा के साथ संबंध, विधा की सफलता तथा उसका स्तर—ऐसे प्रश्नों पर गम्भीर विचार करने वाली समीक्षाओं का अभाव है। नाटक या उपन्यास बन पाया या नहीं, किस कोटि का बना? ये प्रश्न उपेक्षित हैं। साहित्य की रचनात्मक व्याख्या के साथ ही आलोचक को यह भी आंकना है कि कवि कितने उच्च और उदार जीवन की कल्पना उपस्थित करता है, उसमें मानव के चिरन्तन कल्याण की कितनी प्रेरणा है, वह व्यक्ति की बुद्धि और हृदय का कितना प्रसार कर सकता है—आदि-आदि। साहित्य समीक्षा में ऐसे अनेक महत्व-पूर्ण पक्षों एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से आलोचना का विकास होना चाहिए। साहित्य अपनी सामयिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही नहीं है अपितु वह अपनी इस सृष्टि के साधन से महान् एवं चिरन्तन जीवन की प्रेरणा भी प्रदान कर सकता है। वह अपनी जीवन-कल्पना से सामयिक परिस्थितियों को भी प्रभावित करता है तथा मानव के समक्ष जीवन का चिरन्तन स्वरूप भी उपस्थित करता है। उसमें सामूहिक चेतना के साथ ही व्यक्ति के विकास की क्षमता है। यह सब उसे रस संवेदना द्वारा करना है। ऐसे व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने से ही वर्तमान समीक्षा की सभी पद्धतियों और शैलियों में पूर्ण सामञ्जस्य हो सकता है। इन सिद्धान्तों में आपाततः ही विरोध है, परमार्थिक नहीं। पाश्चात्य पद्धतियां तथा शैलियां, भारतीय साहित्य-शास्त्र के व्यापक उपयोग एवं मौलिक विश्लेषण द्वारा एक सार्वभौम मान उपस्थित किया जा सकता है। यही आधुनिक प्रतिनिधि भारतीय साहित्य-दर्शन होगा और रस सिद्धान्त के नवीनीकरण से ही यह संभव है। भारत की राष्ट्रभाषा होने के कारण हिन्दी पर ही इसके निर्माण का सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

इस प्रतीयमान विरोध का एक स्वस्थ प्रभाव भी पड़ा है। हिन्दी के आलोचक में तटस्थ, पक्षपात-शून्य एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर समीक्षा के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की आकांक्षा जाग्रत हो रही है। उसे भारत का महान् साहित्य-दर्शन पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के उपयोग की सामर्थ्य और स्वतन्त्रता भी। उसका ध्यान इन दोनों की ओर अग्रसर हुआ है। यह अपने सैद्धान्तिक रस-विवेचन में इनका उपयोग कर रहा है। आज हिन्दी में आस्वाद की दृष्टि से रस ही काव्य का परम लक्ष्य माना जाता है। हिन्दी का समीक्षक काव्य के प्रभाव-पक्ष में पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाता रहा है। वह काव्य पर जीवन की उपादेयता की दृष्टि से विचार करने लगा है। यही समन्वय है। शुक्ल जी ने रस के प्रभाव-पक्ष का भी उद्घाटन किया है। उनका शील-विकास का सिद्धान्त वही है। रस पर मौलिक दृष्टि से विचार करने पर रस की व्यापकता स्पष्ट हो जाती

हैं। उसमें काव्य के प्रभाव और आस्वाद—दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय है। रस के आधार पर काव्य की वैयक्तिक और सामूहिक—दोनों प्रकार की उपादेयता के सिद्धान्तों का निर्माण हो सकता है। रस का व्यापक स्वरूप ग्रहण करने से वह काव्य के आस्वाद एवं प्रभाव—दोनों का सफल मापदण्ड बन सकता है। शुक्ल जी तथा कतिपय अन्य समीक्षकों ने इस सम्भावना की ओर संकेत किया है। हिन्दी को इसे आगे बढ़ाना है। हिन्दी रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त आत्माभिव्यंजन, शील विकास जीवन की सामूहिक, चेतना, सांस्कृतिक विकास की प्रेरणा, संस्कृतिबोध, व्यक्ति और समाज को नवीन चिन्तन धारा प्रदान करना, मौलिक चिन्तन की प्रेरणा देना आदि काव्य प्रयोजनों को मान चुकी है। इससे प्रगति स्पष्ट है, पर अभी इसमें सिद्धातों के व्यापक प्रयोग का अभाव है। समीक्षक इनके समन्वित रूप के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन नहीं करता। रस-सिद्धान्त में इन सबके काव्योपयोगी रूप का निवास करने तथा इनमें पारस्पारिक समन्वय स्थापित करके एक व्यापक समीक्षा-दर्शन के विकास की शक्ति अन्तर्हित है। आज का हिन्दी का समीक्षक काव्य के बुद्धि-तत्व की व्याख्या भर करता है। उसे भी वह ललित साहित्य एवं काव्य के परिप्रेक्ष में रख कर नहीं देखता। काव्य में बुद्धितत्व भी रस रूप होकर ही ग्राह्य बनता है। इससे रूप में उसकी व्याख्या होनी चाहिए। अभी हिन्दी-समीक्षा काव्य को काव्येतर दृष्टियों से अधिक आंकती है। काव्य को जीवन की सापेक्षता में देखते हुए भी काव्य-दृष्टि ओझल नहीं होनी चाहिए। भक्ति, ज्ञान आदि की तरह काव्य का भी एक जीवन-दर्शन है, एक जीवन पद्धति है। इस व्यापक दृष्टि से साहित्य पर विवेचन अपेक्षित है। समीक्षक को साहित्य और जीवन—दोनों का व्याख्याता बनना है। आज का आलोचक साहित्यकार को महान् साहित्य-सृजन की महती प्रेरणा नहीं दे पा रहा है। हाँ, ऐसे चिन्ह अवश्य हैं कि हम एक महान् साहित्य-दर्शन के निर्माण के लिए व्याकुल हैं। भविष्य में इसका व्यावहारिक रूप स्पष्ट होगा। विकास के ये स्वस्थ चिन्ह हैं। महान् जीवन-दर्शन पर साहित्य की महत्ता अधिष्ठित है, और महान् साहित्य-दर्शन पर प्रौढ़ समालोचना की। हिन्दी को इसी के लिए प्रयत्न करना है।